प्रकाशकीय

'लोकजीवन' का प्रथम संस्करण आज से लगभग बारह वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था और कुछ ही दिनों में उसकी प्रतियाँ समाप्त होगई थीं। मांग होने के बावजूद हम कई कारणों से उसका नया संस्करण शीघ्र नहीं निकाल सके। हमें खेद है कि पाठकों को इतने समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

पिछले बारह वर्षों में यद्यपि भारत के इतिहास में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं, देश ने आजादी हासिल करली है, यद्यपि हमारे लोक-जीवन की समस्याएँ अधिकांशतः ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं। इस दृष्टि से इस पुस्तक का आज भी उतना ही महत्व है और जब तक समस्याएँ मौजूद रहेंगी, आगे भी बना रहेगा।

—मंत्री

विनय

प्रबोधिनी अकादशी के दिन देव निद्रा छोड़कर अुठते हैं। ग़रीबों क देव भी अब जागृत हुआ है और हज़ारों बरस के बाद जनता भी गाँवों वे प्रति अपना क्या धर्म है अिसे सोचने लगी है। स्वराज्य की उपासना और स्वातंत्र्य का ध्यान करते-करते देशसेवकों को यह साक्षात्कार हुआ कि भारत की सच्ची शक्ति गाँवों में रहनेवाले हिन्दुस्तान के करोड़ों ग़रीबों और अुनकी लाखों बरस की मंजी हुआी संस्कृति के अन्दर है। अब गाँवों का कीर्तन करने लगे हैं। गाँवों की सेवा तो अभी शुरू नहीं हुआी है, किन्तु अुसके माहात्म्य की ओर नज़र तो अवश्य गअी है।

सत्याग्रह के आन्दोलन के दिनों में जो लोग जेल में गये अुनको अध्ययन-मनन का अच्छा मौक़ा मिला। बहुत से लोगों ने अिन दिनों में जेल के अन्दर नअी भाषायें सीख लीं, आत्म-चरित्र लिखे, यूरोपीय समाजवाद और साम्यवाद का साहित्य पढ़ा और अपने दिल के असंतोष की नअी मीमांसा भी की। जिन लोगों को आपस में चर्चा करने का मौक़ा मिला, अुन्होंने भिन्न-भिन्न विषयों की चर्चा और कार्य की योजना का निश्चय करने में जेल-जीवन से लाभ उठाया।

जब मैं बेलगाँव के हिंडलगा जेल में (सन् १९३२) था तब श्री पुण्डलीकजी मुझसे अनेक विषयों पर प्रश्न पूछते थे और अुसके जवाब मेरे पास से लिख लेते थे। खास करके गाँवों का जीवन, वहाँ के सवाल, अुसकी मीमांसा और ग्रामोद्धार की योजनायें, इसी पर हम बातें करते थे। अेक दिन मैंने कहा कि 'किसी भी समाज को जब बुढ़ापा आजाता है अथवा अुसमें यौवन का स्फुरण होता है, अुसका कारण अुसकी धार्मिक श्रद्धा ही है। केवल मानने के लिअे लोग जिस धर्म-सिद्धान्त को मानते हैं अुससे मेरा मतलब नहीं था। जीवन को प्रेरणा देनेवाली, उसे

सुधारने या बिगाड़ने वाली, जो जीवित श्रद्धा लोगों के जीवन में प्रकट होती हैं अथवा पकड़ी जाती है वही अुस समाज का असली, अमली धर्म है। अिस धर्म में जब दोष आजाते हैं तब समाज मरीज बुड्ढा हो जाता है—क्षीण होकर नामशेष भी हो जाता है। और जब उसकी श्रद्धा में परिवर्तन हो जाता है तब वही प्राणदायी श्रद्धा सामाजिक जीवन में नया चैतन्य पैदा करती है और वह समाज यौवन और पराक्रम से उभरने लगता है।

अिस विषय में मुझे कुछ विस्तार करना पड़ा और समाज का वार्धक्य दूर करने के लिअे कायाकल्प करनेवाले धर्म विचार कौनसे हैं वह बताने पड़े। अिसी चर्चा से अिस लेखमाला का प्रारम्भ होता है। लेकिन वहाँ का अेक भी विवेचन संपूर्ण नहीं है। यहाँ जो भी कुछ है वह दिशासूचक है अिस आशा से, और अिस अपूर्ण जीवन में प्रस्तुत लेखमाला का पूर्ण होना संभव नहीं है अिस भय से, अिस माला को जैसे का वैसा ही प्रकाशित कर देने का निश्चय किया। हमारे सामाजिक जीवन में, हमारे अनेक सामाजिक और धार्मिक विचारों में, परिवर्तन हो रहा है। नदी के मंद प्रवाह में हरी काअी (सिवार) जम जाती है, परंतु उस प्रवाह के वेगवान होते ही पानी अपने आप स्वच्छ होजाता है। यही समाज-जीवन के बारे में भी है। नदी दो किनारों की मर्यादा में बहती है अिसी कारण अुसका प्रवाह बना रहता है। सामाजिक जीवन सत्य और अहिंसा की मर्यादा में स्वतंत्र रूप से जब बहने लगे तब वह भी संस्कारी, वेगवान, अमोघ-वीर्य और कल्याणकारी होजायगा।

अिस पुस्तक में जो विचार किया गया है अुसमें ग्रामोद्धार की कोई बनी-बनाअी योजना पाठक नहीं पायेंगे। अिसमें केवल ग्रामसेवा और ग्रामोद्धार के कार्य का चिंतन और अुसकी बुनियाद में जो तत्त्वज्ञान है अुसका दिग्दर्शन ही यहाँ पर किया गया है।

मूल ग्रन्थ में जहाँतक हो सका मैंने विस्तार करना पसन्द नहीं

किया है। गाँवों में रहनेवाले संस्कारी और विचारवान सेवकों को आर्थिक कठिनाअियों में दिन व्यतीत करने पड़ते हैं। अुनको मनन करने के लिअे अगर थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक मसाला दिया जाय तो वे अपनी बुद्धि, अपना अनुभव और अपनी श्रद्धा के अनुसार हरेक विचार की काफ़ी शाखा-प्रशाखायें पैदा कर सकते हैं। अैसे लोगों के लिअे कम-से-कम खर्चे में और थोड़ी-से-थोड़ी जगह में अधिकाधिक बातें पहुँचाने के लिअे हरेक विचार का जैसा हो सके संक्षेप ही यहाँ किया है। विचारवान लोकसेवकों को अिसमें दुरूह जैसा कुछ नहीं है।

मूलग्रन्थ मराठी में लिखा गया था और वह भी बातचीत की टिप्पणी के तौर पर। अुसी का गुजराती अनुवाद 'लोकजीवन' के नाम से नवजीवन प्रकाशन मंदिर' ने छाप दिया था। विवेचन खास करके महाराष्ट्र और गुजरात के ग्रामीण जीवन को ध्यान में रखकर किया गया है। किन्तु भिन्न जाति, भिन्न धर्म और भिन्न भाषा वाले अिस देश की संस्कृति और भवितव्यता प्रधानतया अेकसी है, अिसलिअे मेरा विश्वास है कि यह विवेचन भारत के सभी प्रान्तों के लिअे अुपयुक्त है। कम-से-कम हरेक स्थान के कार्यकर्ता में अेक विशेष ढंग की विचार-जागृति यह अवश्य करेगा अैसी आशा है।

यहां जो धर्म-विचार बताया गया है, वह हमारी धार्मिक परिपाटी का अनुसरण करके ही किया गया है, ऐसा मेरा विश्वास है। और इसी आस्था के अनुसार अुसपर विचार करने के लिअे पाठकों से विनय है।

अेक बात स्पष्ट करनी अत्यन्त आवश्यक होगअी है। धर्म के नाम पर समाज में अितनी कुरीतियाँ, जरठ रूढ़ियाँ, जड़ता, पाखण्ड और दम्भ चल रहे हैं कि कअी लोग धर्म का नाम तक सुनना नहीं चाहते। धर्म के नाम पर भिन्न-भिन्न जातियाँ और जमातें आपस में लड़ती रहती हैं और राष्ट्रीय प्रगति में बाधा डालती हैं, यह सब देखकर भी कअी लोग धर्म के नाम से अूब आये हैं।

'स्वर्ग नरक के और पुनर्जन्म-परलोक के ढकोसले के सहारे मतलबी ब्राह्मण, साधु और संन्यासी सामान्य जनता को अज्ञान में रखकर उसे लूटने का रास्ता निकालते हैं। ऐसे धर्म के साथ राष्ट्रोद्धार की बातें जोड़ देना कहाँ तक ठीक है?' ऐसा पूछनेवालों की संख्या भी कम नहीं है।

हमें यहाँ इतना ही कहना है कि हमारे इस विवेचन में धर्म के मानी हैं जीवनशास्त्र और जीवनकला।

व्यक्तियों के लिए जीवन थोड़े दिनों की चीज़ है। किन्तु सनातन समाज के लिए जीवन व्यापक गंभीर और उत्कट चीज़ है। समाज के सर्वांगीण और सम्पूर्ण विकास के लिए जो जीवनशास्त्र बनाया जाता है और जीवनकला की साधना बताई जाती है वही धर्म है। जिस निष्ठा के अनुसार कोई समाज चलता है वही उसका धर्म है। ग्रामोद्धार की बातें करने के पहले हमें हमारी जीवन-निष्ठा पहले तय कर लेनी चाहिए। लोगों की धार्मिक मान्यतायें देखकर इष्ट दिशा में उनका संशोधन करके ही हम यह काम कर सकते हैं।

प्रबोधिनी एकादशी,
१९९५ : वर्धा

—काका कालेलकर

विषय-सूची

परिशिष्ट

जी व न

०

धर्मसंस्करण

—१—

मानव-जीवन का सब दृष्टियों से विचार करनेवाला अगर कोई है तो वह धर्म ही है। जीवन का स्थायी या अस्थायी एक भी अंग ऐसा नहीं है जिसका विचार धर्म का कर्त्तव्य न हो।

इसलिये धर्म मनुष्य के सनातन जीवन-जितना ही या उससे भी अधिक व्यापक होना चाहिये और चूँकि समस्त जीवन उसका क्षेत्र है इसलिये वह अत्यंत उत्कट रूप में तथा परमार्थतया जीवित होना चाहिये।

आज संसार में जो मशहूर धर्म हैं वे सब ज्यादातर ऐसे ही व्यापक धर्म हैं। अपनी स्थापना के वक्त तो वे सब जीवित थे ही, लेकिन समय-समय पर धार्मिक पुरुषों ने भी उनके चैतन्य को बार-बार जाग्रत करके उन्हें जीवित रखा है। जिस तरह अँगीठी की आग स्वभाव से ही बार-बार धीमी पड़ जाती है और इसलिये बार-बार कोयला डालकर एवं फूँक मार के उसका संस्करण करना पड़ता है, उसे जाग्रत रखना पड़ता है, उसी तरह समाज में धर्म-तेज को जाग्रत रखने के लिये धर्मपरायण समाज-पुरुषों को उसे फूँकने और उसमें पोषण यानी ईंधन डालने का काम करना पड़ता है। अगर यह काम समय-समय पर न होता रहा तो धर्म-जीवन क्षीण तथा विकृत हो जाता है और धर्म का क्षीण एवं विकृत स्वरूप अधर्म-जितना ही नुक़सानदेह होता है। धर्म को जीवित तथा प्रज्ज्वलित रखने का काम धर्मैकपरायण व्यक्ति ही कर सकते हैं। यह शक्ति न तो धर्मग्रंथों में है, न धार्मिक रीति-रिवाजों या संस्कारों

में है, न धार्मिक संस्थाओं में है और न धर्म को आश्रय देने वाली राज्यव्यवस्था में ही है। शास्त्र ग्रंथ, संस्कार, रीति-रिवाज और अिसी तरह धार्मिक अेवं राजनैतिक संस्थायें धार्मिक जीवन के लिये थोड़े-बहुत परिमाण में अुपयोगी हैं, धार्मिक वायुमंडल को स्थिर करने में अुनकी सेवा बहुमूल्य भी है, लेकिन असली शक्ति तो धर्मप्राण ॠषियों, सन्तों और महात्माओं की ही है। धर्म का आखिरी आधार मनुष्य-हृदय है। अुपनिषद में जो यह कहा है कि 'धर्मशास्त्रं महर्षीणां अन्तःकरण संभृतम्' वह बिलकुल यथार्थ है।

धर्म-जिज्ञासा और धर्म-विचार तो मनुष्य का स्वभाव ही है। और अिसलिये सर्वकाल तथा सर्वदेशों में अुन्नति की कक्षा के अनुसार मनुष्य-हृदय में धर्म का आविर्भाव होता ही आया है। यह हृदय-धर्म चाहे जितना कलुषित और मलिन हो तो भी मूल वस्तु शुद्ध ही है। अशुद्ध सुवर्ण पीतल नहीं होता और पीतल चाहे जितना शुद्ध, चमकदार और सुन्दर हो तो भी वह सोना नहीं हो जाता। केवल बुद्धि के बल पर खड़ा किया गया, लोगों में रहनेवाले रागद्वेष का लाभ अुठाकर जारी किया हुआ और थोड़े या बहुत ताक़तवर लोगों के स्वार्थ को पोषण देने वाला 'धर्म' धर्म नहीं है। संस्कार-हीन हृदय की क्षुद्र वासना और दम्भ में से पैदा होने वाली विकृति को ढँकने वाला शिष्टाचार या चतुराअीपूर्वक तर्क से किया हुआ अुसका समर्थन भी धर्म नहीं है। अज्ञान अर्थात् अल्पज्ञान, भोलापन और अन्धश्रद्धा, अिन तीन दोषों से कलुषित हुआ धर्म अधर्म की श्रेणी को पहुँच जाय तो वह अलग बात है; और जो वास्तव में ही धर्म नहीं है मगर केवल अपनी चालाकी से धर्म का रूप धारण कर लेता है तो वह बिलकुल अलग बात है। मनुष्य समाज अितना परिणत हो गया है कि मानव-अितिहास में धर्म के ये दोनों प्रकार पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। लेकिन अिन दोनों वस्तुओं का पृथक्करण करके अुनका यथार्थ स्वरूप पहचानने की तकलीफ़ मनुष्य ने अभी तक नहीं की है।

हृदय-धर्म जब बुद्धि-प्रधान लोगों में अपना काम शुरू करता है, शिष्ट-मान्य बनता है, और जब असे अुसका संस्थीभवन होता है, तब शास्त्र बनते हैं, शास्त्रों का अर्थ लगाने वाली मीमांसा अुत्पन्न होती है और अन्तिम निर्णय देने वाले शास्त्रों का अेक वर्ग खड़ा होता है या अधिकारारूढ़ व्यक्तियों को स्वीकृत किया जाता है।

धर्म का शास्त्र में गुँथना और संस्था में बँधना बुद्धि-प्रधान तथा व्यवहार-कुशल लोगों के हाथों में होने के कारण, धर्म की स्वाभाविक भविष्योन्मुख दृष्टि क्षीण हो जाती है और अुस पर भूतकाल की ही तहें चढ़ जाती हैं। यह अलग से बताने की जरूरत नहीं है कि भूतकाल में अग्नि की बनिस्बत राख अधिक होने के कारण धर्म-तेज का दम घुटने लगता है, और अिसी वजह से प्रत्येक धर्म को संस्करण की जरूरत रहती है।

सन्त तुकाराम जब बाज़ार जाते तब अुनकी सज्जनता से लाभ अुठाने के हेतु बहुत से लोग अपनी-अपनी तेल की नलियाँ अुन्हें दे देते और वे भी सन्तोष-पूर्वक अुन नलियों की भारी माला गले में डालकर सौंपा हुआ काम नियमित रूप से करते। जनस्वभाव ही अैसा है। मुफ़्तखोर या ग़ैरज़िम्मेदार लोगों का समाज जब यह देखता है कि बालक अथवा बड़े आदमी किसी अेक व्यक्ति की चुपचाप सुन लेते हैं तब अुसी व्यक्ति के ज़रिये समझाने-बुझाने का काम करवा लेने को वह तैयार हो जाता है। कोअी जहाज नियमित रूप से और तेजी के साथ निश्चित मुक़ाम को पहुँचता मालूम पड़े तो जब तक अुसका वेग क्षीण न हो जाय और वह डूबने न लगे तब तक अुसी में अपना माल भरने का आग्रह लोगों में दिखाअी देता है। अिसी तरह धर्म की सार्वभौम शक्ति देखकर हरेक लालची व्यक्ति ने अपनी लालच का कार्य किसी-न-किसी रूप में अुसी के द्वारा साधा है और अिस कारण भी धर्म का तेज बार-बार क्षीण होता रहता है।

कोअी चलती दूकान अपनी प्रसिद्धि तथा अुन्नति को कायम रखने

ओर बढ़ाने के हेतु पुराने और निकम्मे होने वाले माल को जिस तरह वारवार निकाल डालती है और पड़े रहने से खराब हुओ अच्छे माल को झाड़-झूड़ कर साफ करती है, अुसी तरह धर्म को भी वारवार अपना संस्करण करना चाहिये। लेकिन यह संस्करण अैसे कुशल, धर्मज्ञ समाज-सेवकों के ही हाथों होना चाहिये जिनमें खरे सोने को परखने और सम्हाल कर रखने की सामर्थ्य हो। दुनिया में बढ़ी हुअी अधिकांश प्रचलित नास्तिकता का कारण धर्म-संस्करण का अभाव ही है।

—२—

कोअी भी समाज दो कारणों से वृद्ध या क्षीणवीर्य होता है :—
(१) विलासिता और (२) धार्मिक जड़ता।

समाज के विलासी होने पर चाहे जितनी साधन-सम्पत्ति भी अुसके लिये पर्याप्त नहीं होती; पुरुषार्थ अपने आप कम होता है, अिसमें क्या है,—अुसमें क्या है, किसी में कुछ भी नहीं है, अिस तरह की अकर्मण्यता और अेक तरह की अूँघने की-सी हालत अुसकी हो जाती है। फिर नये-नये अनुभव लेने के बदले पुराने के प्रति कृत्रिम आदर और आग्रह बढ़ाकर अुसे ढाल की तरह आगे किया जाता है।

दूसरी ओर मनुष्य में जब बौद्धिक जागृति मन्द हो जाती है, प्रयोग करने के बजाय प्रामाण्य पर ही अधिक भार देने की वृत्ति बढ़ती है, तब समाज में अेक प्रकार की धार्मिक जड़ता अुत्पन्न होती है। यह धार्मिक जड़ता देखने में तो धर्माभिमान-जैसी ही मालूम पड़ती है, परन्तु वस्तुतः वह अेक प्रकार की नास्तिकता ही है। अैसा अनुभव नहीं है कि अभिमान और आग्रह के मूल में सच्चा आदर-भाव या सच्ची श्रद्धा होती ही है।

आज हिन्दुस्तान में ग्रामीण समाज की असाधारण दुर्दशा है। शहरों से विदेशी माल और अैश-आराम की चीजें तो गाँवों में पहुँचती हैं, लेकिन अुद्योग-धन्धे नहीं पहुँचते। शहरी फिजूलखर्चा, कुसंस्कार

और दूसरे समाज-विघातक दुर्गुण देहातों में तेजी के साथ फैलने लगे हैं। लेकिन शहरों में जो धार्मिक विचारों की जागृति, राजनैतिक प्रगति और समाज-सुधार थोड़े-बहुत अंशों में दिखाओ पड़ते हैं अुनका प्रकाश गाँवों में बहुत थोड़े परिमाण में पहुँचता है। जिस हिन्दू धर्म और आर्य तत्त्वज्ञान से हम आज जगत् को चकाचौंध कर देते हैं वह धर्म और तत्त्वज्ञान जिस रूप में आज के ग्राम-समाज में प्रचलित है अुसे देखने पर 'नेदं यदिदमुपासते' ही कहना पड़ेगा। देश-देशान्तरों में हमारे जिस धर्म की तारीफ़ होती है और गाँवों में जिस धर्म का पालन होता है वे दोनों अेक नहीं रहे हैं। गाँवों में अभी कल तक वास्तविक धर्मनिष्ठा, पवित्र आस्तिकता और अुच्च चारित्र्य-सम्पत्ति थी; आज भी अुसके अवशेष तो दिखाओ पड़ते हैं, परन्तु अबुद्धि, जड़ता और नास्तिकता का ही साम्राज्य वहाँ सार्वत्रिक होने लगा है। अिस वजह से शहरों की अपेक्षा गाँवों के समाज में बुढ़ापा ज्यादा दिखाओ पड़ता है। गाँवों में अज्ञान है, अनारोग्य है और गरीबी है। अिन तीनों को दूर न किया तो गाँवों का समाज अब हरगिज टिकनेवाला नहीं है। परन्तु ज्ञान, आरोग्य और अुद्योग को लोगों पर बाहर से कितना लादा जा सकता है? बाहर से लादने के अुपायों की तो अेक स्वाभाविक सीमा है। अिस तारक-त्रिपुटी को तो लोगों को स्वेच्छापूर्वक ही स्वीकार करना चाहिये और अिसे स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करने के लिये पहले समाज का बुढ़ापा मिटना चाहिये। समाज में अुत्साह और अुत्थान आना चाहिये। धर्म-संस्करण के बगैर अैसा नहीं हो सकता। अिसलिये दूसरी सब बातें करने से पहले गाँवों में धर्म-संस्करण का यथोचित प्रयत्न होना चाहिये।

गाँवों में जिसे धर्म माना जाता है अुसमें भय, रिश्वत, दैववाद और जन्तर-मन्तर की किस्म का कर्मकांड ही मुख्य होता है—फिर वह धर्म हिन्दुओं का हो, मुसलमानों का हो, या अीसाअियों का हो। गाँव वालों को अपनी कमजोरी, अज्ञान, भोलेपन और अनाथ स्थिति का

अनुभव अैसा कड़ुवा होता है कि वे स्वाभाविक रूप से शक्ति-अुपासक ही बनते हैं—फिर वे चाहे जैन हों, चाहे लिंगायत। अिस अज्ञानमूलक शक्ति-पूजा से ही जादू-टोने और जन्तर-मन्तर पर आस्था जमती है और जादू-टोने को धर्म की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। सामान्य जनता तो बलवान की आराधना या खरीदी हुअी रखवाली को ही धर्म समझती है। वास्तव में धर्म के द्वारा तो मांगल्य पर की अपनी श्रद्धा को बढ़ाना होता है, चारित्र्य की तेजस्विता को स्वाभाविक बनाना होता है, अैहिक अनुभव में पग-पग पर जो विषाद प्राप्त होता है अुसे दूर करने वाला दैवी आश्वासन प्राप्त करना होता है, जीवनान्तर्गत प्रत्येक तत्त्व का नअी दृष्टि से नया ही मूल्य लगाना होता है, और सफलता अेवं निष्फलता की कल्पनाओं को ही बदल कर अिस भौतिक जगत् में आध्यात्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त करना होता है।

तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से यह दृष्टयन्तर बहुत कठिन मालूम पड़ता है। परन्तु जब हृदय के साथ हृदय बात करने लगता है तब अुन्नत भूमिका का आमंत्रण वहाँ आरपार पहुँच जाता है, और अेक बार हृदय में परिवर्त्तन हो जाने के बाद वह किसी भी हालत में पीछे नहीं हट सकता। यह आमंत्रण देनेवाले व्यक्ति के हृदय में किसी के प्रति हीनता का भाव नहीं होना चाहिये। अुसकी तो यह अमर आस्तिकता या श्रद्धा होनी चाहिये कि हमारा आमंत्रण अमोघ है। अिसी प्रकार मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम और आदर होना चाहिये।

धर्म-ज्ञान देते या लेते हुअे अुसे ग्रहण करने वाले के अधिकार के बारे में आज तक बेशुमार चर्चा हुअी है। अब धर्मज्ञान देनेवाले के अधिकार की अूहापोह करने के दिन आये हैं। जिनमें अूपर बतायी हुअी आस्तिकता हो अुन्हीं को धर्मबोध और धर्म-संस्करण का काम अपने अूपर लेना चाहिये।

धर्मान्धता के रूप में गाँवों में आज कितनी नास्तिकता फैली हुअी है, अिसका पूरी तरह खयाल आने पर मन को चोट ही पहुँचती है।

प्रत्येक धर्म में खूब काव्य भरा हुआ है। असल में देखा जाय तो धर्मज्ञान का वाहन दलील या युक्ति और तर्क नहीं बल्कि काव्य है, और अिसलिये काव्य-विहीन धर्म हो ही नहीं सकता। लेकिन जहाँ-जहाँ समाज में अज्ञान और जड़ता का साम्राज्य होता है वहाँ धार्मिक काव्य के शब्दार्थ को ही सच माना जाता है, और अपने अज्ञान की वजह से जहाँ न हो वहाँ भी गूढ़ता और जादू का आरोप किया जाता है। अैसी वृत्ति से अधिक धर्म-विघातक वृत्ति और भी कोअी होगी या नहीं अिसमें शक ही है। अिसके विपरीत धर्मान्धता से गुस्से में आये हुअे लोग अैसे समय धर्म में समाविष्ट काव्य को निकाल डालने का निरर्थक और निष्फल प्रयत्न करते हैं। वास्तविक अुपाय तो यह है कि लोगों की बुद्धि को तीव्र करके और अुनमें रहनेवाली काव्य-रसिकता को ज्ञानयुक्त करके काव्य को बढ़ाया जाय। लोगों की काव्य-शक्ति बढ़ने पर वे धर्म को आसानी से समझ सकेंगे और मज़हबी वहमों को भी पहचान सकेंगे।

परन्तु यह सब साधने के लिये जानकार लोगों को गाँव वालों के श्रमपूत तथा निसर्गमधुर दैनिक जीवन में ओतप्रोत होना चाहिये। खाली बाबा-बैरागी बनने से काम नहीं चल सकता।

कोअी भी समाज युग-कल्पना की दृष्टि से पीछे रह कर नहीं चल सकता। आज का युग केवल मानवी समानता का ही युग नहीं है। स्त्री-पुरुष की और जाति-जाति की समानता को तो आज मानना ही पड़ेगा। अितना ही नहीं बल्कि सब धर्मों को भी समान दर्जा मिलना चाहिये। सभी धर्मों के प्रति अेकसा अनादर, अक सी अनास्था या अेक-से अज्ञान को भी समानता का अेक मार्ग समझा जाता है। लेकिन यह रास्ता घातक है। आज के युग में समाज में रहने वाले हर अिन्सान को खास-खास मज़हबों की आम जानकारी होनी ही चाहिये। लेकिन अैसी जानकारी प्राप्त करने और देने में तार्किक, चिकित्सक या केवल अैतिहासिक दृष्टि नहीं होनी चाहिये। प्रेम, आदर, सहानुभूति तथा जाग्रत जिज्ञासा-बुद्धि के साथ सब धर्मों का परिचय होना चाहिये। देहात

में धर्मज्ञान बहुत पिछड़ा हुआ होता है, दृष्टि संकुचित होती है और जीवन का आशय बहुत अुन्नत नहीं होता। अैसे समय विशेष प्रेम से दुनिया के जुदे-जुदे धर्मों के सत्पुरुषों तथा चारित्र्यपरायण संघों द्वारा किये जाने वाले प्रयत्नों की जानकारी करानी चाहिये। अिसमें अुद्देश्य धर्म-जागृति होना चाहिये, केवल बहुश्रुतता नहीं।

आज के समाज का अेक महान् दोष वर्ग-विग्रह है। लोगों को ओर्ष्या, द्वेष, मत्सर करने के लिये किसी ध्यानमूर्ति की जरूरत होती है। स्त्रियाँ पुरुषों से लड़ें, जवान बूढ़ों से, ग़रीब अमीरों से, हिन्दू मुसलमानों से, गोरे लोग काले तथा पीले आदमियों से—अिस तरह सब तरफ विग्रह का ही वायुमंडल है। कम-अधिक लोगों को संगठित करके अुनका नेतृत्व प्राप्त करना हो तो अुसके लिये सबकी द्वेषबुद्धि को केन्द्रित करके और अुस द्वेष के अवलम्बनार्थ अुन्हें अेक ध्यानमूर्ति देकर संशय का वातावरण खड़ा कर देना सहज अुपाय है।

यह रोग धर्म में बड़ी तेज़ी से पैठ सकता है। आजकल अिस दिशा में जोरदार प्रयत्न भी हो रहे हैं। अिस सबका परिणाम परस्पर हत्या और में अन्त में आत्महत्या ही होना है। हम जिस धर्म-संस्करण का विचार कर रहे हैं अुसमें अिस रोग से मुक्त रहने की पूरी-पूरी सावधानी रखनी चाहिये।

दूषित तत्त्वों को निकालते हुअे अितना ध्यान रखना चाहिये कि अुनकी जगह अच्छे, सात्त्विक और ठोस तत्त्व रखे जायँ। केवल शून्य या पोलापन तो भयानक होता है।

व्यवहार-कुशल लोग कहेंगे कि यह सब विवेचन है तो सुन्दर और अुद्बोधक परन्तु अिसमें योजना-जैसा कुछ नहीं दीखता।

राजसभा में कानून बनाते वक्त पहले अुसके अुद्देश्य का यथाविधि निरूपण किया जाता है, अुसके बाद ही अुसकी धाराअें बनती हैं। लेकिन व्यवहार में क़ानून की धाराअें हाथ में आते ही हेतु और उद्देश्य गौण बन अन्त में विस्मृत हो जाते हैं। समाज को अैसी क़लमबन्द या धारा-

बद्ध योजना की आदत पड़ गयी है। परन्तु अिससे जीवन यांत्रिक बनता है। भावना की जगह भला योजना से कैसे भरी जा सकती है? भावना का क्षेत्र तो शिक्षा से नवपल्लवित होता है, जब कि योजना अन्त में राज्यव्यवस्था का रूप धारण करती है। यहाँ बताया हुआ परिवर्त्तन अैसा नहीं है कि जिसके लिये किसी सत्ता के बल प्रयोग की जरूरत हो; वह तो शिक्षा तथा प्रत्यक्ष अुदाहरणों द्वारा हृदय परिवर्त्तन कराने से ही होने वाला है। अिसके लिये सार्वजनिक योजना बनाने से काम नहीं चलेगा। भावना शुद्ध, सुरक्षित अेवं जीवित रहेगी तो वह अपनी आवश्यकता के अनुसार अनेक योजनाअें अुत्पन्न करेगी और अुन्हें बदलती रहेगी।

---

[२]

देहात में दलबन्दियां

मध्वाचार्य ने दो अुँगलियाँ अुठाकर ज़ोर-ज़ोर से दुनिया पर ज़ाहिर किया है कि 'सत्यं भिदा' यानी भेद सच्ची वस्तु है। रांमदास स्वामी ने अपनी लाक्षणिक शैली में कहा है, 'भेद का निर्माण अीश्वर कर गया है, वह किसी के बाप से भी मिटाया नहीं जा सकता।' संसार में मतभेद, दृष्टिभेद, वृत्तिभेद और हितभेद तो रहने वाले ही हैं। ख़ून करके, मारपीट करके, लड़-झगड़ कर, बहस करके, चर्चा करके, सुलह करके, पैरों पड़ने से या चुपचाप बैठे रहने से ये भेद ख़त्म होने वाले नहीं हैं। तो फिर देहात में ही अिन भेदों का नाश किस तरह हो? देहात का जीवन चाहे संकुचित हो, चाहे अज्ञानमय हो, चाहे जैसा हो, फिर भी वह सपूर्ण जीवन है, वह जीवित लोगों का समाज है। वहाँ यह सब चीज़ें होंगी ही, बल्कि अिससे भी आगे बढ़कर यह कहा जा सकता है कि जीवन-समृद्धि के लिये भेद की आवश्यकता भी है। बिलकुल मामूली संगीत के लिये भी चार-पाँच सुरों की ज़रूरत रहती है, अुच्च प्रकार के संगीत के लिये बाअिस श्रुतियों की आवश्यकता होती है। जैसे-जैसे समाज बढ़ता जायगा वैसे-वैसे अुसकी प्रवृत्ति विविध होती जायगी और अनुभव-भेद, आदर्श-भेद तथा आस्था-भेद के कारण साध्य तथा साधन में भिन्नमति आयेगी ही, अतः सवाल यह नहीं है कि मतभेद किस तरह टाले जायँ; लेकिन सच्चा सवाल यह है कि मतभेद के विषय में सहिष्णुता और आदर की रक्षा करके किस तरह अेकता बनायी रखी जाय। घर में रोटी अेक ही हो और खाने वाले दो—माता तथा बालक-हों तो अिसमें शक नहीं कि दोनों के हित सम्बन्ध—स्वार्थ—परस्पर विरोधी हैं। लेकिन सिर्फ़ अुतने ही कारण से अुन दोनों में लड़ाअी नहीं छिड़ती

क्योंकि दोनों के अंदर की समझ, स्वार्थ-त्याग और प्रेम, अिन सबकी शक्ति अधिक बलवान होती है।

समाज में से झगड़ों को निकाल देने के लिये भी अिन्हीं गुणों का परिपोष करना चाहिये। गीता जी ने भी कहा है कि विभक्त में अविभक्त को पहचानने और जहाँ क्षुद्र वासनायें हों वहाँ 'अव्यय भाव' के महत्व की स्थापना करने में ही समाज का कल्याण है। मतभेद चाहे जितने हों, तो भी अुनकी खातिर अिन्सानियत को छोड़ देने की कोअी ज़रूरत नहीं है। मानवता का त्याग करने से सभी का नुक़सान होता है, किसी का भी हित नहीं होता, अितनी समझ लोगों में पैदा करनी ही चाहिये। दूसरों को अपशकुन करने के लिये अपनी नाक काटकर नकटा बनने की वृत्ति समाज में बढ़ गयी है, अुसका नाश करना चाहिये।

यह काम सरकारी न्याय-मंदिरों (अदालतों) में होने वाला नहीं है। वह तो समाज के हृदय-मन्दिर में होना चाहिये। व्यक्तियों के स्वार्थ, अीर्ष्या तथा असूया-मूलक झगड़ों से लेकर द्वैताद्वैत के सनातन विवाद तक सभी जगह मानवता और सौजन्य का तत्त्व पहुँचना चाहिये।

समाज के शिष्ट, प्रतिष्ठित, धर्मनिष्ठ और कारुणिक लोगों को चाहिये कि वे समाज-जीवन की रोज़मर्रा की घटनाओं में दिलचस्पी लेकर तथा तटस्थता से सबके हित की दृष्टि रखकर लोगों को सलाह देते रहें। अैसे काम के लिये भी अुन्हें अपनी सत्ता और प्रतिष्ठा का आग्रह नहीं रखना चाहिये। सत्ता का प्रवेश होते ही प्रेम संबंध का अस्त हो जाता है; कम से कम वह शिथिल तो ज़रूर पड़ जाता है। वकीली वृत्ति से भी यह वायुमंडल पैदा नहीं किया जा सकता। धर्म-निष्ठा और बड़ा मन ही सामाजिक एकता और सामर्थ्य की कुंजी है।

कुछ लोग कहेंगे कि यह कोरा धर्मोपदेश है, यह कोअी व्यवहार का रास्ता नहीं है। लेकिन सैकड़ों बरस से हम व्यवहार का मार्ग आज़माते आये हैं, फिर भी परिणाम का विचार करने पर वह व्यावहारिक

नहीं मालूम हुआ है। सच्चा व्यवहार्य मार्ग तो वही है जिसका ज़िक्र हमने अूपर किया है।

प्रत्येक गाँव या समाज में ग्राम-कंटक या गुंडे तो होते ही हैं। अुनका विरोध करने से वे ज्यादा भड़क अुठते हैं। साध्य-साधन के बारे में किसी तरह का विधि-निषेध तो अुनमें होता ही नहीं, अिसलिये और सामान्य लोगों में दुष्टता, भोलापन तथा डाह के चंगुल में फँसकर गधे पर सवार होने की वृत्ति आदि सबका मिश्रण बहुत बार दिखाअी देता है, अिसलिये भी अिन ग्राम-कंटकों की ठीक-ठीक चल भी जाती है। अतः सच्चा अुपाय अुनकी युक्तियों का विरोध करना नहीं किन्तु अुनकी तथा अुनके काम करने के ढंग की पोल खोल देना है।

[३]

पंचायत

ग्राम-सेवा में सबसे कठिन काम पंचायत का है। कहते हैं कि मोक्षसाधना में काम-विकार पर सबसे आखिर में विजय पानी होती है। काम को पूरी तरह जीत लेने पर मोक्ष पास आया ही समझना चाहिये। अिसी तरह सच्ची पंचायत का वायुमंडल स्थायी और समाज-व्यापी होने पर अुसी को स्वराज्य कहा जा सकता है। पंचायत क़ायम करने के काम में धीरज रखना चाहिये। अुतावली करके काम बिगाड़ना ठीक नहीं है।

जिस तरह गाँवों में औषधोपचार करते समय हम कहते हैं या हमें कहना चाहिये कि 'हम कोअी विधिवत् शिक्षा पाये हुअे वैद्य नहीं हैं। थोड़ा सा अनुभव है और अिस बात का विश्वास है कि हमारे अुपायों से कम से कम नुक़सान तो नहीं ही होगा; अिसलिये तनिक आज़माअिश करके देखते हैं। अगर आपको कोअी दूसरा क़ाबिल आदमी मिल जाय तो आप ज़रूर अुसके पास जायँ। अगर बीमारी हमारे बस या पहुँच के बाहर की होगी तो हम पहले से ही वैसा कह देंगे। आपको धोखे में नहीं रखेंगे।' अिसी तरह पंचायत का काम हाथ में लेते समय डरकर चलना चाहिये। जहाँ अीर्ष्या, द्वेष, अत्यन्त लोभ, पुरानी अदावत या सर्वनाश का प्रसंग दिखाअी दे वहाँ स्वयं हमें पंचायत की बात नहीं अुठानी चाहिये। पंचायत का काम बहुमत से चाहे जिन चार-पाँच आदमियों को नियुक्त करके अुनके द्वारा पूरा नहीं हो सकता। पंच सामाजिक पुरुष होना चाहिये। चारित्र्य से, निष्पक्ष सेवा से, धर्म-बुद्धि से अर्थात् सबके प्रति आंतरिक सहानुभूति से वह 'अल अमीन'* बना

*अैसे प्रामाणिक पुरुष को, जिसका सब लोग विश्वास करते हों, अरबी भाषा में 'अल अमीन' कहते हैं।

हुअा होना चाहिये ।

पंचायत का विचार करते समय सबसे पहले अिस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पंचायत कोई अदालत का खर्च बचाकर, अदालत में होनेवाली ढीलपोल को टालकर, अदालत का ही न्याय देने का आसान तरीका नहीं है। पंचायत अगर सिर्फ अितना ही काम करे और क़ानून देखकर सबूत का ख़याल करके अदालत के ढंग से ही अदालत का अिन्साफ़ दे दे तो भी यह कहा जा सकता है कि अुसने अुपयुक्त काम किया है। यह कोअी मामूली फ़ायदा नहीं है कि अिस तरह वक्त और खर्च की बचत होने के अलावा पहले से अपने ही पसन्द किये हुअे सज्जनों के हाथों न्याय प्राप्त करने तथा अुसे स्वीकार करने की आदत लोगों को पड़ेगी। लेकिन पंचायत का यह सच्चा अुपयोग नहीं है।

अदालत में मिलने वाला अिन्साफ़ चाहे जितना काँटे की तौल का हो तो भी बहुत बार वह अिन्सानियत का अिन्साफ़ नहीं होता; शुद्ध सामाजिक न्याय नहीं होता। अदालत का न्याय-देवता आँखों पर पट्टी बाँधकर जानबूझ कर अन्धा बनता है। झगड़ने वाले दो पक्षों में अन्त में सुलह कराने की दृष्टि क़ानून में नहीं हुआ करती। अेक हाथ की तलवार से लोगों के सहकार, प्रेम सम्बन्ध, घरेलूपन आदि का वध करके दूसरे हाथ के तराजू से जायदाद के टुकड़े करके बाँट देने का काम अदालत का न्याय-देवता करता आया है। दो पक्षों के बीच की भलाअी का नाश हो जाने के बाद यहूदी शायलौक की तरह मांस का पौंड काँटे की तौल से लेने की वृत्ति ज़ोर पकड़ेगी ही। और अुस वृत्ति को सन्तुष्ट करने के अपने अुत्तरदायित्व को अदालत के न्याय-देवता ने खास 'अपना' माना है। बहुत बार अदालतें अैसे अिन्साफ़ में मानवता को मद्दे नज़र रखकर थोड़ा-बहुत परिवर्तन ज़रूर करती हैं; लेकिन वह अपना हमेशा का मार्ग छोड़कर; न कि न्याय के आदर्श के अनुसार !

असमानता अन्यायमूलक है। समानता न्यायमूलक हो तो भी वह हीनवृत्ति में से पैदा हुअी होने की संभावना रहती है। सच्ची स्थिति

अेकता की है। जहाँ हृदय की अेकता होगी वहाँ असमानता के लिये गुंजाअिश न होगी और समानता का आग्रह भी न होगा। अूपर के वाक्य में अेक महान जीवित तत्त्व ढीली-ढाली भाषा में पेश किया गया है। अिसी तत्त्व को अच्छी तरह समझ कर पंचायत को अुस पर अमल करना चाहिये।

धन बटोरना व्यवहार में जितना ज़रूरी है अुतना ही ज़रूरी मनुष्यों का संग्रह करना भी है। पंचायत्त का यह कर्तव्य है कि अिस बात को वह पक्षांध बने हुअे लोगों के गले उतार दे। दुष्ट वृत्ति के अन्यायकारी मनुष्य का सारा जीवन अन्याय-पूर्ण या दुष्ट नहीं होता, और अगर हो तो भी अुसे बचाकर सुधारना संभव हो तो वैसा करना केवल बड़प्पन नहीं बल्कि अेक आवश्यक कर्तव्य है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अुसका जीवन-सम्बन्ध अनेक लोगों के साथ जकड़ा हुआ होता है। अपराधी को सज़ा देते समय अुसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले कअी निरपराध और दयापात्र लोगों को आफ़त में फँसना पड़ता है। सामाजिक न्याय अिसे हरगिज़ पसन्द नहीं कर सकता। हम बहुत बार कहते हैं कि 'दाँत हमारे हैं, ओंठ भी हमारे ही हैं। फिर अगर दाँत ओंटों को काटते हैं तो क्या यह ठीक होगा कि अुन्हें तोड़ दिया जाय?' हम कहते हैं, 'अगर अेक ने गाय को मारा है तो दूसरे को अुसीलिये बछड़े को नहीं मारना चाहिये। बछड़े को मारने से वैर की भावना ज़रूर तृप्त होगी, परन्तु गोवध तो अेक के बदले दो हो जायेंगे।' अेक क्रूरता का अिन्साफ करने के लिये दूसरी क्रूरता करने से अन्याय मिटता नहीं बल्कि वह दुगुना होता है। अेक आदमी ने अपने पड़ौसी के लड़के को मार डाला है, अिसलिये वह पड़ौसी या अुस पड़ौसी की ओर से सरकारी अदालत अुस आदमी के लड़के को क़त्ल कर डाले—अिस तरह की सूचना को अदालत का अिन्साफ़ भी पसन्द न करेगा। लेकिन पहले खूनी आदमी को फाँसी पर लटकाने से और अुसकी सारी जायदाद ज़ब्त कर लेने से वह खूनी तो हमेशा

के लिये छूट जाता है मगर अुसके बालबच्चे वध से भी घोर दुर्दशा का अनुभव करते हैं। पुरानी अुक्ति है कि वृत्तिच्छेद करना तो शिरच्छेद करने से भी अधिक घातक है। अिसलिये कि कोअी अन्याय न करे, अन्याय करने वाले की दुर्गति करके अुसमें सन्तोष मानना समाज के लिये अिष्ट नहीं है। अतः अैसा काम करना कि जिससे भविष्य में अन्याय आगे चालू न रहे, पुराने अन्याय के दुष्परिणाम जहाँ तक हो सके कम हो जायँ और लोगों में प्रेम, अेकता, सहयोग तथा सामाजिक वृत्तियों का विकास हो, तथा हरअेक को अपनी योग्यता के अनुसार निर्भयता के साथ अपना सिर अूँचा करने का मौक़ा मिले—यह पंचायत का सामाजिक न्याय है।

अगर समाज-सेवक अुतावली करके पंचायत का काम अपने सिर पर लेगा और अदालती ढंग का अिन्साफ़ देने लगेगा तो अुसके फ़ैसले पर अमल होना बहुत मुश्किल हो जायगा। अुसके बारे में चाहे जैसी ग़लतफ़हमियाँ पैदा होंगी; अुस हालत से ग्राम-कंटक या गुंडे फ़ायदा अुठायेंगे और पंचायत का काम तो हमेशा के लिये बिगड़ जायगा। अिसके अलावा समाज-सेवा के दूसरे काम भी ख़तरे में पड़ जायेंगे। अत्यंत कलुषित वायुमंडल के स्थान में पहले से ही पंचायत में भाग लेने से समाज-सेवकों में भी पक्षाभिमान जाग्रत होने की संभावना है। दल-बन्दी तो गाँवों का सबसे बड़ा सामाजिक दोष है, अिसलिये पक्षाभिमानी मनुष्य के हाथों सच्ची ग्राम-सेवा होना ही नामुमकिन हो जायगा। पक्षाभिमानी मनुष्य का वज़न (ज़ोर) और सामर्थ्य तो ख़ूब बढ़ जाता है, लेकिन फिर अुसके हाथों सामाजिक कल्याण नहीं होता। अुसकी स्वराज्य-वृत्ति तो नष्ट ही हो जाती है।

अिसके बजाय समाज-सेवक नम्रता के साथ आलस्य, अज्ञान, अस्वच्छता और बेकारी को दूर करने तथा सामाजिक रूढ़ियों में सुधार करने का विनम्र प्रयत्न करता रहे और अिस बात की पूरी कोशिश करे कि लोक-हृदय में आर्यवृत्ति प्रतिष्ठित होवे। अैसे प्रयास से समाज में

जो प्रेमादर अुत्पन्न होता है अुसकी मात्रा बढ़ जाने पर थोड़े से चुने हुअे लोगों के मामूली झगड़ों में वह पंच बन जाय और वह भी तभी बने जब कि अुन लोगों का बहुत आग्रह हो।

अैसा तो नहीं है कि पंचायत के फ़ैसले से दोनों या दोनों में से अेक पक्ष को सन्तोष होगा ही। अिस अुद्देश्य को मन में रखना भी संभव नहीं है। पंचायत को अितनी ही महत्वाकांक्षा रखनी चाहिये कि दोनों पक्षों का कल्याण हो, किसी का भी सर्वस्व-नाश न हो और तटस्थ समाज-बुद्धि को सन्तोष मिले। पंचायत के काम से समाज को सन्तोष होने लगता है तो समाज की आर्यवृत्ति व्यक्त होने लगती है और लोग पंचायत पद्धति की अिज्ज़त करने लगते हैं। अैसी हालत तक पहुँचने के बाद कमज़ोर और सात्विक लोग पंचायत की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होने लगते हैं और जबर्दस्त तथा रजोगुणी लोग पंचायत का विरोध करने की हिम्मत नहीं करते। यहाँ तक पहुँचने पर भी पंचायत रजोगुणी या दुर्जन लोगों को सज़ा देने का हेतु मन में न रखे। पंचायत को अैसा ही प्रयत्न करना चाहिये कि प्रत्येक हृदय में सात्विकता का अुदय हो; समाज अेक व्यापक कुटुम्ब है, अिस वृत्ति का संवर्द्धन हो। दुर्जनों को सज़ा देनी ही हो, अुन्हें सबक़ सिखाना ही हो तो अुसके लिये समाज को पंचायत के बजाय कोअी दूसरा ही रास्ता अख्तियार करना चाहिये।

—१९३२

---

[४]

सत्ता का स्वरूप

अेक पुरानी कहावत है, 'राजा बोले दल हाले, बुड्ढा बोले डाढ़ी हाले।' मनुष्य दूसरे के कहने से अगर कुछ करने को तैयार होता है तो वह कहने वाले की ताक़त या अपना फ़ायदा देखकर ही। सत्त्वहीन व्यक्ति की कोअी नहीं सुनता। अपने को यक़ीन होने पर अपनी खुशी से व्यवहार करने वाले की बात अलग है। आज्ञा का पालन अिसलिये होता है कि आज्ञा के पीछे आज्ञा भंग करने वाले के लिये डर, दहशत या धमकी रहती है या आज्ञा-पालन करने के लिए कोअी प्रलोभन होता है। आज्ञा के आधार के लिए जो चीज़ अुसके पीछे रखी जाती है अुसे अंग्रेज़ी में 'सैंक्शन' कहते हैं। बहुजन समाज के लिए शरीर-दंड, अर्थ-दंड, प्राण-दंड या अिसी तरह के किसी दूसरे दुःख का भय या पैसा अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा का लालच आदि सभी बातों का पृष्ठबल (सैंक्शन) होता है। भय और लालच दोनों हीन वृत्तियाँ हैं। अुनके आधार पर लोगों को वश में रखना अुच्च संस्कृति का लक्षण नहीं है। क़ानून तथा राजसत्ता के पास अिससे श्रेष्ठ सैंक्शन नहीं होता। और अिसीलिए मानव-हित-चिन्तकों ने राजसत्ता को 'पशुबल-आश्रित' कहा है।

धर्मप्रधान भारतीय संस्कृति में मनुष्य जीवन को संस्कार के अधीन रखकर धर्मज्ञान, धार्मिक आचार, धर्म श्रद्धा और परमार्थिक जीवनोद्देश अिन सबकी ताकत बढ़ायी गयी है। अिस कारण मनुष्य अन्तःप्रेरणा से आर्यवृत्ति धारण करता है, भय या लोभ से प्रेरित न होकर वासनाओं पर विजय प्राप्त करके निर्भय वीर की तरह स्वेच्छा से शुद्धाचरण करता है। तपस्वी, पवित्र, धर्मशील पुरुष कायक्लेश से नहीं डरता, मोह से धर्मच्युत नहीं होता, खुशामद के चंगुल में नहीं फँसता, और अिसीलिए

वह राजसत्ता का गुलाम नहीं बनता। अैसे लोगों की तादाद बढ़े और सामान्य जनसमुदाय अुनके अनुरोध के अनुसार वर्ताव करने में अपना कल्याण मानने लग जायँ तो दुनिया में राजसत्ता की आवश्यकता ही न रहेगी। व्यवस्था के लिए म्युनिसिपलिटी-जैसा या स्वेच्छा-संस्था जैसा तंत्र चलाने की बेशक ज़रूरत होगी। लेकिन वह सत्तामूलक नहीं बल्कि सेवामूलक होगी। स्वतंत्रता को मर्यादित करने का अुसमें सवाल ही न रहेगा।

जाति-जाति का सम्बन्ध

लैओटसी जैसे अंग्रेज़ी नामोच्चार से पहचाने जाने वाला अेक चीनी दार्शनिक और धर्मज्ञ मध्य चीन में हो गया है। कहा जाता है कि असे लोगों में सन्तोष या तृप्ति ही बड़ा गुण मालूम होता था। वह मानता था कि व्यर्थ की जिज्ञासा अेक बड़ी बीमारी है। गाँवों के विषय में असका आदर्श यह था कि 'गाँवों के लोगों को अपना गाँव छोड़कर कहीं भी नहीं जाना चाहिये। आस-पास के गाँवों की सीमाओं पर भूँकने वाले कुत्तों की आवाज़ अपने गाँव में भले ही सुनाओ दे, मगर वह गाँव कैसा है, यह देखने के लिए भी कोओ अपना गाँव न छोड़े।' कोलम्बस से पहले यूरप और अमरीका को अेक दूसरे के विषय में जितनी जानकारी थी असुसे अधिक जानकारी अितने नज़दीक के गाँवों में अेक दूसरे के बारे में न होना मुमकिन है या नहीं, अिस बात को छोड़कर हम हिन्दुस्तान की स्थिति तथा हमारे लोगों के स्वभाव की जाँच करें। अैसा लगता है कि हम लोगों को लैओटसी का सिखापन पसन्द आया है। हिन्दुस्तान के देहाती जिज्ञासा के विषय में बहुत मशहूर नहीं है। दूसरे प्रान्तों में क्या चल रहा है अिस बात का पता अुन्हें शायद ही रहता है। दूसरे धर्मों के तत्त्व क्या हैं, आदर्श कौनसा है आदि के बारे में स्पष्ट जानकारी किसी को भी नहीं होती। प्रवाह में पड़ी हुओ लकड़ी की तरह समाज चुपचाप बहता चला जाता है। सामाजिक परिस्थिति में होने वाले परिवर्तनों का अुत्तरदायित्व चाहे जिसका हो, गाँवों के लोगों का तो वह खास नहीं है। 'जैसे ओश्वर रखे वैसे रहना'—यह जड़ तत्त्ववाला वेदान्त हमारे लोगों के गले अच्छी तरह अुतरा है। चाहे जिससे पूछिये, जवाब तो अेक ही मिलेगा 'अहं करोमीति वृथाभिमानः।'

यह बात नहीं कि हिन्दुस्तान के सामाजिक जीवन में परिवर्तन होता ही न हो, लेकिन यह परिवर्तन तो परवश जड़ तत्त्वों में होने वाले परिवर्तन हैं। पानी आग से गर्म होता है और हवा से ठंडा पड़ जाता है; लेकिन अिस हेर-फेर में असका अपना आग्रह नहीं होता। पानी न कभी गुस्से में आकर सुर्ख हुआ है न कभी क्रोध को विवेकपूर्वक पी जाकर ठंडा पड़ा है। अपने ही पुरुषार्थ से जानबूझ कर परिवर्तन करना और पहले से तै की हुआी दिशा में प्रयाण करना चैतन्य का गुण है। वेदान्त ने कहा है कि मुक्त पुरुष 'जड़वल्लोक आचरेत्।' हमने मुक्त होने से पहले ही अिस शिक्षा को स्वीकार किया और 'वत्' प्रत्यय को बिलकुल भुला दिया।

हिन्दुस्तान की—यानी हिन्दुस्तान के गाँवों की—जातपाँतों का प्रश्न अिसी तरह जड़ता का अेक सवाल है। और अिसे सारी जनता को हल करना है। जनता जब ज्ञानमय, चैतन्यमय और यौवनमय होगी तब यह सवाल आप ही आप हल हो जायगा। जनता दृढ़तापूर्वक रूढ़ि से चिपटी रहती है। अिसमें समाज की स्थिरता है, सन्तोष है, समाधान है; अिस बात का भरोसा रहता है कि अमुक मनुष्य अमुक ढंग से ही बरतेगा या नहीं। अिस तरह रूढ़ि के कअी गुण हैं। क्योंकि वे सब जड़ के गुण हैं। पुल के पत्थर अपनी जगह पर ही रहते हैं, पक्षियों की तरह अुड़कर चरने नहीं जाते, अिसीलिए तो पुल का भरोसा करके हम अुस पर से गाड़ी हाँक ले जाते हैं। यह भी कोअी कम फ़ायदे की बात नहीं है कि गाड़ी के डर से पुल आड़ा टेढ़ा नहीं हो जाता। लेकिन समाज में केवल स्थिरता के गुण हों तो अुसमें अुत्कर्ष नहीं है, कृतार्थता नहीं है। थोड़ा-सा धुँआ लगाकर मधुमक्खियों को अुड़ाकर शहद लूटने का धंधा जिस तरह पश्चिम के लोग रात-दिन करते हैं अुस तरह हमारे यहाँ के जड़ समाज से, अुसको खबर न पड़े अिस प्रकार, चाहे जो काम लिया जा सकता है और अुसे चाहे जिस हालत को पहुंचाया जा सकता है। अिसमें अितनी सावधानी रखना काफ़ी है कि मधुमक्खियों की तरह

समाज भड़क न जाय।

असल में देखा जाय तो हिन्दुस्तान में जाति-जातियों में वैमनस्य नहीं है, अैंठ नहीं है, साँप और नेवले में परस्पर हित-संबंध विरुद्ध होने से जिस तरह का बैर होता है वैसा बैर नहीं है; अगर कुछ है तो वह अेक दूसरे के विषय में घोर और भयानक अज्ञान है। और जहाँ अज्ञान नहीं है वहाँ ज़हरीला कुज्ञान है। चाहे जैसी भ्रामक कल्पनाअें अेक-दूसरों ने अेक दूसरे के बारे में चलायी हैं। और वे सब रूढ़ि की जड़ता से जीती रही हैं। 'ब्राह्मण और साँप अेक-से हैं।' 'बनिये की चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय।' 'मुसलमान बड़े बेअीमान।' अैसी-अैसी कहावतें अिस कुज्ञान की द्योतक हैं। अिसका अेक सबूत यह है कि अिस तरह की लगभग सभी कहावतें निन्दामूलक ही होती हैं। हिन्दुस्तान में अैसी अेक भी जाति, धर्म या पंथ नहीं है कि जिसके बारे में अैसी अनुदार वृत्ति की कहावत न हो। ज़िम्मेदार लोग भी अैसी कहावतों का अिस्तेमाल करते हुअे दिखायी देते हैं।

जाति जातियों के बीच के प्रश्न का निराकरण करने का प्रथम और सबसे महत्व का मार्ग यह है कि जातियों में अेक दूसरे के बारे में जो अज्ञानमूलक या कुज्ञानमूलक अभिप्राय दृढ़मूल हुआ है अुसपर प्रहार करना चाहिये। चार लोग जमा होते हैं तो जो जाति अुपस्थित न हो अुसकी निन्दा तो चलती ही है। वह यहाँ तक कि माँ के पेट से जन्म लेने वाले पुरुष तमाम स्त्रियों की यथेष्ठ निन्दा करते हैं और 'अनृतं साहसं माया' आदि अधार्मिक वचनों को धार्मिक ठहराकर जारी रखते हैं। कोअी भी आदमी अगर किसी दूसरे व्यक्ति की जाति पर से निन्दा करता हो तो विचारशील लोगों को फ़ौरन ही अुसका वहीं के वहीं विरोध करना चाहिये। ग़ैरहाज़िर जाति के विषय में चाहे जैसी अनुदार बातें करने में नामर्दी है, नीचता है, असंस्कारिता है, यह बात समाज की नस नस में पैठ जानी चाहिये। परस्पर भलमनसाहत (शराफ़त) की जितनी सच्ची बातें मिल सकेंगी अुन सबको समाज में

प्रचलित सिक्कों की तरह जारी करना चाहिये। 'मिस्टर अँड्रयूज़ अंग्रेज़ हैं, फिर भी अच्छे आदमी हैं'; 'डाक्टर अन्सारी मुसलमान होते हुअे भी न्यायनिष्ठ हैं।' 'फलाँ आदमी मारवाड़ी है, फिर भी अुदार है।' 'अमुक सज्जन कोंकणस्थ होते हुअे भी सच्चा सन्त है'—आदि अुक्तियाँ जब हम सुनते हैं तब हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हालाँकि अुनका मूल अुद्देश्य ग़लतफ़हमी को दूर करना मालूम होता है, लेकिन नतीजा तो आखिर यही होता है कि ग़लतफ़हमी चलती ही रहती है। क्योंकि हमें लाखों अपवाद अेक साथ नज़र नहीं आते। नज़र आने वाले अपवादों का फैसला कर देते हैं तो सच्चा अनुभव निर्जीव हो जाता है और दुर्जनता की खयाली ग़लतफ़हमी बनी रहती है।

जनमानस की यह सारी ख़ूबी ध्यान में लेकर हर समझदार आदमी को चाहिये कि जातिओं के सम्बन्ध में प्रचलित अनुदार अुक्तियों को ज़मीन में गाड़ देने के लिए वह अेक होकर कमर कसे।

अगर यह काम हम पॉलिसी (नीति) के तौर पर करते जायँ तो अुससे कुछ भी हासिल न होगा। यूरप में भौतिक विज्ञानों और कल-कारखानों की अभूतपूर्व प्रगति होने से लोगों को अैसा लगने लगा है कि बिना धर्म के समाज टिक सकेगा। पिछले सौ-पचास बरसों में प्रगति के लगभग सभी प्रयत्न, मानव स्वभाव को सुधारने के सब प्राचीन मार्गों को ताक़ पर रखकर केवल बाह्य परिस्थिति को सुधारने की दिशा में हुअे हैं। सामाजिक रचना को बदलना, क़ानूनों में परिवर्तन करना, अुन्हें विशेष व्यापक बनाना, सरकारी तथा सार्वजनिक पूँजी से सुख-सुभीते के साधन बढ़ाना, शिक्षा के ज़रिये बहुजन समाज के दिमाग़ में जानकारी बढ़ाना और रोगों के लिए भाँति-भाँति की दवाअियाँ तैयार करना अिन्हीं बातों में आजकल की प्रगति समा जाती है। पिछली दो पीढ़ियों ने यह वृत्ति बतायी है कि मनुष्य स्वभाव जैसा है वैसा ही रहेगा, अुसे बदलना बहुत सम्भव नहीं है, और संभव हो या न हो, अुसे बदलने की कोअी खास ज़रूरत भी नहीं है।

अिसका नतीजा यह हुआ है कि दिल बड़ा करने की अुच्च भूमिका पर जाकर झगड़े मिटाने के बदले परस्पर स्वार्थ का मेल बिठाकर काम चलाअू संधि करने के तत्त्व पर ही अुन्हें टाल देने की कोशिशें होती हैं। अैसा होने से हीन वृत्तियाँ ज़ोर पकड़ती हैं। पिछड़े हुअे लोगों को अैसा ही लगने लगता है कि 'झगड़ों को जारी रखने में ही हमारा फ़ायदा है।' फिर बेशर्मी बढ़ती है और हमारी आँखों के सामने नैतिक आदर्श नष्ट होते जाते हैं।

धर्म धर्म के तथा जाति जाति के झगड़े हिन्दुस्तान में तो पॉलिसी के बल पर हरगिज़ नहीं मिट सकते। सभी झगड़ों के मूल में अज्ञान और अनुदारता है। अेक दोष बौद्धिक है और दूसरा नैतिक। दोनों को दूर करना चाहिये। झगड़ा मिटाने के लिए प्रतिपक्षी को समझाने की अपेक्षा अुसे समझ लेने का विशेष प्रयत्न होना चाहिये। और प्रत्येक पक्ष को चाहिये कि वह अुदारता का अुपदेश स्वकीयों को ही करे। क्षुद्रता तथा अविश्वास की खाअीं पट जाने के बाद परस्पर अुदारता बताने तथा करने की स्पर्द्धा चलेगी और वह कल्याणकारी साबित होगी।

केवल अुच्च स्वार्थ की दृष्टि से देखने वाले में अितनी श्रद्धा आनी चाहिये कि कोअी किसी की सच्ची सामर्थ्य नहीं लूट सकता। जो कोअी अुदारता से कुछ दे देने को तैयार हो जाता है अुसकी शक्ति कम न होकर अुलटे बढ़ती है। और अिसमें शक नहीं कि कमज़ोर या अज्ञानी व्यक्ति को सब कुछ दे दिया जाय तो भी वह अुतना सँभाल सकेगा या अुतने का ही अिस्तेमाल कर सकेगा जितनी अुसकी ताक़त होगी। अगर सामर्थ्य बढ़ानी हो तो लोभ और हवस बढ़ाने के बदले ज़िम्मेदारी का क्षेत्र बढ़ाना चाहिये। अुच्च वायुमंडल में रहना चाहिये और आलस्य तथा विलासिता कम करनी चाहिये। अखंड अुद्योग, सावधानी से की हुअी किफ़ायतशारी और विशाल हृदय, अिन्हीं बातों में सब तरह की ताक़त है।

यह अेक बड़ा लाभ है कि अिस बारे में शहरों की तरह गाँवों म हीन वातावरण नहीं होता। किसानों में सहयोग विशेष रूप से होता है; व्यापारियों में स्पर्द्धा विशेष होती है और सरकारी नौकरों में अेक-दूसरे के पाँव खींचकर हीन स्वार्थ साधने का नीतिबाह्य बरताव विशेष देखा जाता है। गाँवों में नौकरी का सवाल बहुत नहीं रहता। व्यापार मामूली ही होता है और मुख्य व्यवसाय खेती व मज़दूरी का तथा गौण व्यवसाय मुमूर्षु दशा (मुर्दा हालत) को पहुँचे हुअे अुद्योग-धंधों का होता है। अैसी हालत होने से गाँवों में जाति जातियों के झगड़ों को बहुत अवसर नहीं रहता।

लेकिन देहातों की जनता जितनी अज्ञानी अुतनी ही विकारवश भी होती है। धर्म के नाम से, जाति के नाम से, किसी भी विकार के नाम से लोगों के मनोविकारों को भड़काने का काम मुश्किल नहीं है। फिर भी अिस तरह का दावानल शहरों के मुकाबले गाँवों में कम भड़क अुठता है, क्योंकि वहाँ जीवन-सहयोग की नमी विशेष होने से सब जातियाँ और धर्म उससे ओतप्रोत होते हैं।

आमतौर पर झगड़ा शुरू होने पर दाँव पर दाँव लगाने वाले प्रत्येक पक्ष को अपने धर्म को प्रतिपक्षी के जितना ही संकुचित, लड़ाकू और अंधा बना देना पड़ता है, और फिर अेक दूसरे के गड़े मुर्दे अुखाड़ने की दोनों को सूझती है। प्रतिपक्षी को काला ठहराने के लिए अुसके मुँह पर कालिख पोतने की अपेक्षा हम अगर अपना मुँह धो डालकर साफ़ रखें तो प्रतिपक्षी आप ही आप काला दीखेगा और अुसे भी मुँह धोने की ज़रूरत मालूम होगी। दो लड़के तख्ती पर वर्तुल (वृत्त) खींचते हों और अुनमें के अेक का टेढ़ामेढ़ा और दूसरे का बिलकुल ठीक आ जाय, तो जिसका वृत्त ख़राब हुआ होगा वह अपने दिल में अितना तो ज़रूर समझ जायगा कि अपना वृत्त घटिया क़िस्म का है, और सबको अिसी से सन्तोष होना चाहिये कि अुसने दिल में ठीक

समझा है। अुसके मुँह से हार का अिक़रार कराने की कोशिश नहीं होनी चाहिये।

जीवन के औद्योगिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और शिक्षा-विषयक आदि विभाग तो हम विचार और चर्चा की सहूलियत के लिए करते हैं। वरना मूलतः जीवन तो अेक रूप ही है। अुसके टुकड़े करके अुसे जीवित नहीं रखा जा सकता।

यह कहनेवाले बहुत से लोग होते हैं कि 'तुम्हें जितने सूझे अुतने औद्योगिक और राजनैतिक हेरफेर करो, लेकिन धर्म और सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप मत करो।' मानो सामाजिक और धार्मिक भूलें जनता की प्रगति में अडंगा डालती ही न हों। या धर्म और समाज-व्यवस्था दोषपूर्ण हो ही नहीं सकती। यह बहुत ज़रूरी है कि गाँवों के 'धार्मिक' रिवाजों में सुधार हों। खानपान के बारे में स्वच्छता और पावित्र्य रखना तथा अुच्च आदर्श का आग्रह रखना दोनों चीज़ें संस्कारिता और सामर्थ्य की रक्षा करने के लिए आवश्यक हैं; लेकिन आज हमारे समाज में अरसे-परसे, छूतछात, सकरे-निखरे आदि का जो ढोंग मचा है अुसे तो जनता के कल्याण के लिए तोड़ ही देना चाहिये। क्योंकि अिन बातों में स्वच्छता का जो अंश है वह बहुत कम है। सिर्फ़ बड़प्पन की प्रतिष्ठा और ग़रूर की भावना हीअिस बारे में विशेष है, और अुसके अलावा हिन्दू-स्वभाव में अज्ञानमूलक आग्रह से हर बात का अतिरेक करने का दोष तो पहले से ही है। गाँवों में फैले हुए अिस तरह के ढोंग का खात्मा करने का प्रयत्न सच्चे धार्मिक लोगों को ही करना चाहिये; और सो भी डरते-डरते नहीं किन्तु तेज़ी से, दृढ़ता से और लोगों को समझा बुझाकर करना चाहिये। हिन्दू मन्दिरों के प्रबन्ध और रहन-सहन में महत्त्व का परिवर्तन करना चाहिये। लेकिन अिस विषय का विवेचन स्वतंत्र रूप से ही करना ठीक होगा।

मनुष्य चाहे जिस जाति, पंथ या धर्म का हो, अगर वह अत्यंत अमंगल दशा में न हो तो अुसे व्यवहार में छूने में किसी भी तरह की

आपत्ति नहीं होनी चाहिये। अिसी तरह अगर रसोअी अुचित लोगों के हाथों सफ़ाअी के साथ पकाकर पंगत में परोसी जाती हो और परोसनेवाले परोसने के नियमों का अच्छी तरह पालन करते हों तो फिर रसोअिये, परोसनेवाले, पंगत में बैठे हुअे आदि लोग किस जाति या धर्म के हैं अिस बातकी विचारणा या विचिकित्सा करने की कुछ भी ज़रूरत न होनी चाहिये। दूसरों की अमानत में ख़यानत करने वाले, झूठी गवाही देने वाले, व्यभिचार करनेवाले, रिश्तेदारों को भी धोखा देने वाले और चोरी-छुपे अभक्ष्य-भक्षण तथा अपेय-पान करने वाले अेकही जाति के लोग आज जब अेक साथ बैठकर भोजन करते हैं तब पंक्ति-व्यवहार के नियमों में पवित्र आचरण या सदाचार का तत्त्व नहीं दिखाअी देता। जिस तरह सरकारी दरबार में श्रेणी का अुच्च-नीच भाव होता है अुस तरह सामाजिक जीवन में भी दरबारी अुच्चनीच भाव का निर्माण करके आज के प्रपंच यानी व्यवहार के नियम बनाये गये मालूम होते हैं। पंक्ति-भेद के नियम निष्प्राण कलेवर (शरीर) की तरह आज तो केवल दुर्गन्ध ही फैला रहे हैं।

पानी के बर्तन जूठे न हों तो स्वच्छ पानी फिर वह चाहे जिस जाति के हाथ का क्यों न हो, चलना चाहिये। अिस बारे में जात-पाँत या धर्म की रुकावट नहीं होनी चाहिये। अितनी प्रगति हो जाने के बाद फिर कुओं का सवाल तो आपही आप हल हो जायगा। धर्मभ्रष्टता या बिटल जाने की कल्पना को हमने अर्थविहीन नाजुक कर डाला है, और गोरे लोगों के मिज़ाज के जैसे ही ब्राह्मणशाही के मिज़ाजख़ोर नियम आज भी हम चलाना चाहते है। सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात तो यह है कि मिज़ाज तो निकल गये हैं, फिर भी मिज़ाजख़ोरी के नियम तो अब भी धर्म के नामसे चिमटे हुअे हैं। जिन्होंने अिन नियमों को छोड़ दिया है अुन्होंने अगर धार्मिक शुद्धि के हेतु से वैसा किया हो तो बहुत अच्छा। लेकिन ज्यादातर लोग, शहरों में जो कुछ धर्म-विमुखता आयी है अुसकी वजह से सिर्फ़ सुभीते का ख़याल करके कअी अिष्ट सुधार भी

अनिष्ट ढंग से करने लगे हैं।

धर्म-जीवन का अत्यंत आग्रह रखनेवाले समाज-सेवकों को चाहिये कि वे जगह-जगह आश्रम प्रस्थापित करके आसपास के प्रदेश के जीवन में अिन सुधारों को दाखिल करें। अिससे धर्मनिष्ठा भी बढ़ेगी और सामाजिक जीवन का संस्करण भी होगा। अिस अुपाय का अवलंबन किये बिना हमारा समाज सुदृढ़ नहीं होगा। अूँची जातियों के हिन्दू लोग अिस बात का ख़याल ही नहीं करते कि वे दूसरी जातियों का कितना अपमान करते हैं, अुन्हें कितना नीचा दिखाते हैं, अुनका कितना हृदय-बध करते हैं और अिस तरह अुन्हें कितनी दूर ढकेल देते हैं। और अिसलिये वे सच्चे दिल से यही मानते और करते हैं कि 'हम बिलकुल बेगुनाह हैं, फिर भी अब हमारी दुर्दशा से फ़ायदा अुठाकर दूसरे लोग ज़बर्दस्ती से हमपर आक्रमण करते हैं।'

जब अूँची श्रेणी के लोग अपने दोष देखकर जीवन-शुद्धि करेंगे तब जाति-जाति के बीच का वैमनस्य दूर करना कुछ आसान हो जायगा। प्रेम की अुदारता के तत्त्व पर ही ज्यादा ज़ोर दिलाना चाहिये।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं, 'जाति शब्द ही जन्मवाची है, और जब तक जाति-जातियों में तथा भिन्न भिन्न धर्मियों में विवाह नहीं होंगे तब तक जाति-वैमनस्य की गुत्थी अुलझी हुई ही रहेगी।'

भिन्न धर्मियों में विवाह होना हर हालत में अनिष्ट है। दोनों पक्षों के दिल में धर्म के विषय में अेक ही प्रकार की अनास्था हो तो दोनों को भिन्न धर्मावलम्बी कहना ही गलत है। धर्म के मानी हैं सबसे व्यापक जीवन-व्यवस्था। यह परिभाषा अगर सही है तो भिन्न भिन्न तत्त्वों पर रची हुअी जीवन-व्यवस्थाओं में विवाह जैसा जीवनव्यापी संबंध न बँध सकता है, न टिक ही सकता है। और अगर किसी तरह टिक भी जाय तो भी अैसे विवाहों से पैदा होने वाले बच्चों के लिए तो वह हरगिज़ पोषक नहीं साबित हो सकता है।

अितना होने पर भी समाज में अिस तरह का अेकाध व्याह हो जाय

तो समाज को चाहिए कि वह क्रोध-वश न होकर अपना तात्त्विक निषेध प्रकट करके चुपचाप बैठ जाय। सामाजिक बहिष्कार के झंझट में अुसे कभी नहीं पड़ना चाहिये। खानपान की नीति अूपर बताये हुअे ढंग के अनुसार रहेगी तो भोजन-बहिष्कार (हुक्का-पानी बंद करने) की बात ही खत्म होगी। शादी-ब्याह के बहिष्कार का सवाल तो तभी खड़ा होता है जब बाल-बच्चे हो जाते हैं; और अुसमें भी जब वे ब्याह की अुम्र के हो जाते हैं। अुस समय का समाज अुसका निराकरण कर लेगा; सो भी माँ-बाप के आचार-अनाचार को मद्दे नज़र रखकर नहीं बल्कि बालकों की संस्कारिता का विचार करके।

अेक ही धर्म के किन्तु भिन्न-भिन्न वर्णों के लोगों में विवाह होना लाभदायक नहीं है। लेकिन अिस बारे में भी बहिष्कार का शस्त्र नहीं अुठाना चाहिये। वर्ण-व्यवस्था की योजना तो रहन-सहन व विचार की समानता तथा अुपजीवका के व्यवसाय के लिए की गयी है। विवाह संबंध में सुख-सुभीता और सन्तोष रखने के लिए वर्ण का विचार करना ज़रूरी होता है। लेकिन अुसे ज़बर्दस्ती लोगों पर न थोपकर सामाजिक शिक्षा से ही अुसे टिकाना चाहिये। जिस तरह अमुक मनुष्य अपने स्वास्थ्य का विचार करके वातकर यानी वादी या पित्त करने वाला आहार छोड़ देता है, जिस तरह रूढ़ धर्म की रुकावट न होते हुअे भी अमीर-गरीबों में बहुत ब्याह-शादियाँ नहीं होतीं, जिस तरह केवल लोकमत के दबाव से वृद्ध-बालिका विवाह और अेक पत्नी के होते हुअे दूसरी से शादी करने का रिवाज हमने लगभग नामशेष किया है, अुसी तरह यह नियम कि सवर्णों में ही विवाह होने चाहिये, समाज की समझ पर ही टिकना चाहिये।

अुपजातियों में होने वाले विवाहों के विषय में यहाँ संक्षेप में अितना ही बता देना काफी होगा कि जिस तरह अेक ही गोत्र में विवाह नहीं हो सकता, दूसरा गोत्र खोजना ही पड़ता है, अुसी तरह अेक ही अुपजाति में आपस में विवाह नहीं होने चाहिये। समाज के धधर्मनिष्ठ अग्रणियों

को चाहिये कि वे लोगों को यह सिद्धान्त अच्छी तरह समझा दें। ब्याह तो दूसरी अुपजाति के व्यक्ति के साथ ही होना चाहिये।

आज हिन्दू समाज में जिस तरह जाति जीवित है अुस तरह वर्ण नहीं है। अिसलिए वर्ण निश्चित करने में पुराना अैतिहासिक सबूत खोजने की कोशिश न करके सारी जाति का प्रचलित रहन-सहन और प्रधान व्यवसाय ही देखना चाहिये। अैसी जाति का वर्ण-निर्णय करने का काम शहरी समाज में शायद मुश्किल हो, लेकिन गाँवों में तो यह काम बहुत आसान है।

भिन्न वर्ण के लोगों में विवाह होना अनिष्ट हो तो भी यह समझने की कोअी ज़रूरत नहीं कि वैसा करने में पाप है। माँ-बाप या संरक्षकों की सम्मति से खुले तौर पर भिन्न वर्णियों में निर्मल सम्बन्ध हो जाय तो अैसा मानकर कि वह अेक सामाजिक प्रयोग है, अुसका निषेध न करके निरीक्षण दृष्टि रखना अिष्ट है।

यह कहना पड़ेगा कि आज भिन्न धर्मावलम्बी लोगों में अेकता लगभग नहीं है। अेक-दूसरे के यहाँ जाना-आना, अुठना-बैठना, अेक-दूसरे के सुख-दुःख के अवसरों पर अुपस्थित रहकर मदद देना, अेक-दूसरे के अुत्सवों में शरीक होना, अेक-दूसरे धर्म तथा सामाजिक रूढ़ि के सिद्धान्तों को सहानुभूति के साथ समझ लेना और अपने को जो अच्छा दिखाअी दे अुसका अपने समाज में स्वीकार करना—यह सब अखंड रूप से चलना चाहिये। आज संकुचित विधान या संगठन के कारण तथा परस्पर-अविश्वास की वजह से अिससे अुल्टी स्थिति रहती है। परस्पर सहिष्णुता तथा धार्मिक रूढ़ि की रक्षा करके जितना भाअीचारा रखा जा सकता है अुतना रखना तो गाँवों के लोगों की हड्डियों में ही समाया हुआ है। लेकिन आजकल अिन वृत्तियों का बराबर नाश होना शुरू हो गया है। अुदारता पर अविश्वास और चालाकी या कूटनीति पर अटूट विश्वास सामाजिक अधःपतन का मुख्य लक्षण है। समाज की हड्डी-पसलियाँ ढीली करनी हों तो अिसके अलावा दूसरे

साधनों का अिस्तेमाल करने की ज़रूरत नहीं है।

जाति-जातियों तथा अलग अलग-समाजों के बीच का अिस तरह का घरोपा सिर्फ़ पुरुषों में ही नहीं किन्तु स्त्रियों और बच्चों में भी होना चाहिये।

अिस तरह का घरोपा शुरू होने के बाद ही अुसके लिए अुचित वायुमंडल मिल सकेगा। सवर्ण जातियों की स्त्रियों में छुआछूतका ढोंग बहुत है। अुसका अुद्देश्य यह भी हो सकता है कि अनिष्ट घरोपा टाला जाय। लेकिन आज यह अनिष्टता नहीं रही है। अुलटे यही अनिष्ट या अरिष्ट है कि अिस तरह का घरोपा नहीं है। यह छुआ छूत पहले दूर होनी चाहिये। घरोपे का व्यौहार शुरू होते ही निम्न जातियों में स्वच्छता, सुघडता और शुचिता आने लगेगी। ऊँची श्रेणी के लोगों के रहन सहन की अेक आदत सभी धर्मों तथा जातियों के लोगों द्वारा स्वीकार की जाने लायक़ है। वह है अेक दूसरे का जूठा न खाना। बरातन, पानी और खाने की चीज़ें कभी भी किसी को जूठी नहीं देनी चाहिये। अूँची जातियाँ बहुत बार अपनी जूठन खुले तौर पर या चोरी से नीची जातियों को देती हैं। और अिस पर यह कहते हैं कि निचली जातियों को वह चल सकता है। अुन्हें लेने में भले ही कोअी अेतराज़ न हो, लेकिन अूँची जातियों को देने में अेतराज़ होना चाहिये। जूठन तो गाड़ ही देना चाहिये। भूमि का दिया हुआ अन्न जूठा बनकर जब निरुपयोगी हो जाय तब यही ठीक है कि वह भूमि में ही खाद के लिए वापस पहुँचाया जाय।

दूसरा सवाल है मांसाहार का। शाकाहारी जातियों के साथ दोस्ताना सलूक बढ़ाने के लिए मांसाहारी जातियों को कुछ बातों में सम्हाल कर काम लेना चाहिये। दोनों के सहभोज के अवसर पर मांसाहार नहीं होना चाहिये। बर्तन और दूसरी सब चीज़ें शुद्ध की हुअी होनी चाहियें। घर के बाल-बच्चों और नौकर-चाकरों को भी अिस बात की शिक्षा दी जानी चाहिये। कुछ बड़े-बड़े मुसलमानी खान्दानों में यह बात देखने

को मिलती है। अुनके घर भोजन करने में किसी तरह की हिचकिचाहट महसूस नहीं होती। युरोपियन मिशनरियों के परिवारों में भी यह बात होना मुश्किल नहीं है। कुछ अीसाअी कुटुम्बों में ब्राह्मणी रस्मोरिवाज़ अच्छी तरह दिखाअी देते हैं लेकिन अिसके मानी यह नहीं हैं कि वे अंडे, मुर्ग़ियाँ या दूसरे क़िस्म का गोश्त खाना छोड़ देते हैं। शाकाहारी लोगों के प्रति अपना प्रेमादर व्यक्त करने के लिए ही वे अपने आहार के अतिरिक्त ब्राह्मणी साधन भी रखते हैं। और शाकाहारी व्यक्ति के लिए अितना काफ़ी होना चाहिये। अगर मांसाहार त्याज्य है, तो अुस तत्त्व का प्रचार होना चाहिये। लेकिन मांसाहारी लोगों का त्याग करने से वह प्रचार होने वाला नहीं है। हमें शाकाहार के कुशल मिशनरी बनना चाहिये।

—१९३२

अस्पृश्यता-निवारण

शहर में गायें रखना जितना कठिन है, अुतना ही परसे-अपरसे तथा छुआछूत के पुराने नियमों का पालन करना भी कठिन है। लोगों का रहन-सहन ज्यों ज्यों बदलता गया त्यों-त्यों पुराने सामाजिक रीति-रिवाज भी मिटते गये। अस्पृश्यता-निवारण का आन्दोलन गाँवों की वनिस्वत शहरों में ज्यादा हुआ है, अिससे अूपर बताये हुअे शहरी झुकाव को स्वाभाविक अुत्तेजन मिला है। यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ-जहाँ अस्पृश्यता नष्ट हुअी है वहाँ-वहाँ न्याय के आग्रह से ही अैसा हुआ है। फिर भी यह बात लोगों के गले ठीक-ठीक अुतरने लगी है कि अस्पृश्यता अन्यायमूलक है और अुसमें धर्म नहीं बल्कि अधर्म है, और यही कारण है कि जहाँ-जहाँ छुआछूत अभी मौजूद है वहाँ भी अुसकी पहले जितने ज़ोर के साथ हिमायत नहीं की जाती। अब यह हालत नहीं रही कि प्रत्येक धर्माभिमानी हिन्दू छुआछूत का समर्थन ही करे। अिसके विपरीत यह कहनेवाले अनेक सनातनी मिलते हैं कि हज़ारों वर्षों से चली आयी और फिर धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़ि अेकदम नहीं मिट सकेगी; अिसके लिए ज़रा सब्र से ही काम लेना चाहिये। अस्पृश्यता पाप-मूलक है अिस बारे में अब कोअी बिना छेड़े चर्चा या विरोध नहीं करता।

लेकिन विरोध को तो अेक वक्त सहा जा सकता है, पर सब्र से काम लेने का यह तत्त्वज्ञान बड़ा भयंकर है। अमेरिकन स्वातंत्र्य-वीर विलियम लायड गैरिसन ने जब कमर कसके गुलामी का विरोध करना शुरू किया तो व्यवहारदक्ष लोग अुससे कहने लगे, 'अिस तरह जोश में मत आअिये, ज़रा सोच-समझ कर और सब्र से काम लीजिये। आहिस्ता आहिस्ता आगे बढ़िये।' तब अुसने गुस्से में आकर यह जवाब दिया था

कि, 'धीरे-धीरे क़दम रखना मैं नहीं जानता। तुम्हारे घर में आग लगी हो और तब तुमसे कोअी यह कहे कि दमकल ज़रा धीरे-धीरे चलाओ और पानी ज़रा थोड़ा-थोड़ा डालो तो क्या तुम अुसकी बात सुनोगे? अपना घर लूटने वाले चोर का विरोध तुम धीरे-धीरे कैसे करोगे? तुम्हारी माँ पर कोअी अत्याचार कर रहा हो तो अुस नराधम का प्रतिकार तुम आहिस्ता से कैसे कर सकोगे?' सुधार या प्रगति भले ही आराम के साथ हो, मगर अन्याय की जड़ को तो अेक ही झटके से अुखाड़ फेंकना चाहिये। कम से कम हमारी कोशिश तो अैसी ही होनी चाहिये। शुद्ध अन्याय, खुला पाप, महान् अधर्म, मानवी स्वतन्त्रता की हत्या के साथ लेन-देन कैसा? अिस अनाचार का तब तक तीव्रातितीव्र निषेध ही करना चाहिये जब तक कि अपने शरीर में खून की अेक भी बूँद बाक़ी हो। या तो अस्पृश्यता का सर्वथा नाश हो जाय या फिर खुली आँखों से अुसे देखते रहनेवाले हम लोगों का सर्वनाश हो जाय।

धनवान, विद्वान, हिकमती, कल्पक, साहसी और महत्त्वाकांक्षी सभी लोगों ने गाँव का परित्याग करके गाँवों का तथा मनुष्य-समाज का द्रोह किया है। जिस तरह फुटकर माल गाँवों में पुराना, बासी और सड़ा-गला मिलता है अुसी तरह धर्म, सामाजिक कल्याण, आर्थिक हित, युवकों की शिक्षा आदि के सभी विचार वहाँ सड़े हुअे यानी विकृत रूप में ही फैलते हैं। हमारे कहने का मतलब यह नहीं है कि पुराना सब कुछ खराब ही है। हम यह नहीं कहते कि घर में पुराने बर्त्तन रक्खे ही न जायँ। पुराने बर्तन तो गृहस्थपन, संस्कारिता, और प्राचीन वैभव को प्रकट करते हैं। लेकिन यह ज़रूर है कि पुराने बर्तनों का अिस्तेमाल करना हो तो अुन्हें हर रोज़ साफ़ करना चाहिये। जो लोग यह कहते हैं कि पुराने ज़ंग लगे बर्तनों पर हरे रंग का मोरथोथे का जो ज़हर—ज़ंग—चढ़ जाता है अुसे भी सम्हाल कर रखना और भोजन के साथ पेट में जाने देना चाहिये, अुन भूतकाल के अुपासकों के लिए मर कर [illegible] नहीं है। क्योंकि अुन्हें यह समझ

लेना चाहिये कि भूतकाल का द्रोह तो ज़िन्दा रहने में भी होता है।

आधुनिक समाज में धार्मिक जागृति करके नअी छाप डालने वाले अधिकांश सत्पुरुष और महात्मा शहरों में ही रहते हैं। जहाँ तक मुसाफ़री की सुविधा के साधन हों वहीं तक अुनके चरण-कमल भी पहुँचते हैं। यही कारण है कि गाँवों में अस्पृश्यता-निवारण का आन्दोलन बहुत थोड़ा हुआ है। हरदासो, पौराणिक और कथाकार आदि लोग वैराग्य की रसपूर्ण बातें लालचपूर्ण भाषा में कहते वक्त अिसी बात का विचार करते हैं कि लोगों को क्या रुचिकर होगा। लोगों का हित किसमें है, इस बात का विचार करने ने की अुन्हें आदत या हिम्मत ही नहीं होती। अपनी वाणी में आधुनिकता का समावेश करने की ज़रूरत तो अुन्हें महसूस होने लगी है, लेकिन जब वे अपनी वाणी में धर्म-तेज लाने की जरूरत समझेंगे तभी वे समाज के सेवक और नेता बन सकेंगे। तब तक तो समाज-रंजक के रूप में अुनका जो अुपयोग है वही रहेगा।

यहाँ तक की हुअी टीका में अप्रत्यक्ष रूप से रचनात्मक सूचनाअें ही की गयी हैं।

अस्पृश्यता-निवारण करने की जिम्मेदारी धर्मनिष्ठ, प्रजा-हितैषी, निःस्पृह और नैतिक धैर्य वाले लोगों की ही है। अिसके लिए अपने मन में से अस्पृश्यता का भूत निकाल डालना ही काफ़ी नहीं है। धर्म, रूढ़ि और संस्था के रूप में जो पाप समाज में प्रवेश कर जाता है वह कालान्तर में अपौरुषेय बन जाता है। यानी फिर अुसकी जिम्मेदारी किसी विशेष व्यक्ति के सिर नहीं रहती। अैसी रूढ़ियों की निर्दयता, घातकता और असह्य अन्याय सब बेचारे अंत्यजों को ही बरदाश्त करना पड़ता है। मगर यह नहीं कहा जा सकता कि अैसी रूढ़ियों को चलाने वाले लोग स्वभाव से निर्दय, घातक या अन्यायी होते हैं। रूढ़ि की निन्दा होने पर व्यक्तियों को अैसा लगता है कि, हमारे ऊपर यह व्यर्थ का प्रहार हो रहा है। परन्तु व्यक्तियों को दोषमुक्त करने से पापमूलक रूढ़ि के शिकार हुअे लोगों पर का जुल्म या अुनकी पीड़ा कम नहीं

होती। फिर भी जो लोग व्यक्तियों पर क्रोध करते हैं, अुनके साथ 'जैसे के साथ तैसा' का न्याय स्वीकार कर स्पृश्य समाज के व्यक्तियों को सजा देने का अिरादा रखते हैं, वे रूढ़ि की कमर तोड़ने के बदले अुलटे रूढ़ि को मजबूत ही बनाते हैं। किसी तरह का समाज-सुधार करते समय अिस बात को कभी न भूलना चाहिये। समाज-सुधार करने में आज तक यह बात भुलाये रखने से, समाज ने पापी रूढ़ि के प्रति अपना पुण्य-प्रकोप रूढ़ि से अन्धे होकर चिपटे रहने वाले व्यक्तियों पर अुतार कर नया अन्याय और नये गड़बड़-घोटाले ही पैदा किये हैं। अितिहास का पन्ना-पन्ना अिस बात का साक्षी है।

अस्पृश्यता-निवारण की जिम्मेदारी खासकर दो वर्गों पर आती है। (१) जिन्होंने अस्पृश्यता चलायी है अुनके वारिस अुच्च वर्ण के लोग, और (२) जिन्हें *आज अस्पृश्यता भुगतनी पड़ रही है वे दलित* 'अस्पृश्य'।

अिन दलितों की शिक्षा, अिनके धार्मिक विचार और आज के समाज में उनका स्थान—अिन बातों का विचार करते हुअे अस्पृश्यता दूर करने का दृढ़ प्रयत्न करने की ज़िम्मेदारी अुनके अूपर नहीं डाली जा सकती। अुन्हें तो रोज-रोज अन्याय और अपमान सहने पड़ते हैं; अिस लिये यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि सभी न्याय्य मार्गों से सवर्णों के विरुद्ध विद्रोह करने का अुन्हें पूरा हक़ है। यह बात सच है कि अैसे विद्रोह से समाज के सभी लोगों को नुक़सान अुठाना पड़ेगा, परन्तु अस्पृश्यों से यह कौन कहे कि अिसीलिये तुम अन्याय ही सहते रहो?

लेकिन बदकिस्मती की बात अिससे जुदी ही है। अस्पृश्य अितने दलित हो गये हैं कि अुनके मनमें विद्रोह की इच्छा पैदा करने में भी बहुत ज्यादा वक्त लग जायगा; फिर विद्रोह की ताक़त पैदा करने की बात तो अुसके बाद का काम है। और अितने पर भी बग़ावत की शुरुआत में तो अस्पृश्यों का ही ज्यादा नुक़सान होने वाला है। प्रजाहितैषी लोगों को अिन बेचारों पर अितना अधिक भार नहीं डालना चाहिये। लेकिन अस्पृश्यों

में अस्मिता जाग्रत होने से पहले ही अुनकी अस्पृश्यता दूर कर देने के आग्रहपूर्ण प्रयत्न स्पृश्यों को हृदय से करने चाहिये।

जब तक अैसा नहीं होता तब तक अछूतों में जो बात करने की है वह यह है कि अुनमें प्रचलित खास-खास व्यसन दूर किये जायँ। वे व्यसन ये हैं:—(१) मरे हुअे जानवरों का यानी मुरदार मांस खाना, (२) व्यसन के कारण या जाति का रिवाज होने की वजह से शराब पीना, (३) लोगों का जूठा अन्न माँग लाकर खाना, (४) हमेशा कर्ज़ में डूबे रहना, (५) जहाँ शिक्षा मिल सकती हो वहाँ भी अुसके बारे में अुदासीन रहना, बल्कि तालीम की मुख़ालिफ़त करना, (६) हर रोज़ शहरों और गाँवों की सफ़ाअी करते रहने पर भी ख़ुद साफ़ न रहना, और (७) पाप होने पर भी जिसे व्यसन नहीं कहा जा सकता, लेकिन हिन्दू समाज में स्थान पाने के रास्ते में जो बड़ी रुकावट है वह गोमांस-भक्षण।

मरे हुअे ढोर का चमड़ा अुतार कर अुसे कमाने का काम अछूतों को अपने रहने की जगह के आस-पास ही करना पड़ता है। अिस बारे में तुरन्त सुधार होना चाहिये। चमड़ा अुतार कर अुसे कमाने के काम की जगह मनुष्यों की बस्ती से दूर, हवा का रुख और बरसात के पानी के प्रवाहों का खयाल रखकर निश्चय करनी चाहिये। साथ ही अिस बात की सावधानी भी रखनी चाहिये कि वहाँ कोअी शिकारी जानवर नुक़सान न करने पाये। [चमड़ा कमाकर अुसकी अलग अलग चीज़ें बनाकर बेचने का बड़ा और मुनाफ़े का धन्धा गो-रक्षकों के ही हाथ में रहना चाहिये, यह बात अछूतों को समझाकर वैसा होने के लिये अुन्हें व्यावहारिक मदद भी दी जानी चाहिये।]

अस्पृश्यता-निवारण की दूसरी—यानी पापमूलक रूढ़ि पर प्रहार करने की या हृदय परिवर्तन करने की—बाजू स्पृश्य समाज के प्रतिष्ठित अग्रणी लोगों को ख़ुद सम्हालनी चाहिये और जिस तरह मुहल्ले में आग लगने पर जी जान से कोशिश करके हम दमकल से पानी छिड़कते हैं, अुसी तरह बड़े जोश व ख़रोश के साथ अुन्हें यह काम करना

चाहिये। जब तक लोगों का विरोध था तब तक लोगों का मुक़ाबिला करना आसान था। लेकिन अब बौद्धिक विरोध लगभग शान्त हो गया है। अब तो अस्पृश्यता का निष्प्राण शरीर अनास्था के रूप में पड़ा सड़ रहा है और सर्वत्र अपनी बदबू व बीमारियाँ फैला रहा है। असे वक्त रहते ही गाड़ देना चाहिये।

अस्पृश्यों के साथ अिन्साफ़ से पेश आयेंगे, अुनकी प्रगति के मार्ग में कभी कोअी रुकावट न डालेंगे—अिस तरह का भोथरा न्याय करने से काम न चलेगा। सैकड़ों बल्कि हजारों वर्षों के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए यानी पाप कृत्य से अपनी रक्षा करने के स्वार्थ की दृष्टि से भी हम अस्पृश्यों की मदद के अवसर अिच्छापूर्वक खोज निकालें। आज तक अुनके खिलाफ़ पक्षपात हुआ है, अिस बात को याद रखकर अब स्वार्थत्याग-पूर्वक अुनके लाभ के लिए पक्षपात करना चाहिये, और यह सब आन्तरिक भावना से हो।

अस्पृश्यता-निवारण में खास तौर पर अिन बातों का समावेश होता है :—(१) दूकानों, खेती के कामों, मन्दिरों तथा कुओं आदि जिन-जिन स्थानों में अछूतों के साथ सम्बन्ध आता है वहाँ-वहाँ दूर नहीं रखा जाना चाहिये; अुनके साथ किसी तरह का भेद-भाव न किया जाय। (२) सार्वजनिक या खानगी सभी कुओं से पानी निकालने का अुन्हें अुतना ही अधिकार या अिजाज़त हो जितनी कि दूसरी जाति वालों को है। यह सुधार सबसे पहले होना चाहिये। (३) जिन्हें मूर्ति-पूजा से विरोध नहीं है, बल्कि देव-दर्शन में जिनका आस्था है, अैसे सब स्पृश्य लोगों को—फिर वे किसी जाति या धर्म के क्यों न हों—मन्दिर-प्रवेश की छूट होनी चाहिये। (४) शिक्षा संस्थाओं, व्यायाम शालाओं, वाचनालयों, पुस्तकालयों, अस्पतालों वगैरह समाज सेवा की संस्थाओं में अछूतों के साथ आदर व अिज्ज़त का बरताव किया जाना चाहिये। कोअी भी सामाजिक सेवा अुन्हें दूसरी जाति वालों के जितनी ही आस्था और सहजता के साथ मिलनी चाहिये। (५) विवाह की वर-यात्रा, जातिगत जुलूस आदि में

अस्पृश्यों को अैसे प्रतिबन्धों का पालन करना पड़ता है जिससे अुन्हें अपनी हीनता का भान होता रहता है; अैसी पाबन्दियों को तुरन्त हटा देना चाहिये। (६) अस्पृश्यता-निवारण का ही अेक अंग समझ कर टट्टियों (पाखानों) की व्यवस्था में अैसा सुधार करना चाहिये जिससे वह मनुष्य को शोभा देने जैसी हो जायँ। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिये कि पाखाने के पास खाना खाने के लिए बैठने पर भी किसी को अटपटा न लगे अितनी सफ़ाओ रखी जाय। [संडास-सफ़ाओ का काम अंत्यजों के ही हाथ में न रहकर दूसरी जाति वाले भी अुसे करें, यह अिष्ट जरूर है, लेकिन अिस सुधार को अमल में तभी लाना चाहिये जब कि आज जो अस्पृश्य-कुटुंब पाखाने साफ़ करने का काम करते हैं अुनकी आजीविका का कोओी और अिन्तजाम कर दिया गया हो।] (७) अछूत बालक-बालिकाओं का सामान्य शिक्षा-संस्थाओं में प्रवेश करा देने के बाद भी खास अस्पृश्यों के लिए ही कुछ आश्रम चलाने होंगे; और अुनमें भी बालकों की बनिस्बत बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा वरना समाज का स्वास्थ्य बिगड़ेगा और अस्पृश्य कुटुम्ब दुखी होंगे। (७) लोकल बोर्डों, म्युनसिपैलिटियों, सरकारी कौंसिलों आदि संस्थाओं में जहाँ जनता के प्रतिनिधियों को भेजना होता है वहाँ अस्पृश्यों के मन में यह शंका बनी रहती है कि हम पिछड़े हुओ और कम तादाद वाले होने से हमारा तिरस्कार ही होगा। अिसलिये अछूतों को अितनी तरजीह दी जाय कि अुनकी यह शंका दूर हो। फिर अुनके व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मन-स्वातंत्र्य की रक्षा करते हुओ अिन नये कामों को होशियारी के साथ अंजाम देने में हमें अुनकी मदद करनी चाहिये। (९) अछूतों में से सात्त्विक वृत्ति वाले होशियार युवकों को संस्कृत भाषा तथा हिन्दू धर्मशास्त्रों का अध्ययन करने के लिए बहुत प्रोत्साहन देना चाहिये और हिन्दू-धर्म के अच्छे-बुरे दोनों पहलुओं की स्वतंत्रतापूर्वक छान-बीन करके अुनके लिए यह सुविधा कर देनी चाहिये कि हिन्दू धर्म के भव्य मिशन की कल्पना अुन्हें आ जाय।

[७]

सामाजिक रिवाज

भारतीय संस्कृति बहुत प्राचीन है और अुसने समाजहित का विचार बहुत गहराअी में पैठकर किया है। यह संस्कृति काल की कसौटी पर टिकाअू और समर्थ साबित हुअी है। दीर्घ जीवन के लिए जो-जो वस्तुअें आवश्यक हैं वे सब अुसे समय-समय पर मिलती रही हैं। और अिसी-लिए अत्यंत पुरानी होते हुअे भी यह संस्कृति जीर्ण नहीं हुअी है।

भारतीय संस्कृति की अेक श्रद्धा यह है कि जो तत्त्व सचमुच ही अच्छे हैं वे चाहे जितने अिकट्ठे हो जायँ तो भी परस्पर-विघातक नहीं साबित होते; सिर्फ़ हमें यह कला आनी चाहिये कि अिन तत्वों को किस तरह अिकट्ठा किया जाय। यह सारा विश्व अेक रूप है, अिसमें जो चीज़ें अच्छी होंगी अुन सबका आपस में मेल बैठना ही चाहिये और अनुकूल तथा स्थायी मेल हो जाने के बाद अुसमें से आत्मसाक्षात्कार कराने-वाला समृद्ध संगीत—जीवन संगीत—निकलना ही चाहिये। यह श्रद्धा भारतीय संस्कृति की विशेषता है—प्राण है।

और अिसीलिये भारतीय संस्कृति में युद्ध, जीवन कलह, वैर या द्रोह आदि को तात्त्विक स्थान नहीं है। मनुष्य स्वभाव में जो अनेक दोष हैं, जो महान रिपु हैं अुनके प्रादुर्भाव से दुनिया में युद्ध भले ही हों लेकिन युद्ध को जीवन-व्यवस्था के अेक आवश्यक या आध्यात्मिक अंग के तौर पर भारतीय संस्कृति ने कभी स्वीकार नहीं किया है।

अगर भिन्नधर्मियों में ब्याह हो जाता है तो वह किस शास्त्र के अनुसार या किस क़ानून के मुताबिक़ हो सकता है यह जिस तरह तट-स्थता से, निरपेक्षता से तथा दोनों धर्मों की भूमिका की अपेक्षा अुच्च भूमिका पर जाकर निश्चित करना पड़ता है अुसी तरह भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ अेकत्र होने से जब अुनका सहचार शुरू हो जाता है तब

अुनका मेल किन तत्त्वों पर बिठाना चाहिये यह भी बुद्धिपूर्वक तै करना पड़ता है। 'जिसकी लाठी अुसकी भैंस' वाला न्याय प्रकृति में दिखाअी देता है लेकिन वह तो तिर्यक् सृष्टि का है। अिस न्याय में आध्यात्मिक अुच्चता नहीं है, कृतार्थता नहीं है। अैसा कोअी निरपवाद नियम नहीं है कि जब दो संस्कृतियाँ अेकत्र हो जाती हैं तब अुन्हें आपस में लड़ना ही चाहिये और अेक को दूसरी का भक्ष्य बनना ही चाहिये। आर्य और द्रविड़ अिन दो को भिन्न संस्कृतियाँ मान लें तो यह नहीं कहा जा सकता कि अुनका सहचार युद्ध-द्वारा सिद्ध हुआ है। दूध में शक्कर की तरह दोनों परस्पर ओत-प्रोत हो गयी हैं। अिसी तरह की दूसरी मिसाल चीनी और हिन्दी संस्कृतियों के मिलाप की है।

अैसे संस्कृति-सहचार का सामान्य तत्त्व, सामान्य शास्त्र अैसा तो होगा ही कि जो अेकत्र होनेवाली संस्कृतियों के साथ मेल खाये, लेकिन अुसके अलावा वह दोनों से अुच्च तथा श्रेष्ठ भी होना चाहिये।

भारतीय अितिहास कहता है कि संस्कृति-सहचार का यह तत्त्व परस्पर प्रेम और आदर, सद्भाव और समान भाव का है। सत्य, अहिंसा, सरलता, समानता, सहनशीलता, त्याग और विविधता में अुच्च अेकता देखने की दिव्य दृष्टि, अितने गुणों के समुच्चय को ही सहचार का रसायन कहना चाहिये। यह रसायन जिस परिमाण में भारतीय जन-समाज में होगा अुसी परिमाण में विश्वैक्य साधने का कार्य भारतवर्ष कर सकेगा।

भारतवर्ष में सबके लिए प्रवेश है, सबको आमंत्रण है, सबका स्वागत है। यहाँ किसी का त्याग नहीं है, बहिष्कार नहीं है। यहाँ किसी के साथ—व्यक्ति, समाज, समाजमान्य रीतिरिवाज और विविध संस्कृति, किसी के भी साथ—आत्यंतिक असहयोग नहीं है। लेकिन सबको अुपरोक्त सहचार की निष्ठा या भारतीय रसायन का स्वीकार करना चाहिये। जो अिसे स्वीकार न करेंगे अुनका भी बहिष्कार तो नहीं है लेकिन अिस रसायन का महत्त्व जब तक मालूम न होगा तब तक वे भारतीय प्रेम-

-संगीत का सुर नहीं निकाल सकेंगे।

जब तक दुनिया में कलहवृत्ति है तब तक भारतीय संस्कृति को बार बार क्रूस पर चढ़ कर पुनरुत्थान करके बताना होगा। भारतीय संस्कृति का भाग्य ही अैसा है। देव-दानवों ने लोभ या अीर्ष्या से समुद्र-मन्थन किया तो भी विष का हिस्सा तो महादेव जी के ही भाग्य में बदा हुआ।

जिसे प्रतिदिन अग्नि-प्रवेश करना पड़ता है असमें सोने की तरह अेक प्रकार का तेज, अेक प्रकार की मृदुता, अेक प्रकार की सौम्यता और असके साथ अेक प्रकार की दृढ़ता, सत्व, स्वत्व और सर्वग्राहकत्व आ जाता है।

हिन्दुस्तान के सामाजिक रीतिरिवाज आर्य-संस्कृति के द्योतक हैं। अन सबमें जाति तथा व्यक्ति के अनुसार चाहे जितने भेद हों तो भी सर्वत्र अेक प्रधान साम्य अनुस्यूत है। भारतवर्ष की पगड़ियाँ, साफ़े, रूमाल अिन सब में जितनी विविधता है अतनी दुनिया के किसी भी देश में न होगी। और वैसा होने पर भी भारतीय शिरोवेष्टन—सिर की पोशाक—दूसरे देशों के शिरोवेष्टनों से सहज ही अलग दिखाअी देता है। यही बात सभी रस्मोरिवाजों के बारे में सही है।

अैसा होते हुअे भी पुश्त दर पुश्त अैसे रिवाजों में तब्दीली होनी ही चाहिये। शहरों में अैसे हेर-फेर झट झट होते हैं। परिवर्तन की लहर गाँवों और पिछड़े हुअे प्रान्तों में बहुत देर से पहुँचती है। तालाब में पत्थर फेंकने से वीचिमाला के वर्तुल अेक के पीछे अेक किनारे की तरफ़ जाते हैं। यही हाल संस्कृति का भी है। चातुर्वर्ण्य की कल्पना पर नये नये पुट चढ़ाकर 'अठारह वर्ण' नाम से पहचानी जाने वाली लेकिन संख्या में ढाअी सौ-तीन सौ हो जाने वाली जातियाँ हमने पड़ने दी हैं। और अिस तरह कि मानों अन सबको बड़े ठाठ से दरबार में बैठना हो, अनका 'अुचनीच भेद' भी निश्चित कर दिया। सभी जातियों में गुथा हुआ यह अुचनीय भाव का तत्व जीवन-सूत्र नहीं बल्कि अेक साथ सबको फाँसी देने का यमपाश है। लेकिन गाँव के लोगों को अिस बात का

यक़ीन कराते कराते दम निकल जायगा । क्योंकि हमने अुनपर अितने हथौड़े जड़ दिये हैं कि जिससे अुच्च-नीचका भाव अुनकी हड्डी-हड्डी में पैठ जाय । अिन सब कीलों को फिर से अुखाड़ देने में कुछ क्लेश तो ज़रूर होंगे ।

कुटुम्ब या जाति में छोटे-बड़े का भेद तो होता ही है । अुम्र; रिश्ते, तजुर्बे, अक्ल या होशियारी तथा ताक़त के लिहाज से छोटा और बड़ा अिस तरह का भेद पड़ता ही है । लेकिन यहाँ यह भेद विश्वरूप नहीं है । पहली बात तो यह है कि अिस भेद को सबने प्रेम से स्वीकार किया होता है । अिसमें मतभेद नहीं होता । और दूसरी तथा महत्त्व की बात यह है कि अिस सम्बन्ध में जो अुच्च होता है अुसे सबका दास बनना पड़ता है । सबकी सेवा, सबके लिए अपने सुख के त्याग में किसी भी तरह की सीमा न होना, खंड न होना—यही कुटुम्ब का लक्षण है । सबका कहा हुआ सह लेना, सबके आग्रह का खयाल रखना, दिल बड़ा करके सबके दोषों को पी जाना और सन्तोष के साथ सबके चरणों के नीचे की धूल बनने तक शून्य हो जाना ही कुटुम्ब में बड़प्पन का लक्षण है । पृथ्वी को ही 'क्षमा' नाम मिला है । जो कुछ पृथु, विशाल, है वह तो क्षमावान् होगा ही । अैसी स्थिति में बुजुर्गों का अभिमान, बुजुर्गों का हक़, बुजुर्गों का घमंड और बड़ों का बड़ा हिस्सा—अिन सब बातों के लिए कहाँ से अवसर होगा ? कौटुम्बिक न्याय की बड़ाअी दुनिया में जिसे लेनी हो वह ले ले, शौक़ से ले ले । अुसे कोअी नहीं रोकता । (अिस तरह का बड़प्पन लेने को अीसामसीह ने अपने अनुयायियों से कहा था, शायद हिन्दूधर्म के नसीब में यह बड़ाअी आ सकती है । या यह भी हो सकता है कि जब तक अिस तरह की बड़ाअी समाजों-समाजों में प्रस्थापित हो जाय तब तक सभी धर्मों का हृदयैक्य हो गया होगा ।)

जहाँ अैक्य है वहाँ समानता का, बराबरी का सवाल ही नहीं रहता । आदमियों या पेड़ों ने अिस तरह का या अिससे अुलटा झगड़ा कभी

नहीं किया है कि सिर अूपर को किसलिये है और पैर नीचे क्यों है ? जहाँ अेकता की प्रस्थापना करनी है वहाँ अत्यन्त आग्रह के साथ समानता की रक्षा होनी ही चाहिये। भिन्न-भिन्न समाज सरीखेपन के सम्बन्ध से ही साथ-साथ चल सकेंगे।

हम अेक मिसाल ले लें, मांसाहार को त्याज्य मानने वाले दो व्यक्तियों में से अेक अुसका त्याग कर सका है और दूसरे से मांसाशन नहीं छूटता। अैसी स्थिति में दूसरा प्रकृति-दुर्बल व्यक्ति पहले संस्कार-समर्थ व्यक्ति को स्वयं ही श्रेष्ठ समझेगा और पहला श्रेष्ठ व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता को भुलाकर प्रकृति-दुर्बल को पास लेने में, अुसकी मदद करने में सन्तोष मानेगा। मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं पवित्र हूँ और अिसलिये मैं सामान्य लोगों को दूर रखूँगा अैसा कहने या मानने वाला मनुष्य विशिष्ट आचरण में चाहे जितना शुद्ध क्यों न हो, वह है तो महापातकी ही।

परन्तु यह बात ही जिसके गले नहीं अुतरी है कि मांसाहार त्याज्य है, जिसे अैसा ही लगता है कि मांसाहार में कुछ भी अनुचित नहीं है वह अपने को निरामिषाहारी व्यक्ति से कनिष्ठ किसलिये मानेगा ? और निरामिषाहारी को अुसके साथ अूँचेपन के भाव से पेश आने का हक़ भी कहाँ से पहुँचेगा ? वह अपने मन में चाहे जो समझे, बड़प्पन का ढोंग तो अुसे हरगिज नहीं करना चाहिये। अनुभव भी यही कहता है कि अेक क्षेत्र की महत्ता मनुष्य को सार्वत्रिक महत्ता नहीं प्रदान कर सकती। रूढ़ि या वंश-परम्परा से जो निरामिषाहारी है वह सिर्फ़ शाकाहार करता हो तो भी अुसका हृदय संकुचित, निर्दय और कपटी होने की संभावना रहती है। और जो रूढ़ि से मांसाहारी है और रूढ़ि के कारण ही मांसाहार की त्याज्यता जिसके गले अुतरना मुश्किल हुआ है अैसा मनुष्य दूसरी तरह से प्रेमल, अुदार, स्वार्थत्यागी और विश्वासपात्र भी हो सकता है। जीवन को तौलने की दृष्टि से अिस मिसाल में श्रेष्ठ-कनिष्ठ किस तरह निश्चित किया जा सकेगा ?

अिसीलिये जीवन-शास्त्रियों ने यह तै किया कि तुलना करने के

झंझट में पड़ा ही न जाय। सभी को समान समझा जाय। सब व्यक्ति, सब जातियाँ, सब वर्ण, सब आश्रम और सब धर्म समान हैं। खास करके धर्म के बारे में तो आज जो धर्म प्रचलित है अुनपर से और हमारे भाग्य में आये हुअे अुन-अुन धर्मों के अनुयायियों पर से किसी भी धर्म की प्रतिष्ठा ठहराना अुचित नहीं है। प्रत्येक धर्म का हार्द अुसके अनुयायियों से तो बड़ा होता ही है, लेकिन अुसमें भी विशेष बात यह है कि वह अपने धर्मग्रन्थों और शास्त्र वचनों से भी अूँचा होता है।

हम कहते हैं कि प्रत्येक हृदय में आत्मा का निवास होता है, लेकिन दुष्ट, दग़ाबाज़, कृतघ्न, हीन, द्रोही हृदयों में भी आत्मा है और यथा-समय वहाँ आत्मा की अर्थात् धर्मबुद्धि की विजय होने वाली है अितनी श्रद्धा या आस्तिकता हम नहीं दिखाते। अिस आस्तिकता का जब हममें अुदय होगा तभी हमारा आचरण अचूक धर्मानुकूल होगा।

धर्माधर्म के बारे में तो अितनी भी श्रद्धा हम नहीं दिखाते। सभी धर्मों में अीश्वर है, आत्मतेज है, सभी धर्म अुन्नतगामी हैं, सभी धर्मों में सत्यपरायणता, प्रेमपरायणता है। सभी धर्म अीश्वर को प्रिय हैं। अिस बात को तत्त्व में भी स्वीकार करने के लिए आज लोग तैयार नहीं हैं, तो भला अुसके अनुसार बर्ताव करने के लिए वे कहाँ से तैयार होंगे?

[आस्तिकता के मानी क्या हैं? अलग-अलग समयों पर अिस शब्द के अलग-अलग अर्थ हुअे हैं। आजकल अुसका अर्थ यह होता है कि जिसका अीश्वर पर विश्वास है वह आस्तिक है। पुराने ज़माने की यह धारणा है कि जो वेद का प्रामाण्य स्वीकार करता है वह आस्तिक है। जो वेद का प्रामाण्य स्वीकार करता है और अीश्वर का अस्तित्व नहीं मानता वह भी अूपर की परिभाषा के अनुसार आस्तिक ही समझा जायगा—जैसा कि निरीश्वरवादी सांख्य। और जिसका अीश्वर पर विश्वास है फिर भी जो वेदों को प्रमाण नहीं मानता वह नास्तिक है।

अिससे भी व्यापक अर्थ का विचार किया जाय तो जिसका पारलौकिक जीवन पर विश्वास है वह आस्तिक है; या जिसमें यह श्रद्धा है कि आत्मा है, वह अमर है, सत्यसंकल्प है, वह आस्तिक है।

अूपर के विवेचन में आस्तिकता का अैसा ही किन्तु कुछ अलग-सा अर्थ लिया है और अुसे स्पष्ट किया है।

प्रस्थानत्रयी का समन्वय करना धर्म-बुद्धि की अूँची कसौटी मानी जाती थी। सर्वदर्शन-समन्वय अुससे अगला क़दम था। अब वैदिक धर्म, यहूदी धर्म, पारसी धर्म, चीन का धर्म तथा अिस्लामी और अिसाअी धर्म आदि सब धर्मों का समन्वय करना आज का काम है। सभी धर्मों के प्रति सद्भाव न हो तो अिस तरहका समन्वय नहीं किया जा सकता। यह सद्भाव ही आज की आस्तिकता है, यही मानव्य श्रद्धा है।]

सामाजिक रिवाज बदलने और समाज को नया आकार देने में धर्म-शैथिल्य या सिर्फ व्यवहारवाद नहीं होना चाहिये। नवयुग की व्यापक संस्कृति और धर्म जीवन को ध्यान में रखकर ही रीति-रिवाजों में परिवर्तन होने चाहिये। अिसलिये यहाँ तक किये हुअे विवेचन की आवश्यकता थी।

सभी धर्मवालों की यह धारणा है कि जो अपने धर्म का न हो वह धर्म-बाह्य है। अिस धारणा को तोड़ देना चाहिये। अैसा करने से सदाचार का नया नक्शा बनाने का नया ही नाप हमारे हाथ आ जायगा।

स्त्री पुरुष, सब जातियाँ, सब धर्म, सब पंथ समान हैं। सब आदरणीय हैं। अितनी श्रद्धा हो जाने के बाद आप ही आप समझ में आ जायगा कि परस्पर किस तरह बरतना चाहिये। जो भिन्न हैं वे विभक्त न रहकर अेक-दूसरे के साथ ओत-प्रोत होने का प्रयत्न करें, सहायता का आदान-प्रदान करें, अेक-दूसरे के अुत्सवों—समारोहों में शामिल हों, जहाँ आघात पहुँचने की संभावना हो वहाँ सँभाल लें, और अैसा करके अपने को तथा दूसरों को समृद्ध करें। अैसा करने में अपनी निष्ठा छोड़नी नहीं होती, बल्कि अुसे अुदात्त बनाना होता है।

हमारे पुराने रीतिरिवाजों में कअी बातें अैसी हैं जो पुराने ज़माने के ही लायक़ हैं। अुन्हें आज या तो तोड़ ही देना चाहिये या बदल देना चाहिये। छुआछूत का शास्त्र बेमानी, कृत्रिम और घातक बन गया है। अुसके स्थान पर शुचिता का व्यावहारिक शास्त्र दाखिल करना चाहिये। मांसाहार और शाकाहार का भेद आग्रहपूर्वक रखना चाहिये लेकिन साथ-साथ अैसा प्रबन्ध भी होना चाहिये कि जिससे मांसाहारी और शाकाहारी अेक पंगत में बैठ कर खाना खा सकें। यह आग्रह भी अच्छा है कि कोअी किसी का जूठा न खाये। भंगियों, नौकरों तथा अपनी पत्नी या छोटे बालकों को भी जूठा खाने नहीं देना चाहिये। शाकाहारी लोगों को चाहिये कि अुनके अनुकूल पद्धति से बनाया हुआ खाना, फिर वह चाहे जिसके हाथ से क्यों न बना हो, वे खायें। कुओं में साफ़ बर्तन ही डुबोये जायँ अितनी सावधानी रखने के बाद ब्राह्मण, अंत्यज, हिन्दू, मुसलमान, अीसाअी, पारसी आदि सभी के लिए समान रूप से कुओं खुले रहने चाहिये।

स्त्रियों का जीवन बिलकुल ही घरघुसा हो गया है, अिसलिये वे पंगु, डरपोक, प्रसंगावधान-शून्य और परावलंबी बन गयी हैं। अुन्हें व्यापक सामाजिक जीवन का अनुभव कराना चाहिये। सार्वजनिक कामों में मवेशियों के झुण्ड की तरह जमा होने के बजाय अुन्हें मनुष्य की तरह ज़िम्मेदारी के साथ अुनमें शरीक होना चाहिये।

स्त्रियों के बारे में अेक बहुत ही नाजुक सवाल रह जाता है। कुछ जातियों में मासिक रजोदर्शन की छुआछूत नहीं मानी जाती और कुछ जातियों में अुसका सख्ती के साथ पालन किया जाता है। असल में होना यह चाहिये कि अस्पृश्यता की अपेक्षा स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान दिया जाय; लेकिन वह तो दोनों में से अेक भी जगह नहीं दिया जाता। अगर आदर्श स्वच्छता का पालन किया जाय और रजस्वलाओं को तीन या पाँच दिन तक शरीर, मन तथा काम संबंध का आराम दिलाने की सावधानी रखी जाय तो—और तभी—दूर बैठने के रिवाज

में से अस्पृश्यता का ढोंग बहुत कुछ कम हो सकेगा। कुछ जातियाँ अगर सफ़ाई के ऊँचे आदर्श का पालन कर सकती हैं तो आग्रहपूर्वक तथा सतत दी जानेवाली शिक्षा से सबके लिये वह सम्भव हो जाना चाहिये।

हमारे बहुत-से पुराने रिवाज खर्चीले होते हैं। उनमें आमदनी और खर्च का मेल नहीं दिखाई देता। दंभ और कृत्रिम प्रतिष्ठा का ही बोलबाला रहता है। कोई भी सामाजिक रिवाज किसी भी समय में सत्य से जुदा नहीं होना चाहिये। दंभ, कृत्रिमता, पाखंड, ढोंग—इन सबको तनिक भी सहारा नहीं मिलना चाहिये। आलस्य, ऐदीपन और पराश्रय को जड़मूल से उखाड़ देना चाहिये।

प्रत्येक व्यक्ति सिर्फ अपना या अपने परिवार का ही हिताहित देखता है। इसके बदले उसे सामाजिक कल्याण की व्यापक दृष्टि आग्रहपूर्वक अपनानी चाहिये। सार्वजनिक हित के काम संघशक्ति से करने का उत्साह बढ़ाना चाहिये। और प्रयत्न हमेशा होने चाहिये कि जिससे समग्र सामाजिक जीवन उन्नत हो। ऐसे नये रिवाज चलाने चाहिये जिनसे बारबार विचार, चर्चा होती रहेगी और जनमन जाग्रत रहेगा।

---

[८]

वर्णव्यवस्था

वर्णव्यवस्था गुणकर्म विभागशः है। अिन दो में से गुण ज्यादातर आनुवंशिक होने से और कर्म अर्थात् अुपजीविका के अुद्योग या धंधे में भी कुल-परंपरा का महत्त्व अधिक होने से वर्णव्यवस्था मनुष्य के जन्म के अनुसार निश्चित करने में अवैज्ञानिकता या अन्याय जैसा कुछ नहीं है। अैकॉर्डिंग टु बर्थ (यानी जन्म अनुसार) या अैकॉर्डिंग टु वर्थ (यानी योग्यता के अनुसार) अैसा काल्पनिक विरोध खड़ा करके चातुर्वर्ण्य का विरोध करने में कुछ भी मतलब नहीं। गुणकर्म विभाग बहुत कुछ जन्म के अनुसार ही आते हैं अिसलिये चातुर्वर्ण्य अीश्वरकृत (गीता के भगवान की भाषा में 'मयासृष्टं') माना गया है। लेकिन अिसमें शक नहीं कि चातुर्वर्ण्य का आधारभूत तत्त्व गुण और कर्म है। गीता में जहाँ ब्राह्मणों का कर्म कहा गया है वहाँ वे गुण ही हैं। क्षात्रकर्म के विषय में भी यही कहा जा सकता है। मगर वैश्य-शूद्रों के बारे में जो स्वाभाविक कर्म कहे गये हैं वे तो कर्म ही हैं।

ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्ण प्रत्यक्ष रूप से समाज-सेवा-परायण होने से अुनकी आजीविका समाज चलाता है। लेकिन वैश्य और शूद्र को तो आजीविका प्राप्त करने के लिये विशिष्ट कर्म करने पड़ते हैं। अिसी वजह से अूपर बताया हुआ भेद किया गया होगा। मनुस्मृति ने तो ब्राह्मणों के लिये छः कर्म बनाकर अैसा कहा है कि अुनमें से तीन (अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह) आजीविका के लिये तथा तीन (यजन, दान और अध्ययन) धर्म अर्थात् समाज-सेवा के लिये चाहिये। अिनमें से अध्यापन द्वारा आजीविका मिलती हो तो भी अुसका मुख्य अुद्देश्य समाज-सेवा ही है। आजीविका के लिये अध्यापन करने वाला 'अुपाध्याय' ब्राह्मण वर्ग में भी बहुत प्रतिष्ठा नहीं पाता।

किसी भी व्यवसाय में मनुष्य वर्ण के अनुसार भिन्न वृत्ति से रह सकता है। दर्ज़ी की बड़ी दूकान में हर रोज़ की मज़दूरी लेकर सीना, घुंडियाँ टाँकना आदि फ़ालतू काम करने वाला दर्ज़ी शूद्र दर्ज़ी है। सिलाओी की बड़ी दूकान चलाने वाले दर्ज़ी को वैश्य दर्ज़ी कहा जा सकता है। शहर के सभी दर्ज़ियों का संगठन करके, मौक़ा आ जाने पर समाज या सरकार के ख़िलाफ़ हड़ताल कराके दरज़ी जाति के अधिकारों की रक्षा करने वाले को क्षत्रिय दरज़ी कहना चाहिये। और दरज़ी काम के वर्ग चलाकर अुस कला का पूरा ज्ञान, सिखाने में बिलकुल दिल चुराये बिना, देने वाले को ब्राह्मण दरज़ी कहा जा सकता है ('यतिधर्म-संग्रह' ग्रंथ में दस प्रकार के ब्राह्मणों का वर्णन अत्रि-स्मृति से अुद्धृत किया गया है; वह अिस सम्बन्ध में ज़रूर देखने लायक़ है। अुसमें क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य ब्राह्मण, म्लेच्छ ब्राह्मण आदि वर्ग बनाकर अुनके लक्षण बताये हैं। जाति और वर्ग अिन दो तत्त्वों के मिश्रण से अिस तरह का वर्गीकरण अुत्पन्न होता है।)

यहाँ तक 'गुणशः' पद के विषय में हमने विचार किया। लेकिन समाज में चलने वाले सभी अिष्ट धंधों को वंश-परंपरा से चलाकर समाज द्रोही होड़ बंद करने के लिये ही वर्णव्यवस्था की प्रधान रूप से रचना की गयी है।

अपने से हो सके अैसा चाहे जो काम समाज-सेवा के लिये परोपकार-वृत्ति से चाहे जो करे। क्योंकि वैसा करने में आजीविका की स्पर्द्धा नहीं है। वर्णव्यवस्था का यह आग्रह है कि आजीविका का जो व्यवसाय तुम करोगे वह वंशपरंपरा से प्राप्त हुआ या अुसी तरह का कोअी दूसरा व्यवसाय होना चाहिये। अिसीलिये समाज की दृष्टि से सभी वर्ण समान समझे गये हैं। प्रत्येक वर्ण अपने अपने स्थान पर श्रेष्ठ है—अिस तरह का कल्याणकारी सिद्धान्त न हो तो स्पर्द्धा नहीं रुक सकेगी, और दुनिया में के द्रोह, विग्रह या असूया बंद न हो सकेंगे। वंशपरंपरा के संस्कारों के कारण स्वकर्म और स्वधर्म के अनुशीलन से असाधारण कौशल की

प्राप्ति होती है। सामाजिक रूप से विचार करते हुये यह बहुत बड़ा लाभ है। वकील के लड़के को घुट्टी में ही वकालत पड़ती है। अुसके बड़े हो जाने पर पुराने मुवक्किल भी अुसे पहले से ही हमेशा के लिये मिल जाते हैं। अिस तरह वकील और मुवक्किल में घरोपे का सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है। आर्य समाज-शास्त्र का यह नियम था कि कोअी भी धंधा पैसा जमा करके रखने के लिये नहीं करना चाहिये और प्रत्येक धंधे का बदला अुस अुस ज़माने के 'सर्वभूतहितेरताः', निष्पक्ष और निःस्पृह समाज-सेवक ऋषियों ने निश्चित कर दिया था, अिसलिये अलग-अलग धंधों में अीर्ष्या पैदा होने का कोअी कारण नहीं रहता।

अैसा हो सकता है कि किसी अेक अपवाद रूप व्यक्ति को पीढ़ियों से चला आया हुआ अपना व्यवसाय पसन्द न हो और दूसरा ही कोअी व्यवसाय अधिक अनुकूल हो; लेकिन अैसे अपवाद के कारण समाज-व्यवस्था को व्यवस्थाशून्य या तंत्रशून्य बनाना बुद्धि-शून्यता का लक्षण है। अैसा समझने को कुछ भी कारण नहीं है कि अुपजीविका की व्यवस्था की रचना केवल समाजहित की दृष्टि से ही करने में व्यक्ति का विकास कुंठित होता है। करघे पर कपड़ा बुनकर पेट भरने वाले कबीर साहब और तंबू बनाकर अपना तथा अपने शिष्यों का पेट भरने वाले सेंट पाल का विकास किस तरफ़ से कुंठित हुआ था?

स्त्रियाँ खास करके बच्चों की परवरिश में लगी रहने के कारण अुन्हें आजीविका के लिये स्वतंत्र धंधा करने की ज़रूरत नहीं रहनी चाहिये। पति के धंधे में वह मदद करे तो अुसी में सब कुछ आ जाता है। अैसी हालत होने से, जिस तरह गोत्र के बारे में नियम है अुसी तरह वर्ण के बारे में भी यह निश्चय हो सकता है कि जो वर्ण पति का है वही पत्नी का भी हो। जहाँ रहन-सहन और विचार-प्रणाली परस्परानुकूल हों और दूसरी कोअी भी आक्षेपार्ह बात रुकावट न डालती हो तो वर्णान्तर-विवाह होने में समाज-द्रोह या धर्महानि नहीं है। अैसी बाबतों में व्यक्तिओं को ही अपने हित-अहित का विचार करना होता है।

अैसा आग्रह रखने से भी कि अिस तरह के वर्णान्तर विवाह होने ही चाहिये, वे बहुत होने वाले नहीं हैं। और समाज हितैषी लोग अगर अुचित अपवादों का विरोध न करके अैसे सम्बन्धों को आशीर्वाद ही देंगे तो सामाजिक वायुमंडल नीरोगी और ज़िन्दा रहेगा।

धर्म का अध्ययन, आचरण तथा कालानुरूप संस्करण आदि बातों को प्रधानता देकर समाज के संस्कार, ज्ञान, कौशल और पराक्रम वृद्धि करने के लिए जो लोग समाज सेवा का वरण करें वे ब्राह्मण हैं।

धर्मशास्त्र का (अिसमें समाजशास्त्र पूर्णरूप से आ जाता है) संपूर्ण अध्ययन करके, समाज के सारे व्यवहार की ज़रूरी जानकारी हासिल करके, समाज के सब वर्गों और घटकों के रक्षण-पालन की ज़िम्मेदारी निष्पक्षता और जागरूकता के साथ निबाहने वाला क्षत्रिय है।

समाज के नित्य-वर्धमान भिन्न-भिन्न अंगों के लिये जरूरी चीज़ें बनाकर देनेवाला और समाज के अुपयुक्त अनेक प्रकार का ज्ञान तथा कौशल प्राप्त करके अुसका मुआवज़ा लेकर अुसे समाज को देनेवाला और वस्तु तथा कौशल प्राप्त करने, बेचने और अपने जीवन में धर्म-यानी समाजहित का अुल्लंघन न करनेवाला वैश्य है।

परिचर्या अर्थात् शारीरिक सेवा लेना या देना समाजहित की दृष्टि से बहुत हितकारी नहीं है। जो काम हर अेक को ख़ुद ही करने चाहिये वे दूसरों से कराने में दोनों तरफ़ से व्यक्ति और समाज का अहित ही होता है। परिचर्या करनेवाला और करानेवाला दोनों परस्पर आश्रित ही हो गये। बालक, वृद्ध, बीमार, दुर्बल या पागल, अितने ही लोग स्वभावतः परिचर्या के अधिकारी हैं। अैसे लोगों की परिचर्या जहाँ तक हो सके, कुटुम्ब के लोगों को ही वक्त निकालकर आद्यधर्म समझकर करनी चाहिये। परिचर्या आजीविका का व्यवसाय नहीं बनना चाहिये। समाज जब हीन हो जाता है, तब समाज-सेवा के क्षेत्र में धंधेदार लोग घुस जाते हैं और सेवा के काम धंधे के साधन बन जाते हैं।

समाजहित की दृष्टि से परिचर्या भयावह है, यह विचार प्राचीन आर्यों में जितना चाहिये अुतना जाग्रत नहीं था। प्राचीन काल के आर्यसदृश ग्रीक-यवन लोग तो अैसा ही मानते थे कि 'परिचारक गुलाम समाज के स्वाभाविक अंग ही हैं।' आज हम यह साफ़ तौर पर देख सकते हैं कि परिचर्या के दोष के कारण आर्य और ग्रीक दोनों संस्कृतियाँ नीचे गिरी हैं। अिसलिये गुलाम, शूद्र और अंत्यज आदि वर्गों का हमें नये सिरे से विचार करना चाहिये।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्ण संस्कार-प्रधान हैं। ये संस्कार ग्रहण करने की जिनमें योग्यता ही नहीं है या जिन्हें संस्कार देने में समाज असफल हुआ है अुन लोगों के लिये परिचर्या ही आजीविका का साधन रह जाता है। परिचर्या करनेवाले को अेक ही गुण आत्मसात् करना पड़ता है—नम्रता, सन्तोष अर्थात् असूया का अभाव।

अेक तरफ़ से परिचर्या का क्षेत्र ही संकुचित करते जाना और दूसरी तरफ़ से शिक्षाशास्त्र में नये-नये प्रयोग करके संस्कार देने की निष्फलता के क्षेत्र को बिलकुल मिटा देना समाज के अुत्कर्ष का लक्षण है। अैसा करने से शूद्र वर्ग ही नामशेष हो जाना चाहिये। जिस समाज में शूद्र वर्ग बहुत बड़ा है अुसके बारे में यह कहना होगा कि वह गले में बड़ा पत्थर बाँधकर तैरने का मिथ्या प्रयत्न करता है। अैसा समाज पराधीन होगा ही।

शिक्षा और स्वावलंबन के विकास से शूद्र वर्ग के स्थान को नष्ट करके बाक़ी के तीन वर्णों का विचार करें। आलस्य और विलास ये दो दोष अगर कम हो जायँ तो लोभ और मत्सर भी कम हो जायेंगे। सन्तोष और पराक्रम दोनों अगर पूर्ण मात्रा में बढ़ें तो कोअी किसी को नहीं लूटेगा, कोअी किसी के साथ अन्याय नहीं करेगा। अुस हालत में प्रजारक्षा में ही जीवन बितानेवाले क्षत्रियों की संख्या आप ही आप कम होगी। जिस तरह हम यह नहीं चाहते कि समाज में रोग बढ़ें और डाक्टर लोगों का धंधा तेज़ी में रहे, अुसी तरह यह अिच्छा भी अनुचित

समझी जायगी कि लूटमार, अन्याय, ज़ुल्म-ज़बर्दस्ती बढ़ती रहे और पड़ौस के राष्ट्र शेर-भेड़िया की तरह बनें और फिर अुनसे जनता की रक्षा करने का मौक़ा क्षत्रियों को मिले व अुनकी प्रतिष्ठा और समृद्धि बढ़ती रहे। जिस तरह हमारी यह अिच्छा होती है कि आग के बम्बे-दमकल, अकाल में मदद देनेवाली संस्थाअें और दवाख़ाने काम के बिना बेकार पड़ें, और फिर भी सजगता से अुनकी तैयारी रखते हैं अुसी तरह रक्षापरायण, कमर कसकर लड़नेवाला, जान की परवाह न करनेवाला, पक्षपातरहित और व्यसनयुक्त क्षत्रियवर्ण रखना चाहिये। अितनी तैयारी रखने पर भी हमारी यह अिच्छा और यह आदर्श रहना चाहिये कि समाज में आदर्श मानवता फैले और क्षत्रियवर्ण की ज़रूरत ही न रहे।

जब तक मनुष्य जन्म से ही शिक्षासम्पन्न और संस्कारसम्पन्न नहीं होगा तब तक ज्ञानदान करनेवाला वर्ग अवश्य रहेगा। अुस वर्ग के हाथ में सत्ता और मत्ता (अुसके साधन) दोनों नहीं रहने चाहिये। अगर अैसा प्रबन्ध हो जाय कि अिस वर्ग के लोग सत्य और सेवा, स्वावलंबन और ग़रीबी के बलपर ही सुख-सन्तोष से रहें तो अिस वर्ग के बढ़ने से किसी को कभी दुःख या भय नहीं होगा। लेकिन अिस वर्ग की संख्या हमेशा परिमित ही रहेगी, ब्राह्मणों का आदर्श कड़ा होने की वजह के वंशपरम्परा से प्राप्त होनेवाले संस्कारों की मदद से ही अुसका पालन आसान हो सकता है। फिर भी अपने अुज्ज्वल जीवन-क्रम से चाहे जिस वर्ण के मनुष्य के लिये सेवाकार्य करना शक्य है और होना चाहिये। अैसा मनुष्य निरहंकारी ही होगा, और सब वर्ण समान हैं—अिस तरह की सामाजिक बुद्धि दृढ़ हो जाने पर वह ब्राह्मणवर्ण में पैदा न हुआ हो तो अपने को ब्राह्मण कहलवाने का आग्रह ही न रखेगा। अिससे अुलटा यह भी अुतना ही सही है कि समाज भी अुसका जीवन-क्रम देखकर अुसे ब्राह्मण कहे बिना न रहेगा। अैसे लोगों के वंशज अगर अुसी आदर्श को जारी रखें तो आप ही आप ब्राह्मण कुलों में हिलमिल

जायेंगे—यह बिलकुल स्वाभाविक है।

अब रहा अेक वैश्यवर्ण। वेद में विट् या विश् का अर्थ 'वैश्य' भी होता है और आम तौर पर 'मनुष्य' भी होता है। यह यथायोग्य ही है। क्योंकि विराट मनुष्य समाज हर हालत में वैश्य ही होगा। इस वैश्य समाज में सब प्रकार के धन्धे वाले आ जाते हैं। किताबें लिखकर पेट भरने वाला, दीवान का काम करके राज्य चलाने वाला, वेतन लेकर सरकारी न्यायाधीशका काम करने वाला और चमड़ा सिझाकर उसके जूते बनाने वाला—ये सभी, किसान, चरवाहा, ग्वाला, गड़रिया, जुलाहा, बनजारा आदि लोगों की तरह वैश्य ही हैं। एक वैश्य वर्ण में असंख्य जातियों की जमातें समा जाती हैं। ऐसा कुछ नहीं है कि इन सब जमातों में परस्पर विवाह होंगे ही; लेकिन वर्णव्यवस्था के अनुसार प्रतिबन्ध तो नहीं होना चाहिए। इस तरह विवाह व्यवस्था का निबन्धन स्वाभाविक होने से समाज विशेष रूप से सुसंगठित और बलवान होगा और स्त्रियों की हालत तो बहुत कुछ सुधर जायगी।

—१९३२]

सातवर्ण

वर्ण यानी रंग। पुराने ज़माने में सफ़ेद, लाल, पीला और काला अिस तरह चार वर्णों के चार रंग माने गये थे। गायन विद्या में जिस तरह राग रागिनियों के रूप, रंग और रिश्तों आदि की कृत्रिम रूप से कल्पना की गई अुसी तरह ब्राह्मणादि वर्णों के चार रंगों की कल्पना की गई। अिसके कारण अपने गोरे चमड़े का अभिमान रखने वाले पश्चिमी अन्वेषकों को यह कहने का मौक़ा आसानी से मिल गया कि भारतवर्ष के आर्य लोगों में भी अिसी तरह का वर्णाभिमान था। यह भी कहा जाता है कि तीन वर्ण अेक ही आर्य जाति के थे और शूद्र आर्येतर एवं अिस देश के मूल निवासी थे। जो हो; मेरे मन में ऐसी अेक कल्पना पहले आअी कि अगर सूर्य-प्रकाश के रङ्ग या वर्ण सात हैं तो आर्य-कल्पना के अनुसार सम्पूर्ण समाज व्यवस्था में भी सात वर्ण क्यों न हों? समाज की प्राथमिक अवस्था में यह स्वाभाविक था कि सभी प्रकार के काम अेक ही व्यक्ति करे। जैसे-जैसे समाज विकसित होता जाता है वैसे-वैसे कार्य भेद—कर्तव्य भेद स्थिर हो जाने से वर्ग या वर्ण निश्चित होते जाते हैं। अिस दृष्टि से देखा जाय तो यह यथायोग्य ही हुआ कि श्रुति स्मृति-पुराण काल में आर्य समाजशास्त्र ने पहले तीन और बाद में चार वर्णों की कल्पना की लेकिन अब जब कि समाज अधिक जटिल हुआ है और जीवन-क्षेत्र का विस्तार बढ़ा है, तब अुन चार में और तीन वर्ण जोड़कर इन्द्रधनुष के सात रंगों की तरह वर्ण-व्यवस्था को सम्पूर्ण तथा सुंदर क्यों न बनाया जाय—यह मूल कल्पना थी।

प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है कि पहले अेक ही वर्ण था। बाद में अुसके तीन और फिर चार वर्ण हो गये। लेकिन अैसा लगता है कि यह बात विकासवाद की नहीं बल्कि युग-ह्रास की दृष्टि से कही गयी है।

वह बात यह कि 'पहले अेक ही देव था, अेक ही वेद था और वर्ण भी अेक ही था।' (महाभारत) अेक वर्ण अर्थात् ब्राह्मणवर्ण। जिस समय धर्म समाज में सम्पूर्ण रूप से जाग्रत होता है और सभी लोग अत्यंत पवित्र, सत्यनिष्ठ तथा दीर्घायु होते हैं उस समय यही स्वाभाविक है कि अेक ही वर्ण रहे। अिसी कल्पना के फल-स्वरूप अूपर की बात कही गयी होगी। आज भी हमें अैसा लगता है कि अगर सभी लोग सुशिक्षित, संस्कार-सम्पन्न, स्वावलम्बी, सन्तोषी, सत्याग्रही और मोक्षपरायण हो जायँ तो समाज में अेक ही वर्ण बाक़ी रहेगा। बौद्ध, जैन, सिक्ख, ब्रह्मो आदि आर्य सम्प्रदायों में भी चातुर्वर्ण्य की कल्पना को अुत्तेजन नहीं मिला है। हिन्दुओं द्वारा केवल हिन्दुओं के लिये ही चलायी जाने वाली शिक्षा संस्थाओं में भी आज चातुर्वर्ण्य को अुत्तेजन नहीं मिलता। यह सही है कि पुराने आचारों का थोड़ी सी अदाओं को जारी रखने के लिये बाह्य व्यवहार में थोड़े से दिखावटी वर्ण-भेद का पालन कुछ संस्थाओं में किया जाता है, लेकिन यह कहने में कोअी हर्ज नहीं कि शिक्षा-पद्धति और विद्यार्थियों का व्यापक जीवन निर्वर्ण्य या अेकवर्णी यही होता है। यह निश्चित करना भी मुश्किल है कि यह अेक वर्ण कौन सा है। मध्यम श्रेणी के युवकों को किताबी शिक्षा देने का अेकमेव उद्देश्य साधने का अिसमें अिरादा होता है। जहाँ वैश्य तथा शूद्र वर्ण के लक्षण अिकट्ठा हुअे हो वहाँ अगर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ण के लक्षण दिखाअी दें तो भी वे केवल शोभारूप ही हैं। यह अेक बड़ा सवाल है कि जीवन शिक्षा और संस्कारों में जहाँ वर्ण का लोप हो रहा है वहाँ चार की जगह सात वर्णों की कल्पना समाज के सामने रखना कितना व्यावहारिक है। अिस तरह की अेक शंका भी अुठती है कि चार की जगह सातवर्ण करके समाज-सङ्गठन को हम कहीं विशेष दुर्घट तो नहीं बना रहे हैं? परन्तु अगर यह श्रद्धा सच्ची और दृढ़मूल होगी कि वर्णव्यवस्था शास्त्रशुद्ध है और मानव जाति के अुत्कर्ष तथा अभ्युदय के लिये कारणभूत है और अगर सचमुच ही समाज-शास्त्र की दृष्टि से

वर्णव्यवस्था शास्त्रशुद्ध साबित होने वाली होगी तो वर्ण बढ़ें या घटें, अुसकी परवाह करने की कोअी ज़रूरत नहीं है।

सामाजिक जीवन में धन्धे या व्यवसाय अगणित हैं, लेकिन हमें पहले यह देखना चाहिये कि समाज के अस्तित्व, स्थिरता तथा अभ्युदय के लिये अत्यंत आवश्यक सामाजिक वर्ग कौन-कौन से पड़ सकते हैं। अुसके बाद यह तै करना चाहिए कि रहन और विचार पद्धति के अनुसार अुनके कितने विभाग हो सकते हैं। कुछ धन्धों को विशिष्ट समय पर असाधारण महत्व प्राप्त होता है और कुछ बिना किसी कारण के हीन समझे जाते हैं। हुनरमन्द और कलाधर लोगों को प्राचीन समय में यथोचित प्रतिष्ठा नहीं मिलती थी। अेक ज़माने में अुन्हें शासन तंत्र की तरफ़ से सविशेष रक्षा और आश्रय मिलते थे। लेकिन अुसके साथ स्वाभाविक स्वतंत्रता बहुत-कुछ कम हो जाती। कभी-कभी तो अुनकी हालत ग़ुलामों की-सी हो जाती। अिससे विपरीत पश्चिमी देशों में आजकल अिन वर्गों को अुनकी योग्यता से अधिक समाज धुरीणों या समाजगुरु का पद प्राप्त होने जा रहा है। यह ठीक है कि अिस भेद के लिये अैतिहासिक कारण पर्याप्त और सबल हैं, लेकिन वर्णव्यवस्था का विचार करते समय हमें जहाँ तक हो सके वैज्ञानिक तटस्थता रखनी चाहिए।

यह कहावत सारे समाज पर भी चरितार्थ होती है कि सेना अपने पेट पर चलती है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्य अन्नमय है और अन्न-वस्त्र-प्राप्ति जीवन का मुख्य आधार है। अिनमें भी वस्त्र के लिये लगने वाला कच्चा माल प्रधानतया वनस्पतिजन्य होने से अन्न वस्त्र का विचार अेक ही साथ करना पड़ता है। लेकिन वस्त्रनिर्माण या कपड़ा बनाने की कला जटिल तथा दीर्घकालीन होने के कारण कपड़ा तैयार करना अेक स्वतंत्र धन्धा भी हो सकता है। खेती और बुनाअी के धन्धों को अेकत्र समझा जाय या भिन्न? ये धन्धे भिन्न हों तो भी अुनका वर्ण अेक ही रखना शायद अधिक अुचित होगा। लेकिन अिस विषय का भी गहराअी के साथ विचार करना चाहिये, क्योंकि

खेती के धंधे में जो विविधता होती है, भूमि, पशुपक्षियों, पर्जन्यादि प्राकृतिक शक्तियों तथा विविध मनुष्य-जीवन के साथ जितना सम्बन्ध किसान का आता है अुतना जुलाहे का नहीं आता। जुलाहे का धंधा क्रयविक्रय रूपी बाज़ार की संस्था के साथ जितना सम्बद्ध है अुतना खेती का धंधा शायद न भी हो। खेती के व्यवसाय में ऋतुओं के अनुसार जो विविधता रहती है वह भी जुलाहे के काम में नहीं हुआ करती। अिन दोनों धंधों में मुख्य समानता यह है कि दोनों मनुष्य जीवन के लिये अत्यावश्यक है और दोनों में पुरुषों के साथ बराबरी का हिस्सा लेना स्त्रियों के लिये शक्य और आवश्यक होता है। होशियार, मेहनती और अुत्साही किसान फ़ुरसत के दिनों में बुनाओ का व्यवसाय अपने घर पर ही कर सकता है, यह भी नहीं भूलना चाहिये।

अिन दो धंधों के बाद अुतने ही महत्त्व का किन्तु कम लोगों को रोकने वाला धंधा है बढ़ओ गोरी और लुहार का काम करने वाले कारीगरों का। खेती और जुलाहों के औज़ार, घर में आवश्यक कओ तरह का साज़ समान और खुद घर आदि बनाने के लिये बढ़ओ, लुहार, राज, कुम्हार आदि कारीगरों की आवश्यकता रहती है।

अन्न, वस्त्र, घर और मनुष्यता के मुख्य लक्षण जो औज़ार तथा माल व असबाब—अितनी चीज़ों का अिन्तज़ाम हो जाने के बाद आदमी को अगर किसी की ज्यादा ज़रूरत महसूस होती हो तो वह है समाज के बुद्धिमान पुरुषों की। अिस बुद्धिमान पुरुष को नयी-नयी कल्पनायें सूझती हैं, मनुष्य स्वभाव की जानकारी रहती है, पुराने प्रसंगों की याद रहती है, अुसका स्वभाव बहुत कुछ प्रयोगपरायण होता है और दूसरों की कठिनाओ को अपनी ही समझकर अुसे दूर करने के लिये कोशिश करने जितना अुसके हृदय का विकास हुआ होता है। अिन सब गुणों के कारण वह सबको प्रिय होता है। जिस तरह सभी पशु पानी पीने के स्थान की ओर हररोज़ जाते हैं अुसी तरह समाज के सब लोग कठिनाओ के वक्त अुसी की तरफ़ दौड़ते हैं। समय बीतने पर लोगों को खास मौक़ों पर

आज्ञा देने की योग्यता अुसमें आती . है। अिस योग्यता के कारण ही सबके पक्ष देख-सुनकर सबको अिन्साफ़ देने का काम अुसपर आ पड़ता है। सबको समदृष्टि से देखने की योग्यता बढ़ाना अुसके लिये अपरिहार्य हो जाता है।

अुसकी बुद्धि, अुसकी भावना शक्ति, कल्पकता, सामर्थ्य और समय समाज-सेवा में ही अधिकाधिक लगा रहने के कारण अुसके व्यक्तिगत सुख-स्वास्थ्य पर ध्यान देने की फ़िक्र समाज को होने लगती है। अग्रता का सम्मान अुसके भाग्य में आ जाता है। अिस तरह प्रतिष्ठा के साथ अुसका वैभव भी बढ़ता है।

अितने पर ही अगर अिन सयाने की प्रगति नहीं रुकी तो अुसमें अुदारता, निस्पृहता, और स्वसुख के विषय में निरभिलाष वृत्ति बढ़नी ही चाहिये। त्याग और वैराग्य से ही प्रतिष्ठा और वैभव शोभा देते हैं, स्थिर होते हैं तथा बढ़ते हैं—यह समझ में आने के लिये बहुत समय जाने की ज़रूरत नहीं है। निष्काम सेवा ही परम तप है; अनाहूत अैश्वर्य तो अुसका फल है।

'न सर्वः सर्वं वेत्ति' के न्याय से अिस सयाने के अनेक प्रकार या अवतार होते हैं। यह सयाना कहीं वैद्य होगा, कहीं कारीगरों का शास्त्रज्ञ आचार्य बनेगा, कहीं न्यायाधीश होगा, कहीं राष्ट्र का शायर होगा, कहीं राजा होगा तो कहीं कुशल सेनानी होगा, समाज व्यवस्थापक धर्मकार होगा, नाविक या सार्थवाह होगा, तारे देखकर भविष्य बताने वाला जोशी (ज्योतिषी) होगा, लोगों की अमानतें रखने वाला व्यापारी महाजन होगा, साहित्याचार्य होगा या फिर लोकहित के बड़े-बड़े काम करने वाला स्थपति—अंजीनियर होगा।

चारित्र्य की अुदात्तता के बाद तुरन्त ही अगर किसी दूसरे गुण की समाज में क़द्र होती हो तो वह सूझ है। सूझ या 'प्रत्युत्पन्नमति'—अिस अेक ही गुण से दुनिया की असाधारण प्रगति हुअी है। सूझ मनुष्य

स्वभाव रूपी मोटर का पेट्रोल है। चारित्र्य की आर्यता असका पतवार है। (आज की मानव संस्कृति में पतवार की प्रतिष्ठा कम हो गयी है। सब पेट्रोल की ही क़द्र करते हैं। अिससे मानव के दुःखों का ढेर बढ़ता जा रहा है।)

समाज के अिस सयाने पुरुष की जो अनेक विभूतियाँ अूपर बतायी वे सरसरी तौर पर देखने से चाहे जितनी भिन्न मालूम होती हों, तो भी मूल में अुनका लक्षण तो अेक ही है। भिन्न-भिन्न काल में तथा भिन्न-भिन्न समाज में अलग-अलग विभूतियों को प्रधानता मिलती है। और ताज्जुब की बात तो यह है कि मूल में अेक ही श्रेणी का होने पर भी अिन जुदी-जुदी विभूतियों में अेक-दूसरे के प्रति डाह और तिरस्कार ही दिखाअी देता है। लेकिन अिसमें आश्चर्य काहे का? वृत्तिसाम्य न हो तो भला मत्सर या तिरस्कार के लिये स्थान ही कहाँ?

जिस तरह समाज में सयानों का यह अेक वर्ग आप ही आप अुत्पन्न होता है और सामान्य व्यवसाय से वह मुक्त रहता है अुसी तरह मन्द-बुद्धि के कारण तथा महत्त्वाकांक्षा के अभाव से दूसरों का बताया हुआ काम करके जीने में ही सन्तोष मानने वाला अेक वर्ग समाज में रहता है। आज तक सामाजिक अन्याय और सयाने वर्ग के नृशंस्य (क्रूरता) के कारण यह वर्ग बेशुमार बढ़ा है। सब जगह अैसी ही हालत दिखाअी देती है कि बुद्धि होने पर भी विकास के लिये अवसर नहीं है और महत्त्व को पहुँचने की योग्यता होते हुये भी महत्त्वाकांक्षा जैसी कोअी चीज़ ही अपने लिये नहीं है, अैसी वृत्ति बन जाती है। दुनिया के बड़े पुरुषों की सूची हम अभिमान के साथ तैयार करते हैं। लेकिन मनुष्य-संख्या के परिमाण में तथा मनुष्य की शक्ति की तुलना में यह सूची अितनी छोटी है कि संकुचित दृष्टि के स्वार्थ तथा अन्याय से मानव जाति का अनन्त प्रकार से अकल्याण करने वाले लोगों को शर्म से अपनी गर्दन झुकानी ही चाहिये। करोड़ों अभागी लोगों को अगर हमने अुचित अवसर मिलने दिया होता तो दुनिया के बड़ों और बाकमालों की फेहरिस्त कम

से कम हज़ार गुना बढ़ गयी होती ;

चातुर्वर्ण्य की पुनर्वटना या पुनरचना का विचार करते समय श्रिस बात का प्रधान रूपसे विचार होना चाहिये कि आज तक के श्रिस जगद्-व्यापी अन्याय का परिमार्जन किस तरह हो सकता है। आज तक जिन्होंने सामाजिक भार का वहन किया है, फिर भी सामाजिक पुरुषार्थ से किसी तरह का लाभ प्राप्त नहीं किया है, अुन्हें विकास का विशेष अवसर दिला देना चाहिये, अन्याय का जो बीज बोया गया अुसका विशाल वृक्ष बनकर अुसकी जड़ें कोटयवधि लोगों को जकड़ बैठी हैं। अैसी स्थिति में आज तक जो हुआ सो हुआ, अब जो स्थिति है अुसे स्वीकार करके श्रिसके आगे सब लोग मिल जुलकर रहें' श्रिस तरह का शान्ति मन्त्र 'पुष्टिरस्तु तुष्टिरस्तु' कहकर पढ़ना तो वैसा ही है जैसा कि कोअी अजगर किसी जानवर को निगलकर फिर अुसे हज़म करने के लिये समय चाहे।

प्राचीन शास्त्रों में कहा है कि वंश परम्परा के संस्कार सात पीढ़ियों तक पहुँचते हैं, उस समय वह सही होगा, लेकिन शिक्षा, अनुकूल परिस्थिति, ज़िम्मेदारी, समान दर्जा, महत्वकांक्षा, सत्सङ्ग और विकास के लिये आवश्यक अवकाश या अवसर—श्रिन सब चीज़ों के बल पर अेक ही पीढ़ी में चाहे जितनी प्रगति कर दिखाना सम्भव है। श्रिस बारे में पुराने शास्त्रकारों के वचन को जितना प्रामाण्य है असकी अपेक्षा आज के समाज-सेवकों के अनुभव का प्रामाण्य अधिक समझा जाना चाहिये।

(१) परिचर्या (नौकरी) की मज़दूरी (२) अुद्योगधन्धों या सार्वजनिक कामों की मज़दूरी (३) कड़ी मेहनत करके हर रोज़ रोज़ी कमाने का धंधा (४) अैसी नौकरी जिसमें हर महीने वेतन मिलता हो (५) फ़न व हुनर के ज़रिये पेट भरने का व्यवसाय (६) कारीगरों को नौकर रखकर छोटे-बड़े कारखाने चलाने का धंधा (७) अैसे पेशे (प्रोफ़ेशन्स) जिनमें धंधे की आबरू का विशेष विचार होता हो (८) तनख्वाह लेकर समाज सेवा के

छोटे-मोटे काम करने का धंधा (९) जो कुछ समाज देगा वह लेकर या न लेते हुअे भी निरपेक्षता के साथ बिताने का सेवा का पवित्र जीवन और अन्त में (१०) अयाचित तथा तपस्वी वृत्तिसे रहकर समाज कल्याण का ध्यान करते हुअे कर्तव्यातीत होकर रहना—ये जीवन के अुत्तरोत्तर महत्त्व के प्रकार हैं। पेन्शन खाकर या सिर्फ व्याज पर रहकर या फिर भीख माँगकर मुफ्तखोरों की तरह रहना भी अेक जीवन-क्रम है लेकिन अुसे अूपर की फेहरिस्त में स्थान नहीं दिया गया है। आजीविका का श्रमशून्य और अुत्तरदायित्व-रहित प्रबंध हमेशा के लिए हो जाना तो व्यक्ति की दृष्टि से भारी आपत्ति ही है। और समाज की दृष्टि से वह अनेक नैतिक रोगों की जड़ है। जो व्यक्ति अपनी और स्वाभाविक रूप से अपने आश्रित होने वाले लोगों की रोटी के लिये मेहनत नहीं करता तथा किसी तरह से समाज के लिये अिष्ट काम भी नहीं करता अुसका जीवन भूमि अर्थात् समाज के लिये भार रूप है। अितना ही नहीं बल्कि अुसके कारण समाजतंत्र संकट में आ पड़े हैं—अैसा निश्चित समझना चाहिये। अैसे मनुष्य को जीने या खाने का अधिकार ही नहीं है। विगलित-सामर्थ्य वृद्ध, अर्भक, रुग्ण और पागलों में गिने जाने वाले मन्दबुद्धि तथा भ्रमी—अितने ही लोगों का बोझ समाज के सिर पर काफ़ी है। अपनी सुस्ती और ग़ैर-ज़िम्मेदारी से समाज पर अपना बोझ डालना सबसे बड़ा समाज-द्रोह और आत्मद्रोह है।

अूपर जीवन-क्रम की जो अेक सीढ़ी बतायी है अुसकी पैड़ियाँ समझ लेने की ज़रूरत है। अुपजीविका, जीवन-क्रम और समाज-सेवा अधिकाधिक निष्पाप होने चाहिये। अुसमें स्वार्थ की अपेक्षा समाजहित की दृष्टि वर्धमान होनी चाहिये। ज़िम्मेदारी का भान और त्यागवृत्ति भी अुत्तरोत्तर विकसित होनी चाहिये। और अन्त में समाज-कल्याण के लिये अपने आपको भूल जाकर जीवन अेक महान् आत्मयज्ञ हो जाना चाहिये। अिस दृष्टि से अूपर की पैड़ियों की रचना की गयी है।

हमने यह तो तै किया ही है कि शूद्रवर्ग को जहाँ तक हो सके कम

कर दिया जाय। लेकिन यह मुश्किल है कि वह समूल नष्ट हो जाय। क्षत्रियवर्ग अलग वर्ग के तौर पर नहीं रहना चाहिये। लोगों का जो यह ख़याल कि आत्मरक्षा के मानी हैं औरों को क़त्ल करने के लिये तैयार रहना, अुसे निकाल देना चाहिये। चाहे आत्मरक्षा हो, चाहे समाज-रक्षण, अुसके लिये औरों का वध या घात करने की ज़रूरत साबित नहीं हुअी है। रक्षा अगर अिष्ट है तो वह सभी की होनी चाहिये। यह रक्षा आत्म-बलिदान से करना ही क्षत्रिय का प्रधान धर्म है। अिस वक्त तो अेक तरफ़ हत्यारों या कसाअियों की वृत्ति और दूसरी तरफ़ रक्षा के लिये अपना बलिदान देने की वृत्ति—अिन दोनों का अजीब संयोग करके क्षत्रिय का आदर्श गढ़ा हुआ दिखाअी देता है।

ख़ास मौके पर दूसरे को मारना आवश्यक हो, अपरिहार्य हो तो वह अलग बात है और मारने की कला में निष्णात लोगों को तालीम देकर हमेशा तैयार रहना अेवं मनुष्य-वध या क़त्ल की कठोर और कपटयुक्त कला को पूर्णत्व तक पहुँचाना अलग बात है।

वास्तव में देखा जाय तो आत्म-रक्षा की कला तमाम प्राणियों के लिये आवश्यक है, फिर वह आत्मिक सामर्थ्य की हो या बौद्धिक कुशलता की या शारीरिक शक्ति की। प्रत्येक मनुष्य को यह कला प्राप्त कर लेनी चाहिये। यह कला जानने वाला स्वतंत्र वर्ग तैयार करके बाक़ी के वर्गों को अुसके आश्रित रहना सामान्य समाज को खस्सी करने जैसा है। रघुकुल के अेक राजा ने मनु के वंशजों के विषय में जो कहा है वह सारे मानव समाज पर चरितार्थ होता है :—स्ववीर्यगोता हि मनोः प्रसूतिः। तमाम मनुष्यों को अपने वीर्य से ही रक्षित होना चाहिये। समाज रक्षा के काम में समाज के प्रत्येक व्यक्ति का अुपयोग होना चाहिये। रक्षण कला अैसी होनी चाहिये कि पुरुष, स्त्रियों, युवक और वृद्ध सभी आत्म-रक्षा या समाज-रक्षा में भाग ले सकें।

मनुष्य का सामाजिक स्वभाव देखने से अैसा मालूम होता है कि युद्ध, हिंसा और क़त्ल तीनों की रुचि, संभावना और ज्ञान सबको होना

मुमकिन नहीं है। सब के लिये साध्य सामर्थ्य तो संगठन, सत्याग्रह, बहिष्कार, असहकार और हृदय परिवर्तन ही है; शारिरिक दंड, रोब, दबाव डर या क़त्ल को अगर हम ज़रूरी समझें और उनका शास्त्र बना कर अुनका प्रचार करना अिष्ट मानें तो भी इस शास्त्र के अलग प्रवीण लोग अुत्पन्न करने से नहीं चलेगा। क्योंकि अैसा वर्ग बाकी के समाज को धाक में रखकर अुसपर सवार होगा ही। अिससे तो यही रास्ता ठीक है कि अिस मार्ग का ज्ञान और शिक्षा जहाँ तक अपरिहार्य समझी जाती हो, वहाँ तक अुसे सर्वसुलभ बना दिया जाय। मतलब यह कि अितना साबित होता है कि क्षात्रगुण हरअेक में हो, अलग क्षात्रवर्ग न हो। हमारे चातुर्वर्ण्य में यह अेक बड़ा दोष रह गया था कि अुसमें युद्धकला, अुसके लिये आवश्यक जीवन के सद्गुण और उसकी ज़िम्मेदारी मुट्ठी भर लोगों के हाथ में सौंप दी गयी थी। अिस वजह से समाज सुदृढ़, संगठित और सुश्लिष्ट न हो सका। यह हमारा हज़ारों वर्षों का अनुभव है। अैसा मानने के लिये जगह है कि शिवाजी महाराज के ध्यान में यह बात कुछ-कुछ आ गयी थी। अुन्होंने पूर्व परंपरा में जो दो तीन महत्त्व के हेर-फेर किये थे अुनसे यह बात ध्यान में आती है। किसी को भी जमीन-जागीर न देना, राजसत्ता का अुपयोग विदेश के साथ व्यापार बढ़ाने में करना, आदि बातों में जिस तरह अुनकी स्वतंत्र बुद्धि दिखाई देती है अुस तरह अुनका यह निर्णय भी मौलिक दीखता है कि अुनके अष्ट प्रधानों या आठ मंत्रियों में से हर अेक के लिये सेनापति के कार्य की जानकारी होना ज़रूरी था। अिसके मानी यह हुये कि आठों मंत्रियों में से हर अेक के लिये यह ज़रूरी था कि अुत्तम सेनापति होने के अलावा वह अपने महकमे का निष्णात हो।

अिसके बाद तो हमें यह सिद्धान्त स्वीकार करना ही चाहिये कि क्षत्रिय वर्ग अलग न बना कर प्रत्येक मनुष्य को क्षत्रिय बनना चाहिये।

किसान स्वभाव से ही क्षत्रिय होता है। यह स्वाभाविक है कि जो भूमि का मालिक हो अुसे अुसकी रक्षा के लिये अपनी जान दे देने के

लिये तैयार रहना ही चाहिये। जो कुटुंब-वत्सल है; गृहस्थाश्रमी है, अुसे अपने कुटुंब की रक्षा करने के लिए अपने प्राण निछावर करने को तैयार रहना ही चाहिये। पशु-पक्षियों में भी हम यह नियम देखते हैं कि नर तथा मादा और खास करके मादा अपने चेंटुवों (बच्चों) और घोसलों की रक्षा के लिये क्षात्र तेज के साथ जागरूक रहते हैं। और मौका आ पड़ने पर अपनी जान कुरबान करने में वे नहीं हिचकिचाते। जो कोई सम्पत्ति जमा करता है अुसे क्षात्र धर्म का स्वीकार करना ही चाहिये। जो समाज से सेवा लेता है या किसी भी तरह समाज की सेवा करता है वह समाज की रक्षा करने की ज़िम्मेदारी टाल ही नहीं सकता। अिसलिये सत्याग्रह हो या सत्याग्रह, शास्त्र युद्ध हो या अहिंसक युद्ध, अुसका शास्त्र और अुसकी कला विश्व जनीन होनी चाहिये।

यहाँ तक शूद्र और क्षत्रिय दो वर्गों पर विचार हुआ। अब ब्राह्मणवर्ग का विचार करें। यहाँ हमें पहले ही यह बात याद रखनी चाहिये कि कर्म कांड के धर्मों का युग अब नहीं रहा है। पुरोहित की आवश्यकता अब बहुत रहने वाली नहीं है। और अगर थोड़ी-बहुत रह भी जाय तो पुरोहित का धंधा परिचर्यात्मक होने से वह शूद्रवर्ण में शामिल किया जायगा। औरों के लिये देवपूजा करना, दूसरों के लिये मंत्र पढ़ना या विधि चलाना, दूसरों की तरफ़ से संस्कार में भाग लेना, दूसरे लोगों के कहने के मुताबिक़ धार्मिक ग्रन्थों का पठन-श्रवण करना, और अिस तरह अपनी आजीविका प्राप्त करना शूद्र कर्म ही है। रसोअिये, मालिश करने वाले, पालकी अुठाने वाले कहार, अिस सबके साथ ही अिस वर्ग का दर्जा माना जायगा।

पठन-पाठन द्वारा शास्त्र ग्रन्थों की रक्षा करना भी अब ब्राह्मणों का धर्म नहीं रहा है। कर्मकांड के शास्त्र अब पीछे पड़ते जायेंगे। और समाज-व्यवस्था तथा चारित्र्य संगठन के शास्त्र आगे आते जायेंगे। स्वर्ग-नरकादि परलोकों के अितिहास-भूगोल अब लोगों को सच्चे मालूम नहीं होते। अीश्वर की भक्ति करना, आचरण पवित्र रखना ग़रीबों की सेवा करना,

अीमानदारी के साथ समाज-हित के काम करना, सादगी और कट्टरता के साथ रहना, और अन्त में सभी बातों से दिल हटाकर विरक्तता से जीवन को पूरा करना ही सच्चा धर्म है—यह जानकार लोगों की समझ में आता जा रहा है। यह कैसे कहा जा सकता है कि अिस प्रकार के धर्म का विचार वाले ग्रंथ केवल ब्राह्मण ही पढ़ें या अुनकी रक्षा करें? आत्मिक कल्याण और समाजहित की ज़िम्मेदारी सबकी समान ही है। तपश्चर्या और अुससे प्राप्त होने वाली सामर्थ्य सभी के लिये ज़रूरी है। ज्ञान का प्रचार सर्वत्र अधिकाधिक ज़ोर के साथ होना चाहिये। अतः अिस काम के लिये भी अलग वर्ण नहीं चाहिये।

जिस अलग वर्ण की ज़रूरत है वह है आचार्यों का। शिक्षक, धर्मोपदेशक, धर्मशोधक और दिशादर्शक गुरु का अेक वर्ग चाहिये। अिस वर्ग को 'आचार्य' नाम देना अुचित होगा।

आचिनोति हि शास्त्रार्थं आचारे स्थापयत्युत।
स्वयमाचरते यस्तु स आचार्यः प्रचक्षते॥

यह है आचार्य की परिभाषा। समाज में ज्ञानी, कुशल और पवित्र लोग किस तरह बरताव करते हैं, किस प्रकार का जीवन पसन्द करते हैं, वह सब देखकर जीवन-शास्त्र की रचना करनी होती है। पहले चरण में आचार्य का यह कर्तव्य बताया गया है कि जैसे जीवन-शास्त्र की परंपरा को समझ लेकर, अुसके अुद्देश्य तथा व्यवस्था को निश्चित करके वह अुसे जनता के सामने पेश करे। बाद में अुसका यह दूसरा कर्तव्य बताया गया है कि शास्त्र की यह दिशा प्रचलित स्थिति में किस तरह आचरण में लायी जाय, यह निश्चित करके वह अुसका बोध और प्रचार करे, तथा हमेशा जाग्रत रहकर अिस बात की फ़िक्र करे और वैसा प्रयत्न करता रहे कि समाज सदाचारी हो और अुसकी आर्यवृत्ति बढ़ती रहे। यह सब करने के लिये अुसका अपना जीवन सर्वोच्च होना चाहिये। आत्मोन्नति की दृष्टि से नये-नये अनुभव बढ़ाने की दृष्टि से, समाज के सामने अच्छी मिसाल पेश करने की दृष्टि से स्वयं आचार्यों का आचार अत्यंत निर्मल,

अुज्ज्वल, कड़ा, प्रसन्न और अखंड गहरे विचार से जागरूक होना चाहिये। यह मर्यादा तीसरे चरण में बतायी गयी है।

अैसे आचार्यों को चाहिये कि दुनिया में, जीवन-क्षेत्र में, चलने वाले भाँति-भाँति के प्रयोगों की जाँच पड़ताल करें, ज़िम्मेदारी के साथ स्वयं अनेक प्रयोग कर देखें, अिस बात की खबरदारी रखें कि जीवनशास्त्र बढ़ता और फलता-फूलता रहे, पीछे न पड़े और निरालसता के साथ समाज का निरीक्षण तथा सेवा करते रहें।

अिस तरह की महत्त्व की ज़िम्मेदारी अपने सिरपर लेने वाले के हाथ में दूसरे काम और दूसरे अधिकार अपने आप आते जायेंगे। अिस बात पर सूक्ष्म विचार होना चाहिये कि ये नये काम और नये अधिकार मूल की पवित्र ज़िम्मेदारी के पोषक हैं या बाधक। अैसा विचार करने पर तुरन्त ही ध्यान में आ जायगा कि यह आचार्य वर्ग जितना तटस्थ और अलिप्त रहेगा, तथा अेकाग्रता से अपने कर्तव्य में लीन होगा अुतना ही वह कृतार्थ हो सकेगा। अिन लोगों के हाथ में व्यावहारिक सत्ता जहाँ तक हो सके नहीं रहनी चाहिये। लोगों को सज़ा देना, अुनसे राजस्व वसूल करना आदि राजत्व के अधिकार अिस वर्ग के पास नहीं रहने चाहिये। वरना यह वर्ग भ्रष्ट हो जायगा। यह वर्ग अपने चरित्र से, तप और दान से, निःस्पृहता तथा सर्वकारुणिकता (सबके प्रति प्रेम रखने) से सर्वमान्य, श्रद्धेय और अनुकरणीय होगा। अिस वर्ग सत्ता आध्यात्मिक स्वरूप की ही रहेगी। लोगों की बुद्धि, हृदय और संगठन पर जो स्वाभाविक असर पड़ेगा वही अिस वर्ग की शक्ति है।

अैसा वर्ग जनता की दान बुद्धि पर अवलंबित तथा राजनियम से बहुत कुछ मुक्त रहेगा। अिन पर का मुख्य अंकुश यही होगा कि समस्त समाज की धर्मबुद्धि की कसौटी पर यह वर्ग कसा जायगा। अैसी स्वाभाविक स्थिति होनी चाहिये कि ये लोग समाज पर राज नहीं चलायेंगे और समाज अिन पर हुकूमत नहीं चलायेगा। सादगी, ग़रीबी, संयम, बिना आलस्य के अखंड अुद्योग करते रहना, निष्पक्षपातिता, कारुण्य और

अखंड सेवा, अिन्हीं गुणों से यह वर्ग टिक सकेगा।

ब्राह्मण के कर्तव्य की अिस तरह छान-बीन करके भविष्यकाल के लिये ज़रूरी अुनकी गुणकर्म वृत्ति का निश्चय करने तथा अिरादतन अुसे नया नाम देने के बाद अब वैश्यवर्ण का ही विचार करना बाक़ी रह जाता है।

कृषि और गोरक्षा साथ-साथ हो सकते हैं। वाणिज्य कुछ जुदा पड़ता है। खेती स्वभाव से ही स्थावर वृत्ति है। वाणिज्य प्रवास-मूलक होने से अलग पड़ता है।

[यहाँ यह कहने का मतलब नहीं है कि किसान को अपनी ज़मीन छोड़कर कहीं भी नहीं जाना चाहिये। किसान को अपने खेत, बाग़ और चरागाह की सभी तरह की पैदावार-अनाज, घास, बाँस, फल, तेल, पशुपक्षी, मध, अंडे आदि चीज़ें—जहाँ अधिक भाव मिले वहाँ जाकर बेचने की सहूलियत और आदत होनी चाहिये। खेती करनी हो तो बैल रखने ही चाहिये। जिस तरह किसान को खाली दिनों के लिये अतिरिक्त धंधे की ज़रूरत रहती है अुसी तरह बैल के लिए भी अुसका पेट भरने का बोझ सिर्फ़ खेती पर डालना असम्भव होने के कारण, अतिरिक्त धंधे की आवश्यकता रहती है। ये धंधे दो हैं—अेक माल ढोने का और दूसरा कोल्हू का। खेती का और दूसरा माल फ़ुरसत के दिनों में आस-पास की पैंठों में पहुँचाने का काम किसान का ही है। हमें यह समझ लेना चाहिये कि बैल को बेकार बिठाकर मोटरों में अिस तरह का माल ले जाना राष्ट्रघातक है और जनता की सरकार को बैल के अिस अतिरिक्त धंधे को संरक्षण देना चाहिये।

तेल निकालने के लिये ज़रूरी तेलहन, मूंगफली या अनाज किसान के यहाँ ही पैदा होते हैं। तेल के साथ तैयार होनेवाली खली का जानवरों की ख़ूराक के तौर पर या खेत में खाद के तौर पर किसान ही खासकर अिस्तेमाल करते हैं। अिसलिये तेल का यह धंधा अगर किसान करने लगे तो सारा मुनाफ़ा अुसी के घर में रहेगा।]

किसान के साथ माली तो आयेगा ही। हिन्दुस्तान में फलों की पैदाअिश बहुत बढ़ानी चाहिये; और सूखे या ताज़ा फल, अुनमें के काजू, बादाम आदि गिरियों या 'बादामों' का अिस्तेमाल आहार में ज्यादा करना चाहिये। ज़मीन को बार-बार जोतकर अुसमें अनाज बोने की अपेक्षा अुसपर काफ़ी मेहनत करके अुसमें अच्छे-अच्छे फलों के पेड़ लगाने से, संभव है कि आहार और मुनाफ़े की दृष्टि से वह ज्यादा मुफ़ीद साबित होगा। अहिंसा की दृष्टि से तो वैसा करना अिष्ट है ही।

गड़रिये और ग्वाले के धंधे भी किसान के धंधे से बहुत दूर नहीं जाने चाहिये। अून पैदा करके अुसे कातकर अुसमें कपड़ा बनाने का पेशा खेती के साथ सम्बन्ध रखता है। आज गड़रिये के पास ज़मीन नहीं होती। अुसे हमेशा भटकना पड़ता है। अिसमें अिस ग़रीब जमात को कैसी-कैसी मुसीबतें अुठानी पड़ती हैं अिसका ख़याल तो अुनके जीवन का सहृदयता के साथ निरीक्षण करने या अुनके वंश में जन्म लेने से ही आ सकता है। अिसमें अुलटे किसान के पास भेड़-बकरियाँ न होने से अुसे खाद के लिये बहुत ही पैसा ख़र्च करना पड़ता है। अून के कपड़े जो कि घर पर ही बनाये जा सकते हैं, ख़रीदने पड़ते हैं और जो शाकाहारी नहीं हैं अुनके आहार का ख़र्च भी बढ़ता है। अिन सब आपत्तियों को टालने के लिये यह अच्छा है कि क्षेत्रपाल और मेषपाल अेक ही हों। [अहिंसा तथा शाकाहार की दृष्टि से विचार करते हुअे यहाँ अितना कह देना ज़रूरी है कि चूँकि पशुओं का पालन हम अपने स्वार्थ के लिये करते हैं, अिसलिये हमें अितनी सावधानी रखनी चाहिये कि अुनका वंशविस्तार हमारी ज़रूरत से ज्यादा न बढ़ जाय।] रस्सियाँ आदि वनस्पतिजन्य वस्तु तैयार करने का काम भी किसान की माँ-बहनों को ही करना होता है।

अिन सब पेशों को अेकत्र करने पर अिस वर्ण को कोअी नया नाम देना चाहिये। यह वर्ण सारे समाज का भरण-पोषण करनेवाला होने से हम अुसे 'भर्ता' या 'पूषा' कहें।

यह तै करना कुछ मुश्किल-सा है कि जुलाहे का धंधा अलग रखा जाय या किसान के साथ ही जोड़ दिया जाय। रूई और अिसी तरह दूसरे तंतु किसान ही पैदा करता है। अिन तंतुओं को धुनकर या कातकर सूत या धागा बनाने का काम भी प्रधानतया किसान-कुटुम्ब का ही है। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य को अेक खेल के तौर पर यह काम करना चाहिये।

अगर मनुष्य जाड़े से रक्षा पाने और शर्म ढाँकने के अुद्देश्य से ही कपड़ा पहने और बुनने का काम भी किसान फ़ुरसत के समय करे तो चल सकता है। लेकिन वस्त्र का अुपयोग शान-शोभा और प्रतिष्ठा के साधन के तौर पर ही ज्यादा होता है; अिसलिये जुलाहे का पेशा स्वतंत्र रूप से हमेशा चलने लगा, अुसमें कौशल की ज़रूरत बढ़ गयी और अन्त में अुसे कारीगरी का स्वरूप प्राप्त हो गया।

हम कारीगरों का कल्पक नामका अेक स्वतंत्र पेशा या वर्ण बनानेवाले हैं। अिसलिये जुलाहा अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ चाहे तो खेती आदि पोषक वर्ग में रहे या बढ़ई, लुहार आदि कल्पक वर्ग में।

पोषक वर्ग ख़ास तौर पर कच्चा माल तैयार करता है और कल्पक वर्ग कच्चे माल पर अपना कौशल चलाकर पक्का या तैयार माल पैदा करता है।

पत्थर और धातु की खानों में काम करने का धंधा भी जुलाहे के पेशे के समान ही दो वर्णों की सरहद पर का धंधा है। पोषक और कल्पक दोनों की वृत्तियाँ अुसमें समान रूप से हैं। अिस तरह के वर्णों की सरहद पर के धंधे वर्ण-व्यवस्था को अेक जीव करने में बहुत अुपयोगी होते हैं। सातों वर्ण अलग-अलग तालाबों की तरह अेक-दूसरे से अस्पृश्य न रहकर अिन्द्रधनुष के रंगों की तरह अेक दूसरे में घुलमिल जायँ तो अच्छा। किसी बड़े देश में अनेक भाषाअें बोली जाती हों तो अुन भाषाओं की सरहदों पर अुनकी जो मिलावट होती है वह अपरिहार्य है। अिस तरह का मिक्सचर कुछ हद तक कर्णकटु हो तो भी दोनों

भाषाओं के विनिमय का साधन बनकर अुन्हें परिपुष्ट करने में वह निमित्त-कारण बनती है। यही बात सरहदी वर्णों के बारे में समझनी चाहिये।

अब हम कारीगर लोगों के कल्पक वर्ण का विचार करें। आचार्य का हमारा प्रथम वर्ण अन्वेषक और कल्पक तो है लेकिन अलग-अलग कल्पनाओं का कौशल के साथ अुपयोग करके क़िस्म-क़िस्म का साज़-सामान समाज को पर्याप्त मात्रा में देने का काम अुससे न हो सकेगा। आचार्यों में से कुछ लोग कल्पक कारीगरों में ज़रूर प्रवेश करेंगे और कुछ कारीगर निवृत्त वृत्ति से रहकर आचार्यवर्ण में भी प्रवेश करेंगे। परन्तु दोनों का कार्यक्षेत्र और जीवन-निष्ठा (अैटिट्यूड टुअर्डस् लाअिफ़) अितने कुछ भिन्न होंगे कि अैसे अपवाद अपवाद ही रहेंगे।

कल्पक या कलावान लोगों का वर्ण स्वभाव से अक्सर अकेला होता है। वह समाज-सेवक हो तो भी अपने काम में अितना मशगूल रहता है कि बहुत-सा काम वह अपने शौक़ की ख़ातिर ही करता रहता है। अिसलिये अपने धंधे का विशिष्ट धर्म निश्चित करके आग्रह के साथ अुसका पालन करने की ओर अुसका झुकाव ज्यादा रहता है। अैसा कारीगर जब पैसे के लालच में फँस जाता है तब वह किसी कारख़ाने वाले का आश्रित बनकर तब मज़दूरी की हैसियत से यथेष्ट पैसा कमाता है और अिस तरह निश्चित ढाँचे का माल ढेरों तैयार होता है। अुसके बाद गाहकी जीतने के वास्ते राष्ट्रों-राष्ट्रों में बाज़ार-युद्ध शुरू होते हैं। जब कल्पक और आचार्य वर्ण स्वधर्मभ्रष्ट हो जाते हैं तब सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाती है, अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य नष्ट होता है और कला की मौलिकता का भी नाश होता है।

कल्पक वर्ण में बढ़अी, लुहार, मेमार, रास्ता बनाने वाला पथिक, वैद्य, दरज़ी, चमार, चमड़ा सिझाने वाला, लेखक (कातिब) आदि अनेक पेशों का समावेश होता है। अिन सबको मिलाकर अेक ही वर्ण बनाना मुश्किल है। सबका रहन-सहन अेक-सा न हो तो भी अुनका अेक वर्ण

बनाने की ओर समाज को अपनी सारी ताक़त लगानी चाहिये । चमार, शल्यवैद्य (सर्जन) और सुनार अिन तीनों का कौशल लगभग अेक-सा होता है । मोची-चमार का धंधा जुगुप्सित समझा जाता है तो शस्त्र-वैद्य का कुछ कम जुगुप्सित नहीं है । और शस्त्र-वैद्य का रहन-सहन अगर शुचिभूत (स्वच्छ) रखा जा सकता है तो चमार का भी वैसा क्यों न हो सकेगा ?

अिसके बाद का वर्ण है माल के विनिमय में अपने को लगाने वाले सार्थवाहों (बनजारों) का वणिक वर्ग । अिसी में दूकानदार, कारखानदार, सराफ़ आदि का समावेश हो जाता है । आज के दूकानदार घर पर बैठ कर दूकान चलाने के आदी बन गये हैं । बैलों का झुण्ड, गाड़ियों की क़तार या जहाज़ों का काफ़िला लेकर घूमने वाला वर्ग और दूकानदारों का वर्ग अिनमें खाअीं-सी बन गयी है । यह अनेक प्रकार से अनिष्ट है । अिसके परिणाम स्वरूप बंजारों का वर्ग बिलकुल असंस्कारी और ग़रीब बन गया है । और दूकानदार-वर्ग कम से कम हमारे देश में तो बहुत-कुछ अंधा और साहसशून्य हो गया है । बनजारा, दूकानदार और कारखानेदार, ये तीनों पहलू अगर अेक ही कुटुंब में रहने लगें तो कुटुंब संगठित, समर्थ और समृद्ध होंगे । अिसमें अितनी ही सावधानी रखनी है कि कारखानेदारी कल्पक वर्ग के नाश का निमित्त कारण न बने । अिस बारे में गहरा विचार करके प्रबंध करना होगा । आज यहाँ अुसकी विशेष चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है ।

अिस वणिक वर्ग के पास स्वाभाविक रूप से ही समाज की बहुत-सी सम्पत्ति रहती है । अुस सम्पत्ति को यह वर्ग अपनी निजी मिल्कियत न समझे । जिस तरह सम्पत्ति का प्रवाह सहज रूप से अिस वर्ण के हाथ में आता है अुसी तरह सहज रूप से ही सार्वजनिक हित के लिये अुसके हाथ से सम्पत्ति छूटनी चाहिये । अगर यह काम स्वेच्छा, धर्म-बुद्धि और शौक़ से न हुआ तो अिस विषय में क़ानून के द्वारा सामाजिक नियमन करना पड़ेगा । लेकिन यह न भूलना चाहिये कि समाज में धर्म के

साम्राज्य को संकुचित बनाकर क़ानून के साम्राज्य को बढ़ाना आसान लगता हो तो भी वह संस्कृति में हीनता लाने वाला है।

भर्ता, कुशल (कल्पक) और वणिक् अर्थात् किसान, कारीगर और दूकानदार तथा श्रिन तीन वर्णों को प्रेरणा देनेवाला, अुन्हें रास्ता बताने वाला, आत्मोन्नति और सामाजिक कल्याण दोनों दृष्टियों से अुनके धर्म की रचना करने वाला आचार्य श्रितनों का विचार हुआ। अब अूपर के त्रैवर्णिकों को संगठित करने वाले, अुनकी ताक़त बढ़ाने वाले, अुनके नेता, संचालक, धुरीण वर्ग या वर्ण का विचार करना है। धुरीण के मानी हैं समाज की धुरा का वहन करने वाला, ज़िम्मेदार और समाज को श्रिष्ट दिशा में खींचकर ले जाने वाला अगुआ। अुसे 'योजक' नाम भी दिया जा सकेगा। द्रव्यबल, बुद्धिबल और संख्याबल (यानी मनुष्य बल) तीनों अुसके वश में होने से श्रिस वर्ण की शक्ति असाधारण होती है। धर्मबल, तपोबल और दीर्घदर्शी आचार्यों के बाद तुरन्त ही अुनका महत्त्व है। अगर यह धर्मभ्रष्ट हो जाय तो समाज को रसातल में पहुँचा देगा। आज पश्चिम में यह वर्ग आमतौर पर स्वार्थी बना है। समाज की सेवा करने के बदले वह स्वार्थ के लिये संख्याबल का प्रयोग करता है। द्रव्यबल को वहाँ श्रिस वर्ग ने अपने अधीन कर रखा है और बुद्धिबल को चाहे जब खरीद कर या किराये पर लेकर वह अुसे भ्रष्ट कर सकता है। श्रिसलिये वहाँ द्रव्यबल और मनुष्यबल में परस्पर घोर विद्रोह छिड़ने लगा है। प्राचीन काल में राजाओं पर धर्म का जो अंकुश रहता था वह श्रिस वर्ण पर होना चाहिये। लेकिन आज वह नहीं है। जिस तरह मनुष्य-स्वभाव षड्रिपुओं के वश में होता है अुस तरह वह धर्म के भी वश में है—श्रिस श्रद्धा को वहाँ का समाज छोड़ बैठा है। धर्म का स्वाभाविक स्थान अब क़ायदों-क़ानूनों और राजनैतिक नियमन ने लिया है। श्रिससे सच्ची प्रगति कुंठित हुआ है। जन-शिक्षा द्वारा जो कुछ थोड़ा बहुत धर्म-जागृति का कार्य वहाँ चलता है वह अगर न होता तो वहाँ के समाज का नाश होने में बहुत देर न लगती। Noblesse

oblige अर्थात् खानदानी का धर्म (यह तत्त्व कि समाज में जिसकी प्रबलता, महत्त्व और प्रधानता होगी अुसका कर्तव्य धर्म भी अत्यंत अुग्र और कठिन होगा।) जहाँ क्षीण हो जाता है वहाँ यह समझना चाहिये कि नरक बिलकुल पास आगया है। नरक के मानी हैं समाज-बन्धन शिथिल हो जाने से होने वाला समाज का विच्छेद।

अिस धुरीण वर्ग में सब तरह के महान् कार्य करने वाले, तथा लोगों की संगठित शक्ति का अुपयोग करने वाले संचालक, व्यवस्थापक, योजक और नेता आ जाते हैं। राज्य करने वाले लोग अगर अपने को जन-सेवक समझ कर चलते हों तो वे भी अिसी श्रेणी के माने जायेंगे। मनुष्य समाज का अपमान करने वाली यह वृत्ति जिनमें है कि जनहित के लिये कुछ हद तक जन-पीडन करना आवश्यक और अिष्ट है, अुन्हें कभी धुरीण नहीं कहा जा सकता। गैब-दबाव से या लूटमारी करने वालों का भय आगे करके सामान्य लोगों पर स्वयं ही संगठित जुल्म करना कोअी सच्ची समाज-सेवा नहीं है। जब तक मनुष्य-समाज में यह कृपण बुद्धि प्रचलित है कि थोड़ी-सी जुल्म-जबरदस्ती चलेगी, थोड़ा सा स्वातंत्र्य नाश चलेगा, लेकिन अनर्थकारी अव्यवस्था नहीं चलेगी तब तक अैसी ही हालत रहेगी। और अैसा होने पर भी चोर-डाकुओं के भय से पूर्ण रूप से रक्षा तो मिलती ही नहीं।

हमें पहले यह समझ लेना चाहिये कि जिस तरह सुस्निग्ध प्रबंध मनुष्य की नसों में समाया हुआ नहीं है अुसी तरह कुप्रबंध और अंधा-धुंधी भी मनुष्य की हड्डियों में नहीं अुतरी है। शासनतंत्र हो या न हो, व्यवस्था और अव्यवस्था तो समाज में अुतनी ही रहेंगी जितनी कि हमेशा हुआ करती है। लेकिन अव्यवस्था के भय से हम अपनी गाँठ का पैसा खर्च करके अपमानजनक और खर्चीला व्यवस्थातंत्र खरीद लेते हैं।

अिसके बाद का वर्ण है प्रजा-रंजकों का। गायन, चित्रकला, नट नाट्य, काव्य, साहित्य और शिल्प आदि कलाओं द्वारा लोगों को त्रिगुणात्मक आनन्द देने का कार्य यह वर्ण करता है। कला-द्वारा हृदय

की अुन्नति या अवनति हो सकती है। अिसलिये अिस वर्ग का समाज पर असाधारण प्रभुत्व रहता है। अेक ज़माने में फ़ुरसत के वक्त मन-रंजन करने वाले विदूषक या ख़िदमतगार का स्थान अिस वर्ण को मिला था। लेकिन पूर्वकाल में ऋषि, आचार्य या धर्मकार की जितनी योग्यता अिसकी रह सकती थी। हृदय के गूढ़ भावों को जाग्रत करके, हृदय के कोमल, आर्य और ओजस्वी भावों को कलाकार शान देता है, ओप चढ़ाता है, और अिस तरह धर्म तथा नीति का काम आसानी से पूरा करता है। अिन्द्रियगम्य वस्तुओं से अिन्द्रियातीत वस्तुओं को वह मूर्त स्वरूप प्रदान करता है। अतः वह अपर ब्रह्म है। अितनी अिस वर्ण की योग्यता लोग आज समझने लगे हैं। स्वस्थताप्रिय युग में और भोगैश्वर्यों से अूबे हुअे जीवन में रंजकवर्ण का महत्त्व बढ़ना स्वाभाविक है।

यह बात सही है कि आचार्य या धुरीण वर्ग के व्यक्तियों में कला-धर रंजक की शक्ति हो तो अुनका काम अद्भुत रूप से सिद्ध हो जायगा। अिसी तरह रंजक वर्ण के संस्कारी पुरुष में अगर आचार्य की ज्ञान-दृष्टि और प्रेरकशक्ति, तथा धुरीणों की योजना-सामर्थ्य और लोकनाय-कत्व हों तो अुसकी कला को दैवी स्वरूप प्राप्त होगा। लेकिन अितने मिलाप वाले अिने-गिने अुदाहरणों पर से ही रंजक वर्ग को समाज-शिरोमणि का स्थान देना ग़लत होगा। चंद मिसालों में तीनों वर्णों के गुण अेकत्र आ जायँ तो कोअी आश्चर्य की बात नहीं, लेकिन अुस अुस गुण के अनुसार अनुरूप वर्णों की महातमता का ही स्वीकार किया जाना चाहिये।

अब रहा अेक वर्ण। वह है समाज की दया का पात्र भृत्य या चाकर। अन्य वर्णों में जिस किसी को भी स्थान मिल सकता हो अुसे भृत्य वर्ण की आजीविका को कभी पसन्द नहीं करना चाहिये। समाज-सेवा के लिये केवल परोपकार बुद्धि से चाकरी (भृत्यकर्म) तो हर अेक को करनी ही चाहिये। वह नैमित्तिक प्राप्त धर्म है। लेकिन परिचारक

का पेशा अख्तियार करके आजीविका प्राप्त करना, जहाँ तक हो सके टालना चाहिये। अिस वर्ण में सभी प्रकार के परिचारक, नौकर, खाना पकाकर खिलाने वाले रसोअिये, मन्दिरों में पुजारी होके रहने वाले, पालकी-मियाने अुठाने वाले कहार, सब तरह के खिदमतगार और मुसाहब, कल्पकों के मातहत रहकर केवल बताया हुआ काम करने वाले मज़दूर आदि लोग आ जाते हैं। अिस वर्ण के हाथों होने वाली समाज-सेवा कोअी मामूली नहीं है। समाज-पोषक भर्त्ताओं की अपेक्षा अिनकी योग्यता तनिक भी कम नहीं है। मोक्ष दृष्टि से देखा जाय तो अुनकी सन्तोषमूलक सेवा स्वयं अुनके लिये तो अुन्नतकर है ही। लेकिन भृत्य-सेवा बढ़ने से समाज लँगड़ा हो जाता है और आजीविका के लिये यही धंधा हमेशा करने वाला वर्ग अेक अरसे के बाद संस्कारशून्य बनता है। अिसलिये कम से कम आत्मरक्षा के लिये तो समाज को यह देखना चाहिये कि अिस वर्ण की तादाद नहीं बढ़ रही है।

अिस तरह सात वर्णों का सुस्निग्ध संगठन हो जाय तो समाज संस्कारी, सामर्थ्यवान, समृद्ध और सुखी होगा।

साप्तवर्ण्य विचार-सारांश

(१) *आचार्य* :—ज्ञानान्वेषक, धर्मोपदेशक, अध्यापक, जीवन-प्रेरक।

(२) *भर्ता* :—समाज पोषक किसान, माली, जुलाहा, खदान वाला, गड़रिया, अहीर, आदि।

(३) *कल्पक* :—कौशलयुक्त साज़-सामान बनाने वाला कारीगर, निष्णात कलावान, बढ़अी, लुहार, मेमार, पथिक, वैद्य, दरज़ी, कातिब, मोची, चमार आदि।

(४) *वणिक्* :—सार्थवाह (बंजारा), दूकानदार, कारखानेदार, सराफ़ आदि।

(५) *धुरीण* :—संचालक, व्यवस्थापक, राज्यकर्त्ता, नेता, योजक आदि।

(६) *रंजक* :—कलाकार, गायक, चित्रकार, शिल्पकार, कवि, साहित्य

सेवी, अभिनेता आदि।

(७) भृत्य :—परिचारक, रसोइया, पुजारी, कहार, मज़दूर, खिद-मतगार आदि।

—१९३२

[१०]

जातिधर्म और कुलधर्म

कुल और जाति ये दो संस्थाअें प्रकृतिगत होने से स्वयंभू, स्वयं-प्रेरित और सनातन अर्थात् शाश्वत हैं। दोनों में रक्त का सम्बन्ध भी आ जाता है। जिनका रक्त अेक है वह अेक कुल और जिनका रक्त अेक हो सकता है (विवाह-सम्बन्ध से) वह अेक जाति है। (जन्मना जातिः।)

अिन दोनों संस्थाओं के मूल में काम विकार की प्रेरणा, अपत्यैषणा और अपत्यवात्सल्य हैं। गिरोह बनाकर रहना, समूह शक्ति के बल पर जीना, बढ़ना और विजय पाना (प्रकृति पर तथा पराये लोगों पर फ़तह हासिल करना) आदि प्रवृत्तियाँ भी अिन संस्थाओं के मूल में हैं। ये सब प्रवृत्तियाँ प्राणी सहज (Biological) हैं और अिसीलिये अुनकी परवरिश के लिये बहुत कोशिश नहीं करनी पड़ती। ये वृत्तियाँ अंधी, बलवान और स्वाभाविक हैं। ये सब जीवन का पोषण करने वाली हैं लेकिन अुन्हें जीवन-साफल्य का खयाल नहीं है। जब जीवन की सफलता का विचार शुरू होता है तभी जीवन-संसृति में संस्कृति (Culture) जन्म लेती है। अिस संस्कृति के परिपोषण के लिये ही आश्रम-व्यवस्था की तरह वर्ण-व्यवस्था का निर्माण हुआ है। वर्ण और जाति अेक नहीं हैं। यह भी नहीं कि जाति वर्ण का अुपभेद हो। ये दोनों संस्थाअें परस्पर संमिश्र हों तो भी तत्त्वतः और स्वरूपतः परस्पर विभिन्न हैं। बल्कि कुछ हदतक परस्पर विरोधी भी हैं। जाति-संकट और वर्ण-संकट भी अेक नहीं हैं। वर्ण संस्कृतिप्रधान है।

वंशपरंपरा के संस्कार, कौटुम्बिक जीवन के संस्कार, कुलधर्म और जाति धर्म में अुत्पन्न विरुद रूपी संस्कृति का तत्त्व, अिन सबका विचार

करने से वर्ण व्यवस्था में भी जाति का तत्त्व पैदा होगा। यह बुरा भी नहीं है। लेकिन केवल जाति तत्त्व को प्रधानता मिलना अिष्ट नहीं है। अूपर बताये हुअे कारण से और जातितत्व संस्कार, परंपरा तथा विकास के लिये पोषक हो सकने से जाति और वर्ण को अेक प्रवाह में मोड़ना सम्भव और शास्त्रशुद्ध है। लेकिन अिस बारे में कड़े नियम बनाने से मूल अुद्देश्य मारा जाता है।

यह सिद्धान्त कि संकर नरक का कारण है, निरपवाद या त्रिकाल-बाधित नहीं है। (व्यभिचार, लोकनिन्दित सम्बन्ध और शिष्ट लोगों द्वारा नापसन्द किया गया सम्बन्ध, अितने तो निरपवाद नरकगामी हैं ही। जिनका धार्मिक आदर्श परस्पर-भिन्न है, जिनकी संस्कृति की भूमिका ही अलग है, या जिनके रहन-सहन और विचार-पद्धति में ज़मीन-आसमान का फ़र्क है अैसे व्यक्तिओं के विवाह जीवनशास्त्र तथा संस्कृति की दृष्टि से शुभपरिणाम वाले नहीं होते और अैसे विवाहों में अपत्यद्रोह होता है—अिन दो कारणों से वे अनिष्ट समझे जाने चाहिये।)

समान भूमिका वाले भिन्न-भिन्न समाजों में मिश्र विवाह को अुत्तेजन देने का समय कभी-कभी आ जाता है। और कभी-कभी मिश्रण से दूर रह कर अलहदगी रखना ही अिष्ट मालूम होता है। जब दो समाज समकक्ष और तुल्यबल होते हैं तथा दोनों को मिलकर नया पुरुषार्थ करना होता है या नयी संस्कृति पैदा करनी होती है, तब समान आदर्श, समान विचार-प्रणाली और समान पुरुषार्थ देखकर सम्मिश्रण को अुत्तेजन देना ही उचित है, अिसके विपरीत जब परस्पर परिचय नहीं होता, बहुत कम परिचय होता है, दोनों पक्ष तुल्यबल नहीं होते और जब यह डर रहता है कि अेक पक्ष दूसरे को खा जायगा तब तेजोवधकारी मिश्रण से दूर रहना ही अिष्ट है। अैसे समय अलहदगी या पृथकता को महत्व देना चाहिये। नेपोलियन का फ़ौजी वाक्य यहाँ पर अलग अर्थ में चरितार्थ होता है। Ve uniteto Strike and Seperate to lire अर्थात् हम आघात करने के लिए अेक हो जाते हैं और जीने के लिये अलग हो जाते हैं।

दुनिया की विवाह-संस्था का अितिहास देखने पर सभी प्रकार के समाजों में अगर कोअी महत्व का विचार-साम्य दिखाअी देता हो तो वह यह है कि सगे पिता-पुत्री, माता-पुत्र या भाअी-बहन का विवाह-सम्बन्ध अत्यंत निंदनीय माना गया है। प्राचीन काल में अीरान, अुत्तर भारत और अन्य स्थानों में भी भाअी-बहन का व्याह होता तो था लेकिन तुरन्त ही सभी जगह अिस तरह का व्याह त्याज्य माना गया और मनुष्य-हृदय में अैसे विवाहों के प्रति गहरी घृणा बैठ गयी।

अिसके बाद यह विचार कमोबेश पैमाने पर सभी जगह फैल गया कि नज़दीक के रिश्तेदारों में विवाह करना नुक़सानदेह और निंद्य है। अिस अभिप्राय की जड़ में अलिखित किन्तु जबर्दस्त और कड़ुआ अनुभव सर्वत्र हुआ होना चाहिये। नज़दीक के सम्बन्धों में वैवाहिक प्रेम पैदा नहीं हो सकता और विकृत मन के कारण अगर हो भी जाय तो भी वह नहीं टिक सकता। अगर अुन्माद हो तो वह क्षणिक साबित हुआ है। मानसिक दृष्टि से यह बात हुअी।

वैद्यक की दृष्टि से : अत्यंत निकट के विवाह की सन्तान अन्त में निःसत्व, नामर्द, संयमशून्य, कुष्ट-रोगी और मन्दबुद्धि होती मालूम हुअी है और यह भी अनुभव हुआ है कि आगे चलकर सन्तान-वृद्धि भी क्षीण हो जाती है।

संस्कार की दृष्टि से : भिन्न कुलों के संस्कारों का जो अिष्ट संयोग सन्तानों को मिलना चाहिये वह अैसे विवाहों से नहीं मिलता। अिस वजह से कूपमंडूकवृत्ति या बंद तालाब में रुके हुअे पानी की सी हालत अैसे कुटुंबों की होती है।

आरोग्य की दृष्टि से : भिन्न कुटुंबों के विवाह से पैदा होने वाली संतान आनुवंशिक रोगों से टक्कर लेने में जितनी समर्थ होती है अुतनी अेक कुटुंब के विवाह की नहीं होती।

सामाजिक दृष्टि से : अगर अेक कुटुंब आपस में ही विवाह करने लग जाय तो विस्तृत समाज पैदा नहीं होगा। समाज यानी परस्परावलंबन।

यह परस्परावलंबन अुचित मर्यादा में जितना व्यापक और विविध होगा अुतना ही समाज बलवान होगा। 'स्वात्मनि अेव समाप्त व्याप्ति' जैसे अेक कुटुंबी समाज की स्थिति समाजशास्त्र के लिये असह्य हो जानी चाहिये।

शास्त्रधर्म से बाहर के, पिछड़े हुअे या जंगली माने जाने वाले लोग भी निकट के सम्बन्ध में होने वाले विवाहों को निषिद्ध समझते हैं। यह धारणा भी बहुत जगह पायी जाती है कि अेक ही गांव के लड़के लड़कियाँ भाअी-बहन के समान मानी जानी चाहिये। सामाजिक व्यवहार भयरहित और निश्चिंतता के साथ चलने के लिए भी नजदीक के विवाह निषिद्ध समझे जाने चाहिये। जहाँ दिन-रात खुला व्यवहार ज़रूरी हो वहाँ गड़बड़ी होने लगे और अुसी को विवाह मान लेना पड़े तो सामाजिक व्यवहार संकुचित और शक से घिरा हुआ रहेगा। एक गुरु के हाथ के नीचे संस्कार पाने वाले युवक-युवतियों के बीच भाअी-बहन का रिश्ता समझा जाना चाहिये—यह नियम भी अिसी दृष्टि से अिष्ट है।

अेक गोत्र में आपस में विवाह नहीं होने चाहिये। सपिंड, सगोत्र और सप्रवर का विचार किये बिना विवाह न करने की धार्मिक मर्यादा भी यहाँ तक बतायी हुअी धार्मिक मीमांसा में से ही निकली हुअी है। आज शायद वह अवास्तविक बनी होगी।

धर्म की यह दृष्टि और मर्यादा अब कुछ बढ़ाने का अवसर आ गया है। जातिबहुल हिन्दू समाज में अुपजातियों का ढोंग-ढकोसला बहुत बढ़ गया है। हज़ार-हज़ार कुटुंबों की ही छोटी-छोटी जातियाँ बन जायँ तो वह बिलकुल अनिष्ट है; और आज तो सौ सवासौ कुटुंबों की जातियाँ नज़र आती हैं। गुजरात की यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। जिस तरह खेत में अूपर का पानी नीचे न बह जाय अिस हेतु से छोटी-छोटी क्यारियाँ बनाअी जाती हैं अुस तरह ग़रीबों की लड़कियाँ अमीरों के घरों में न बह जायँ अिसलिए छोटी-छोटी नयी-नयी अुपजातियाँ पैदा करने की प्रवृत्ति वहाँ है। बड़े-बड़े जाति-भोजों का खर्च न हो अिस

लिये भी छोटी-छोटी जातियाँ बनाने की प्रवृत्ति दीखती है। अूपर की विवाह-मीमांसा में नज़दीक के सम्बन्धों के विवाहों के जो दोष बताये गये हैं वे सब अिन अुपजातियों के विवाहों में दिखाअी देने लगे हैं। अतः धर्म की दृष्टि, समाजशास्त्र का अनुभव और भावी प्रजा का कल्याण, अिन सब का विचार करके अब अैसा कड़ा नियम बनाना चाहिये कि अपनी अुपजाति में विवाह करना अेक कुटुंब या अेक गोत्र में विवाह करने के समान, सगे भाअी-बहन के विवाह के समान निन्दनीय और महापातक है।

आज-कल जो समाज-सुधार सुझाये जाते हैं अुनसे यह सुधार अलग है। दूसरे सुधार धर्ममर्यादा को शिथिल बनाने के हेतु से सुझाये जाते हों, लेकिन यह सुधार धर्म-दृष्टि को विशेष जाग्रत करने की दृष्टि से सुझाया गया है।

कोअी कहेगा कि आप जात-पाँत के भेद तोड़ना चाहते हैं। जाति भेद को निकाल देना अिष्ट है या नहीं, अिस सवाल को दूर रखकर जवाब दिया जा सकेगा कि गोत्र से बाहर बाहर विवाह करने के आग्रही नियम से अगर गोत्र नहीं मिट जाते हैं, भिन्न कुटुंबों में विवाह होने से अगर कुटुंब नहीं मिटते तो फिर यह नियम करने से कि उपजातियों के बाहर ही विवाह करने चाहिये, किस तरह अुपजातियाँ टूट जायेंगी, और अगर अुपजातियाँ टूट जायँ तो भी उन जातियों का क्या नुक्सान है? वर्ण-व्यवस्था को तो किसी तरह का खतरा नहीं है। संगठनप्रिय ज़माने को तो अैसे सुधारों का विरोध हरगिज़ नहीं करना चाहिये।

यहाँ पर सुझाये गये सुधार और अुनके मूल में रही हुअी विचार-प्रणाली समाजहित की दृष्टि से अत्यंत महत्त्व की है, अुसपर गहरा सोच-विचार होना चाहिये।

---

[११]

साहूकार

जिस तरह मिशनरी लोगों ने अेक ज़माने में हमारी समाज-व्यवस्था की दिल खोलकर निन्दा करके समाज को ढीला, शिथिल करने का श्रेय कमाया था अुसी तरह सरकारी अफ़सर तथा समाज-हितेच्छु पश्चिमी अर्थशास्त्री अेक-दो पीढ़ियों से साहूकार के पीछे पड़े हैं। मिशनरियों की नुक्ताचीनी से ढीला हुआ समाज जिस तरह चौंककर जागृत हुआ है और फिर से बलवान तथा सुदृढ़ होने लगा है अुस तरह साहूकार की संस्था भी अपने पूर्वापर के दोषों को फेंक देकर नये जोश और नये ढंग से समाज-सेवा करने तथा अुस सेवा से समाज का नेतृत्व स्वीकार करने को तैयार हो जाय तो कोअी ताज्जुब नहीं। जब राज चला जाता है तब पुरानी सेना बेकार होकर समाज के लिये भाररूप बन जाती है या नयी संस्कृति की नयी संस्थाअें राजाश्रय के बल पर प्रतिष्ठित होने से पुरानी संस्कृति की पुरानी संस्थाअें सूखकर या सड़कर समाज के लिये विघातक बन जाती हैं। यही हालत साहूकार रूपी संस्था की हुअी है।

पुराने ज़माने में साहूकार सिर्फ व्याज लेकर लोगों को कर्ज़ देने वाला दूकानदार नहीं था। यह सही है कि साहूकार के पास पूँजी रहती, लोगों को अुस पूँजी की ज़रूरत रहती और वह सूद लेकर बतौर क़र्ज़ के पूँजी देता था। लेकिन आज का साहूकार जैसा नीतिशून्य कलाल बन गया है वैसा पुराना साहूकार नहीं था। साहूकार गाँव का नायक था, सामाजिक नीतिमत्ता को जीवित रखने की जिम्मेदारी अुसकी थी। मुसीबत के वक्त, वह लोगों को पैसा अुधार देता था, अितना ही नहीं बल्कि सलाह भी दिया करता था। यह सही है कि वह बहुत ज्यादा व्याज

लेता था, मगर अितना सूद हज़म करके वह कभी पश्चिमी सर्राफ़ों की तरह लखपति नहीं हुआ। वह चाहे जितना व्याज लेता हो, लेकिन अुसका यह विरुद—या सामाजिक आदर्श—था कि अपने गाँव के किसी भी आदमी को डूबने या टूटने न दिया जाय। अैसा भी नहीं था कि अुसका सारा लहना वसूल हो ही जाता हो। लेकिन बात अितनी ही थी कि डूबने वाले असामियों के कारण होने वाले नुक़सान की क़सर वह व्याज की भारी दरों से निकाल लेता था।

साहूकार और रैयत (असामी-देनदार) अेक ही समाज के होने से और दोनों का अन्योन्याश्रय स्वभावसिद्ध होने से रैयत को साहूकार का बहुत तरह से सहारा रहता था। साहूकार प्रजाभक्षक नहीं किन्तु पिता के समान प्रजारक्षक था। कोअी आदमी अनाचारी बन जाय तो अुसे खुले आम कहा-सुनाकर अुसे ठिकाने लाने का काम साहूकार का होता था। ग़रीब के घर की शादी-ब्याह जैसी अड़चनें, घरेलू झगड़े, बीमारी या अिसी तरह की दूसरी कठिनाअियों में लोगों को साहूकार का आधार रहता था। सार्वजनिक कामों का नेतृत्व भी वही करता था और ग़रीबों की छोटी-सी थाती रखने की जगह भी साहूकार ही था। साहूकार अगर किसी को क़र्ज़ देने से अिन्कार करता तो अुस असामी की साख ही मारी जाती, अितना ही नहीं बल्कि सामाजिक नीति की दृष्टि से भी वह नालायक़ समझा जाता। जिस तरह किसी मरीज़ के यहाँ अपना बिल रुक गया हो तो अुस वजह से सच्चा वैद्य अुसको दवा देने से अिन्कार नहीं करता अुस तरह किसी असामी की माली हालत सन्देहयुक्त मालूम हो तो सिर्फ़ अुसी कारण सच्चा साहूकार अुसे क़र्ज़ देने से अिन्कार नहीं करता था। अगर अैसा मालूम होने लगता कि किसी आदमी की व्यवहार-बुद्धि भ्रष्ट हुअी है या अुसकी नीयत बिगड़ गयी है या वह बुरे व्यसनों में पूरी तरह डूब चुका है, तभी साहूकार अुसे क़र्ज़ देना बन्द करता था। अर्थात् क़र्ज़ पाना बन्द हो जाना तो सामाजिक बेअिज़्ज़ती ही समझी जाती थी।

अूपर का चित्र केवल आदर्श नहीं है। अिस प्रकार समाज की सेवा करने वाले साहूकार पुराने ज़माने में सब जगह मौजूद थे। महाजन यानी साहूकार शब्द के अर्थ में ही यह आदर्श विद्यमान है। साहूकार समाज का अेक आवश्यक और महत्त्व का अंग था, अिसलिये अुससे किसी को जलन नहीं होती थी। अूपर के आदर्श को टिकाये रखना बेशक प्रत्येक साहूकार की धर्मबुद्धि पर ही निर्भर रहता था। साहूकार अगर पैसों से ही चिमटा रहे या लोगों को चूसकर अपने घर पर सोने का छप्पर बनाये तो अुसे वैसा करने से रोकने का सीधा साधन कुछ भी नहीं था। अुसकी धर्मबुद्धि, कुल-परंपरा की आकांक्षा, सामाजिक प्रतिष्ठा और समाज की स्थूल न्याय-बुद्धि के पुण्य-प्रकोप की दहशत—अितने ही अंकुश साहूकार पर थे। फलतः साहूकार की सेवा निरंतर चलती थी।

आधुनिक सरकार ने सामाजिक पुण्य-प्रकोप की धार को भुथरा कर दिया है। क़ानून की अदालतों ने सामाजिक ज़िम्मेदारी के बारे में अंधापन धारण किया है और आज के साहूकारों के नंगे स्वार्थ को राज-मान्यता दे दी है। फिर अितना करने के बाद यह शोर मचाकर कि 'साहूकार जनता में लगी हुअी जोंक है,' अुसकी लोकप्रियता को बिलकुल तोड़ दिया है। अेक तरफ़ से साहूकार को बिगड़ने के लिये अुत्तेजन देना और दूसरी तरफ़ से बड़ी चतुराअी के साथ यह जनमत तैयार करना कि साहूकारों का सारा वर्ग ही जनता-द्रोही है,—इस तरह का यह अजीब तमाशा चल रहा है।

साहूकार को अुड़ा देकर अुसकी जगह सोसाअिटी की प्रस्थापना करके गाँव के लोगों का सारा आर्थिक व्यवहार सरकारी ढंग से करा लेना, क़र्ज़ देने में अुदारता का तत्त्व लाने पर भी अुस व्यवहार में से मानवता का सम्बन्ध तोड़ देना, और देहात के आर्थिक जीवन को शहर के अर्थ-व्यवहार की पूँछ में लटका देना—अिस तरह की सारी नीति अिकट्ठा हो गयी है।

अिस सारे खेल में दया सिर्फ़ क़र्ज़ लेने वाली ग़रीब रैयत पर ही नहीं आती बल्कि अपनी आँखों पर अपने हाथों पट्टी बाँधकर अपनी ही बेवकूफ़ी से बिगड़ने और नष्ट होते जाने वाले साहूकार वर्ग पर भी आती है।

सामाजिक नीतिमत्ता दिन पर दिन कम होती जा रही है तथा गाँवों की आमदनी की मदें घटती और खर्च की मदें बढ़ती जा रही हैं; अिसलिये साहूकार के धंधे में भी अब बरकत नहीं रही है। गाँवों के अुद्योग-धंधे नष्ट हो गये हैं, अिसलिये क़र्ज़ लिये हुअे रुपयों का अुपयोग आमदनी की वृद्धि करने में नहीं किया जाता। किसानों में बोये हुअे पैसे अुगकर वापस हाथ में आने की हालत अब मुश्किल हो गयी है। अिस-लिये होशियार, कुशल साहूकारों ने अपना व्यवसाय समेट कर शहर का रास्ता पकड़ा है। कहीं-कहीं यह देखकर कि साहूकारी में अब कोअी दम नहीं रहा है, जो क्षेत्र साहूकारों ने छोड़ दिये हैं वहाँ काबुली पठान या ज़बर्दस्ती का क़ानून चलाने वाले दूसरे क्रूर लोग साहूकार बनकर घुस गये हैं और जनता ज्यादा-ज्यादा बेहाल होती जा रही है।

प्राचीन काल के स्मृतिरम्य चित्र खींचना अलग बात है और प्राचीन काल का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न करना दूसरी बात है। यह नहीं भूलना चाहिये कि जो ज़माना गुज़र गया है वह वापस न आने के लिये, हमेशा के लिये, चला गया है। प्राचीन समाज-व्यवस्था या अुसकी प्राचीन संस्थाअें फिर से प्रचलित नहीं हो सकेंगी। वैसा होना सम्भव हो तो भी नये ज़माने में प्राचीन बातें कारगर नहीं होंगी और वैसा हो तो भी पुरानी बातों को फिर से ज़िन्दा किस लिये किया जाय ? नयी पीढ़ी की अपनी भी कोअी जीवन-प्रतिभा होगी या नहीं ?

प्राचीन व्यवस्था के जीवन-पोषक तत्त्वों की परख करके नये स्वरूप में अुन्हें आचरण में लाना चाहिये।

जिस तरह व्यक्ति में टेक होती है, चारित्र्य होता है, जीवन को कृतार्थ बनाने का समय प्राप्त होने पर सर्वस्व-त्याग करने का पराक्रम

करने की धर्मबुद्धि होती है अुसी तरह संस्थाओं में भी टेक, चारित्र्य, धर्मबुद्धि आदि सभी बातें होती हैं। समाज की सर्वांगी अुन्नति करने वाले अिन तत्त्वों को प्रकट करने का युग अब आ पहुँचा है। जिन लोगों का जीवन परस्पर ओत-प्रोत है, या ओत-प्रोत होना संभव है अुन्हें अपना संघ बनाकर अुन संघों द्वारा साहूकारी करनी चाहिये। अुस साहूकारी में सिर्फ़ आर्थिक व्यवहार ही नहीं बल्कि समग्र जीवन-व्यवहार के सिद्धान्तों को गूँथना चाहिये। अैसे संघों पर सरकारी हुकूमत का अंकुश बिलकुल नहीं होना चाहिये—फिर वह सरकार स्वदेशी ही क्यों न हो। हुकूमत तो समाज के घटकों (अिकाअियों) की हो और वह भी बहुमत के तरीके से निश्चित न करके निःसंशय समाजमान्य व चारित्र्यशील व्यक्तियों की तथा स्थायी होनी चाहिये। वंश-परंपरागत राजाओं के दोषों को जिस तरह समाज सह लेता है अुस तरह अैसे नेताओं के दोषों को बर्दाश्त करके भी समाज को अपनी व्यवस्था को स्थिर बनाना चाहिये। लेकिन अितनी सावधानी ज़रूर रखनी चाहिये कि अैसी व्यवस्था में वंश-परंपरा का तत्त्व न घुसने पाये।

अैसे संघों में पुराने ढंग के, समाज-हित की वृत्ति दिखाने वाले साहूकारों को प्रथम स्थान देना चाहिये। अिससे सहकारी सोसाअिटी के अिष्ट तत्त्वों और वंशपरंपरागत साहूकारों के अच्छे तत्वों का सम्मिलन होगा।

चाहे तो काँग्रेस जैसी मध्यवर्त्ती संस्था चारित्र्यवान और ग्राम-सेवा में दिलचस्पी लेने वाले युवकों को थोड़ी-सी पूँजी देकर और नियम बनाकर गाँवों के लोगों में साहूकारी करने के लिये भेज दे, और अिस बात की तरफ़ ध्यान दे कि अिस तरह की साहूकारी पूँजी से गाँवों के नये-पुराने धंधे किस तरह फिर से ज़िन्दा हो सकते हैं। आलस्य, अव्यवस्था, अप्रामाणिकता और पक्षपात, अिन चार बुराअियों को दूर किया जा सके तो फिर नयी साहूकारी द्वारा बहुत कुछ ग्रामोद्धार हो सकेगा।

———

[१२]

क़र्ज़

हमें अेक बार हमेशा के लिये यह तै कर लेना होगा कि हिन्दुस्तान में बड़े-बड़े कारख़ानों, भारी पूँजियों, सैकड़ों मील की खेती और बढ़ते हुअे विदेशी व्यापार आदि का वायुमंडल चलने देना है या नहीं। हिन्दुस्तान संस्कारी, सुधरा हुआ तथा संगठित राष्ट्र है। वह अगर अिंगलैंड, अमरीका, जर्मनी या जापान का अनुकरण करने का निश्चय करेगा तो आज नहीं तो भी आवश्यक समय के अन्दर वह अुसमें आसानी से कामयाब हो सकेगा। अगर रूस दस साल में असाधारण परिवर्तन कर सका, और अितने ही अरसे में अुल्लिखित समर्थ राष्ट्रों को वह अपना भयंकर प्रतिस्पर्द्धी मालूम होने लगा है, तो हिन्दुस्तान में अैसी ही प्रगति, अिससे भी कम वर्षों में करके दिखाना असंभव नहीं है। लेकिन अिस बारे में सोच-विचार होना चाहिये कि आया हिन्दुस्तान अिस मार्ग को स्वीकार करे या नहीं।

मनुष्य समाज का आर्थिक संगठन अुसके जीवन-सिद्धान्त पर निर्भर रहता है। जर्मनी, अिंगलैंड या रूस का अनुकरण करना हो तो अुनकी जीवन की फ़िलसफ़ी स्वीकार करनी चाहिये। फिर समाज-रचना भी अुनके ढंग पर आप ही आप होती चली जायगी। जैसी अर्थनीति वैसी ही धर्मनीति! अिसलिये दूसरे देशों का अनुकरण करने के मानी हैं हिन्दुस्तान का अपना भारतीयत्व समूलतः छोड़ देना। क्या हम अिस बात के लिये तैयार हैं?

अगर भारतीयता कोअी अलौकिक वस्तु न हो तो अुसे चाहे जिस वक्त छोड़ देने की तैयारी हममें होनी चाहिये। सिर्फ़ अपनापन या

प्राचीनता की कीमत जीवन-दृष्टि से क्या हो सकती है? लेकिन अगर भारतीय जीवन-दृष्टि कल्याण की हो, जगत की मानवता का नाश करने वाले स्वभाव-दोषों को दूर करने की शक्ति अगर भारतीयता में हो तो हमें अनुकरण के मार्ग को कभी स्वीकार नहीं करना चाहिये। दूसरा हमें खा जाय, या हम दूसरे के पीछे-पीछे चलें—चाहे किसी भी तरह का क्यों न हो, अनुकरण तो मौत ही है। दूसरे देशों के बाज़ारों पर कब्ज़ा करके देश विदेशों का पैसा हिन्दुस्तान में घसीट लाने की और पिछड़े हुए देशों में अकाल, बेकारी तथा परतंत्रता यानी गुलामी भेजने की दुर्बुद्धि हममें न हो तो हमें 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः' के अद्रोही तत्व पर ही अपनी समाजनीति तथा अर्थनीति की रचना करनी चाहिये। प्राकृतिक शक्तियाँ, पूँजी और सामाजिक सत्ता आदि सबका विराट केन्द्रीयकरण करने के मानी हैं सामाजिक जीवन में साम्राज्यवाद खड़ा करना। फिर वह साम्राज्य अमेरिकन ढंग का हो या रशियन ढंग का। 'सम्पत्ति के कारण ही ग़रीबी पैदा होती है' यह अर्थशास्त्र का सूक्ष्म तत्व रूस के गले अुतर कर भी नहीं अुतरा है, अिसमें से रास्ता निकालना हो तो हिन्दुस्तान की ग्राम-संस्कृति को ध्यान में रखकर हमें अपनी अर्थ-नीति निश्चित करनी चाहिये। जनता का संगठन राजनैतिक बुनियाद पर न करके संस्कृति की बुनियाद पर करना चाहिये। तभी व्यक्ति-स्वातंत्र्य क़ायम रहकर मनुष्य का आत्मगौरव टिक सकेगा।

अितनी बात हमारे गले अुतरी होगी तो देहातों के आर्थिक जीवन की स्पष्ट कल्पना हमें आयेगी।

छोटे-छोटे या बड़े परिवार अपने-अपने खेत जोतकर सुख से रहते हैं, फ़ुरसत के वक्त छोटे-बड़े समाजोपयोगी धंधे करते हैं, सभी तरह के हुनर-उद्योग छोटे पैमाने पर जगह-जगह चल रहे हैं और सार्वजनिक हित के बड़े काम छोटे-छोटे घटक (अिकाअियाँ) समझदारी से अेकत्र आकर बड़े पैमाने पर पूरे करते हैं—अिस तरह का स्वरूप हो तो वह हमें अिष्ट है। हमारा यह आदर्श है कि हर अेक के पास जोतने के लिये

थोड़ी-बहुत ज़मीन, अुद्योग व्यवसाय करने के लिये औज़ार व हथियार, निश्चित रूप की खपत और अितनी पूँजी हो कि जिससे सालभर का व्यवहार सुचारुरूप से चल सके। अैसी हालत में किसी को भी क़र्ज़ लेने की ज़रूरत नहीं रहनी चाहिये। ख़ास मौकेपर ज्यादा पैसों की ज़रूरत पड़े तो समान व्यवसायी लोगों से चंदे के रूप में अुधार पैसे मिलने चाहिये।

लेकिन यह हालत तो बहुत कोशिश करने पर ही आ सकेगी। तब तक क़र्ज़ लेने की ज़रूरत रहेगी ही।

क़र्ज़ दो तरह के होते हैं। खेती, व्यापार, कारीगरी, अुद्योग, दलाली या सामाजिक हित के बड़े-बड़े कामों के लिये पूँजी का प्रबन्ध करने के हेतु लिये हुअे क़र्ज़ अलग हैं और बीमारी में ख़र्च चलाने, लड़की को दहेज देने, अदालतों में मुक़दमेबाज़ी करने, फ़ाक़ाकशी को दूर करने या दुर्व्यसनों की पूर्ति करने के लिये लिये जाने वाले क़र्ज़ अलग हैं। अगर आदमी दिमाग़ से काम लेता रहा तो पहले क़िस्म के क़र्ज़ों का कुछ ज्यादा बोझ नहीं होता; अुलटे पूँजी बढ़ने से अैसे क़र्ज़ों से, अल्प-मात्रा में ही क्यों न हो, आदमी की ताक़त बढ़ती ही है। दूसरे तरह के क़र्ज़ जीवन को चूसने वाले होते हैं। वे तो अैसा समझकर ही करने चाहिये कि जीवन की कठिनाअियाँ अपरिहार्य हैं।

दोनों प्रकार के क़र्ज़ों के कारण क़र्ज़ देनेवाला आदमी क़र्ज़ लेनेवाले के जीवन पर क़ब्ज़ा कर लेता है। देनदार या क़र्ज़दार जितना छोटा, जितना दुबला या अज्ञानी हो अुतना वह लहनेदार या साहूकार के चंगुल में ज्यादा फँसता है और अन्त में अुसका बिलकुल गुलाम बन जाता है। क़र्ज़ की सभी शर्तें न्याययुक्त हों या चूस डालने वाली अुनका अर्थ और अमल तो साहूकार की अिच्छा के अनुसार निश्चित होता है। अिन तैशुदा शर्तों से बाहर, अिन शर्तों के अलावा भी क़र्ज़दार को साहूकार से दबना पड़ता है, क़र्ज़दार की चारों तरफ़ की दुःस्थिति से लाभ अुठाकर साहूकार न्याय की रक्षा करने का रोब गाँठता है; अितना

ही नहीं बल्कि परोपकार करने का दिखावा भी वह करता है। और अिस सारी स्थिति के सामने क़र्ज़दार को सिर झुकाना पड़ता है। अिसीलिये तो कहावत बन गयी है कि 'ग़र्ज़मन्दों को अक्ल नहीं होती।'

व्यापार-व्यवसाय करने के वास्ते लिये हुअे कर्ज़ में अगर कर्ज़दार सतर्क न हो तो व्यापार-व्यवसाय करने से होने वाले लाभ में से सारा मक्खन तो साहूकार को मिल जायगा और खुद कर्ज़दार के नसीब में खाली छाछ का पानी ही रह जायगा। जिस तरह लोग जानवरों को पालते हैं, अिन्सानों को गुलाम बनाकर रखते हैं, मधुमक्खियों का पालन करते हैं और अुनकी मेहनत का सारा लाभ स्वयं अुठाते हैं अुसी तरह पूँजीपति पूँजी का प्रयोग करके अुससे दूध और शहद देनेवाले क़र्ज़दारों को पालते हैं।

और अगर द्रव्यवृद्धि के लिये नहीं किन्तु आपत्ति से छूटने के लिये कर्ज़ लिया जाय तो फिर पूछना ही क्या? अिस तरह का क़र्ज़ गले की फाँसी नहीं तो कम से कम निरी गुलामी ज़रूर है।

अिसलिये देहात के लोगों को जहाँ तक हो सके कर्ज़ न लेने का निश्चय करना चाहिये। क़र्ज़ लेने से किफ़ायतशारी नष्ट होती है, किसी भी बात का अन्दाज़ा नहीं रहता और सब कुछ अन्धे का दरबार बन जाता है। लेकिन अगर क़र्ज़ लेना ही पड़े तो अितना ध्यान रखना चाहिये कि कम से कम व्याज पर और अपनी सहूलियत की शर्त पर पैसा मिले। कर्ज़ अदा करने की किस्तें या समय अपनी सुविधा के अनुसार ही रखे जायँ। कर्ज़ में डूबकर मर न जाना हो तो कर्ज़ लेने वाले को अपना हिसाब-किताब आअीने की तरह बिलकुल साफ़ रखना चाहिये। बहुत बार साल भर का अन्दाज़ा पहले से न कर रखने से ही कर्ज़ लेना पड़ता है। ग़रीबों के लिये साल का अन्दाज़ा निकालना मुश्किल होता है। अैसे लोगों को चाहिये कि वे अपने भरोसे के समझदार और चारित्र्यवान लोगों के साथ मिलकर आर्थिक संघ बनायें और संघ के द्वारा ही अगले साल के लिये ज़रूरी माल जमा करके रखें। व्यक्ति

को कर्ज़ लेना हो तो वह स्वतंत्र रूप से न लेकर संघ की मारफ़त लिया जाय। अैसा करने से महाजन को अच्छी ज़मानत मिलती है और कर्ज़ लेने वाले को आसानी से पैसे मिलने के अलावा संघ की ओर से अिस बात की कीमती सलाह भी मिलती है कि अुन पैसों का अुपयोग किस तरह किया जाय और हिसाब-किताब कैसे रखा जाय। संघ की देख-रेख और अुसके अंकुश का अुपयोग व्यक्तिगत जीवन को सुसंगठित और पायाशुद्ध करने में बहुत होता है। कर्ज़ से पैदा होने वाली गुलामी को तो अिसी रास्ते से टाला जा सकेगा। कर्ज़ लेना हो हो तो अुसका शास्त्र बनाकर वह वैज्ञानिक तरीके से लिया जाय। संघ जीवन में ही अिसकी संभावना है और अिसलिये संघों की रचना ख़ूब सोच-विचार के साथ होनी चाहिये।

अैसे संघों का अुद्देश्य आर्थिक हो तो भी यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि प्रत्येक संघ अेक जीवन-संघ है। जाति या धर्म के तत्त्व पर अैसे संघों की रचना न हो। लेकिन जिनमें मित्रता का सम्बन्ध है, प्रेम का अपनापन है, पैसों का व्यवहार साफ़-साफ़ होने के बारे में परस्पर-विश्वास है, अेक-दूसरे के व्यवहार में सलाह-मशविरा देने की आदत है, अैसे ही लोगों का संघ बनाया जाय। संघ में नये आदमी को शामिल कर लेना हो तो पुराने लोगों के भारी बहुमत से ही लेने का रिवाज रखा जाय। संघ के प्रधान संचालकों के अभिप्राय को हमेशा महत्व दिया जाय।

मुख्य संचालकों का चुनाव करते वक्त अुनकी चालाकी देखकर नहीं किन्तु अुनकी समाज-हितैषिता, निःस्पृहता, व्यवहार का कड़ापन आदि गुण देखकर ही अुन्हें पसन्द करना चाहिये।

अेंजिन चलाने वाले और गार्ड के भरोसे सारी गाड़ी सौंपकर हम अपने-अपने डिब्बों में सो जाते हैं, अुसी ढंग से किन्तु आलस्य के कारण ही सारी बातें संचालकों पर सौंपकर संघ के लोग सो जाते हैं। अैसी परिस्थिति में संघ का मूल अुद्देश्य ही मारा जाता है। संघ का यह

उद्देश्य है कि संघ में शरीक होने वाले हर व्यक्ति को अिस बात की अच्छी तालीम मिले कि ठीक ढंग से किस तरह जीया जाय और स्वार्थ परार्थ तथा परमार्थ का कैसे सम्पादन किया जाय। अिस अुद्देश्य की पूर्त्ति के लिये सभी को संघ-कार्य में ध्यान देना चाहिये। अेक-दूसरे के जीवन में हस्तक्षेप न करते हुअे जितना ध्यान दिया जा सके अुतना देने की कला अत्यंत अुपयोगी जीवन-कला है। अिस कला के बलपर ही समाज समर्थ बनने वाला है। अैसी सामर्थ्य प्राप्त करने के बाद ही कर्ज़ का व्यवहार ही नहीं बल्कि सारा जीवन-व्यवहार सुव्यवस्थित होने वाला है।

यह सब भविष्य की बात हुअी। लेकिन आज देहातों में जो बेहद कर्ज़ फैल गया है असका क्या अिलाज किया जाय? आज की स्थिति स्वाभाविक नहीं बल्कि अेक सामाजिक महारोग या कोढ़ की निशानी है। यह मानना जड़ता का चिह्न है कि जो चीज़ समाज-व्यापी है वह स्वाभाविक है और वह हमेशा वैसी ही रहने वाली है।

अिस महारोग का अिलाज भी अूपर बताये हुअे संघों में ही है। संघ जैसे-जैसे विशाल और समर्थ बनेगा वैसे-वैसे गाँव के सारे लेन-देन की जानकारी अिकट्ठी करके असकी जाँच-पड़ताल करने को वह समर्थ होगा। किसी का लहना (पावना) डूब जाना जितना अनुचित है अुतना ही अनुचित है समाज और असके पुरुषार्थ का कर्ज़ में डूब जाना। अिस तत्त्व को ध्यान में रख कर समदृष्टि से समाज के लेन-देन की छान-बीन होनी चाहिये, और वह भी अदालती अिन्साफ के तरीके से नहीं बल्कि सामाजिक न्याय के ढंग से। सभी पक्षों की रक्षा करते हुअे आज की गुत्थी सुलझानी चाहिये। असाधारण स्थिति में प्रयुक्त करने के अुपाय भी असाधारण ही होंगे। सरकार और संघ बीच में पड़कर किसी खास तरीके से किसान की कुछ ज़रूरतों का बोझ अुठायें। और बचे हुअे कर्ज़ को अदा करने में किसान की मदद करें। अगर अैसा न होगा तो किसान नहीं बचेगा। अेक बार अिस तरह साफ-सफाअी हो जाने के बाद पहले की भूलें फिर से न होने पायें अिसलिये कोअी प्रबन्ध

करना होगा। केवल कानून को सख्त बनाकर या बात बात में व्यवहार के लिये अिजाजत प्राप्त करने के अड़ंगे लगाने से यह काम होने वाला नहीं है। संघों को ही सामुदायिक अुत्तरदायित्व का बोझ अुठाकर व्यक्ति को मजबूत बनाना चाहिये।

आज के साहूकार वर्ग को अैसी कड़ी तालीम देने की जरूरत है जिससे अुसे परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान हो। जो स्थिति आज है वह आगे नहीं चल सकेगी। जिस तरह रात को सो जाकर—अर्थात् अेक तरह से मरकर—दूसरे दिन हम नये दम के साथ अुठते हैं अुस तरह साहूकार वर्ग को आज के अंक पर परदा डालकर और वैसा करते वक्त जो तकलीफ अुठानी पड़े अुसे बर्दाश्त करके शुरू में बताये हुअे नये अंक का प्रारंभ करना चाहिये। अिस नयी तह के बनाने में संघ की बहुत-कुछ मदद होगी।

जीवन ही निःसत्त्व हुआ हो, तो क्या, कानून, क्या संघ, क्या धर्म क्या धुरीण, किसी भी प्रकार गाड़ी फिर से चलने नहीं लगेगी। गाँवों के अुद्योग-धंधों को फिर से चलाना चाहिये। अुसमें भी नयी दिशा और नये तरीकों की ज़रूरत है। अुद्योग-धंधे बढ़ते हैं, सामाजिक पुरुषार्थ बढ़ता है तो फिर बहता हुआ जीवन आप ही आप शुद्ध और बलवान होता है। अुद्योगी राष्ट्रों के विचारशील पुरुष अिस बात पर सोच-विचार करते रहते हैं कि अपने लिये आवश्यक माल कैसे बनाया जाय; अिस बात का पता लगाते हैं कि देश में बाहर से आने वाला माल पहले कहाँ तैयार होता है, कैसे बनता है, अुसका रूपान्तर कौन और किस तरह करता है, माल का वहन (लाना व ले जाना) कौन करता है और अुस माल को दी जाने वाली कीमत में किस किस को कितना मुनाफा मिलता है। अिसी तरह वे अिस बात का भी पता लगा लेते हैं कि देश में से बाहर जाने वाला माल कौन, किसलिये और कहाँ ले जाता है, अुसका रूपान्तर कैसा और क्यों होता है, वह माल किस काम में आता है और अन्त में कहाँ पहुँच जाता है। वे अिस बात की भी जानकारी हासिल कर लेते

हैं कि ञिस सारे व्यवहार में कितना मुनाफा ञुनके हिस्से में रहता है और कितने मुनाफे के वे वास्तविक मालिक हैं। गुजरात का ञेक किसान हर साल हजारों रुपयों के फल पैदा करता है। ञितना ही नहीं बल्कि कराची, लाहौर, दिल्ली, मद्रास आदि स्थानों की मुसाफरी करके ञिस कोशिश में रहता है कि वहाँ के ग्राहकों को माल मिलने तक का सारा मुनाफा अपने को ही किस तरह मिले। ञुसके बूढ़े बाप से जब यह कहा गया कि विलायत की डाक हिन्दुस्तान से हवाञी जहाज से जाती है, तब वह तुरन्त बोल ञुठा, 'तो फिर हमारे चीकू, आम, बेर वगैरह हवाञी जहाज़ से विलायत क्यों न भेजे जायँ? मेरे यहाँ के फल मौसिम शुरू होने से पहले ही पकते हैं और कुछ पेड़ मौसिम खतम हो जाने के बाद फलते हैं, ञिसलिये दर तो अच्छी ही आनी चाहिये।'

सारी दुनिया का व्यापार करने का लोभ मन में न रखकर हमारे किसान ञिस बूढ़े की तरह जागरूक और सूझवाले बनें तो हिन्दुस्तान की ग़रीबी दूर हो जायगी, जागरूक और कार्यकुशल किसान जब कर्ज़ लेता है तब वह कर्ज़ ञुसे डुबाता नहीं बल्कि तैरने के तुम्बे की तरह या काक की जैकट की तरह तर जाने में मदद करता है।

---

[१३]

मुक़द्मेबाज़ी

हिन्दुस्तान में अपनी बहादुरी के जौहर दिखाने वाले किसी अेक गोरे सेनापति की जीवनी में पढ़ा था कि जब वह अपनी फ़ौज को साथ लेकर बङ्गाल में सफ़र कर रहा था तब अुसने अेक गाँव के लोगों को अपने घर-बार को साथ लेकर जान बचाते हुअे भागते देखा; अुन्हें रोक कर अुसने पूछा 'आप लोगों पर अैसी कौन सी आफ़त आ पड़ी है कि आप गाँव छोड़कर भागे जा रहे हैं ? हमारे पास अितनी बड़ी फ़ौज है कि हम आसानी से आपकी रक्षा कर सकेंगे।' अुन्होंने जवाब दिया, 'अगर वैसा ही कोई दुश्मन होता तो हमने आपसे पनाह ली होती; मगर हमारे गाँव छोड़कर चले जाने का कारण और ही है। हमने सुना है कि हमारे यहाँ ब्रिटिश अदालत की स्थापना होनेवाली है; अिसलिये हम देश त्याग कर रहे हैं।' अिस अनुभव को दर्ज करते हुये अुस गोरे सेनापति के दिल में कौन से भाव पैदा हुये होंगे ? ब्रिटिश लोगों को अपने अिन्साफ़ पर अभिमान है। सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में मद्रास की तरफ़ के अेक संस्कृत कवि ने ब्रिटिश लोगों की न्यायप्रियता का मुक्तकंठ से बखान किया है। अितना होते हुअे भी लोग अदालतों से क्यों डरते होंगे ?

ब्रिटिश न्याय चाहे जितना सम्पूर्ण हो तो भी वह आम तौर पर बहुत खर्चीला है और पेचीदा भी। अुसको पूँछ बढ़ती ही जाती है। और अैसा तो अनुभव नहीं है कि अदालत में जाने वाले लोगों की नीतिमत्ता बढ़ती है। अिसलिये स्थूल न्याय से अपना व्यवहार चलाने वाली पंच-प्रमुख जनता को अुससे डर लगना स्वाभाविक है। ब्रिटिश अदालतों में क़ानून के तत्वों की जो छान बीन होती है वह सचमुच सराहनीय है लेकिन अुसके मूल में जिस तरह के सामाजिक स्वभाव

की कल्पना निहित है वैसा स्वभाव हम लोगों का नहीं है। यह अेक संस्कृति-भेद का सवाल है। हमारा जीवन अधिक सामाजिक है। छोटे-छोटे दायरों में क्यों न हो, हमारे लोग परस्परावलम्बन से रहते हैं और जिस समाज के व्यवहार का झगड़ा होगा अुसी समाज के समझदार तथा दोनों पक्षों का पहचानने वाले पंचों द्वारा न्याय प्राप्त करने की आदत हमें पहले से पड़ी है। अिस न्याय से अेक हाथ में तराजू लेकर बैठी हुअी और आँख पर पट्टी बाँधकर दूसरे हाथ से नंगी तलवार दिखाने वाली न्याय देवी को सन्तुष्ट करने का ख़याल पैदा नहीं होता, लेकिन व्यवहार आसानी से चले, सामाजिक सम्बन्धों की रक्षा हो और बदमाशों को गुनाह करने के लिए अुत्तेजन न मिले अितनी सीधी-सादी दृष्टि रखी जाती है। प्रेम और सहकार को भुलावा देने वाले तराजू के न्याय को हमारे लोगों ने स्वीकार नहीं किया; दो संस्कृतियों में यह बड़ा फ़र्क़ है।

जिस तरह छोटे व्यापारियों को पूँजी के लिये क़र्ज़ देकर साहूकार अुनके धन्धों का बहुत कुछ निचोड़ स्वयं खींच लेता है अुसी तरह अदालतें और अदालतों के दरवाज़ों में बैठे हुअे वकील लड़ने वालों को न्याय दिलाते-दिलाते बिलकुल छील डालते हैं। अिस न्याय का विधि-विधान अितना लम्बा होता है कि अदालत के चक्कर में अेक बार फँस जाने के बाद अपने रोज़मर्रा के व्यवसाय की ओर ध्यान देना आदमी के लिये क़रीब-क़रीब नामुमकिन-सा हो जाता है। हिलती फिरती अदालतों के पीछे घूमते घूमते तो गाँव वालों की नाक में दम आ जाता है। और बीमारी में अच्छा डाक्टर पाना जिस तरह अमरों के नसीब में ही लिखा हुआ होता है अुस तरह अच्छा वकील पाना भी लम्बी थैली वालों के ही नसीब में होता है।

जिस तरह धर्म-प्रचारक मिशनरी लोग अपने धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये ग़रीबों को दवा देने का प्रबन्ध बिलकुल मुफ्त में और बहुत बार हार्दिक सहानुभूति से करते हैं अुसी तरह हमारे देश के बहुत से धर्मनिष्ठ विधि-पंडितों को मिशनरी बनकर लोगों को न्याय दिला देना

चाहिये। और साथ ही अुन्हें न्याय यानी क़ानून की शिक्षा भी देनी चाहिये। जिस प्रकार सच्चा वैद्य मरीज़ को सिर्फ़ दवा देकर ही नहीं रह जाता बल्कि बीमारी के कारण बताकर अुसके न होने के लिये क्या-क्या करना चाहिये अिसकी जानकारी भी दे देता है अुसी तरह सच्चा कानून-दाँ समाज को यह सिखाने के बदले कि कानून के शिकंजे से छूट निकलने के लिये किस तरह अुल्टे-सीधे-दाँव-पेंच किये जायँ और किसी भी घटना को चालाकी से चाहे जो रंग कैसे दिया जाय, अिस बात की तालीम देगा कि अपना व्यवहार किस तरह साफ़-साफ़ रखा जाय। जिस तरह विद्यादान मुनाफ़ा कमाने का व्यवसाय नहीं बनना चाहिये, वह समाज-सेवा का अेक पवित्र हिस्सा है, अुसी तरह व्यवहार में बुद्धिदान या या न्यायदान भी संकट में फँसे हुअे ग़रज़मन्द लोगों से पैसे अैंठने का साधन न बनकर समाज का कल्याण करने वाली अेक तपस्या ही होनी चाहिये।

जिस तरह अितिहास-संशोधन (पुरातत्वान्वेषण) के विषय में पहले पश्चिम के लोगों ने प्रारम्भ किया, लेकिन अब अिस देश के विद्वानों ने यहाँ की संस्कृति को यथार्थ रूप में समझकर अिस विषय में स्वदेशी बुनियाद डाली है अुसी तरह चिकित्सा और न्याय दोनों विभागों में पूर्व परंपरा की परख करके, समाज की नब्ज़ को जाँचकर स्वदेशी पद्धति जारी करनी चाहिए। आज के वकील और डाक्टर सिर्फ़ अनुकरण करने-वाले शिष्य हैं। ये लोग अगर चाहें तो अिन दोनों क्षेत्रों की सारी बुनियाद बदल डालना कोअी बिलकुल असम्भव नहीं है। लेकिन अुसके लिये असाधारण स्वार्थत्याग की आवश्यकता है। लेकिन देवता लोग ही अगर कर्मकांडी यज्ञों के आडंबर का विरोध करने लगे तो अुनका अैश-आराम कैसे चले?

बहुत बार अैसा होता है कि प्रचलित स्थिति के विषय में जिनमें असन्तोष पैदा हुआ है, चालू पद्धति के दोष जिन्हें अच्छी तरह मालूम हो गये हैं, और अिस बात का भी थोड़ा-बहुत ख़याल जिन्हें आया है कि

नयी रचना कैसी होनी चाहिये, अैसे लोगों में प्रचलित तंत्र को बदलकर नया तंत्र चलाने जितनी बुद्धि-सामर्थ्य नहीं होती, अुतनी हिम्मत नहीं होती। अैसे लोगों में आपस में सूक्ष्म मतभेद होने से अुनका संगठन भी नहीं हो सकता। प्रचलित पद्धति तो सङ्गठित, दृढ़मूल और प्रतिष्ठित होती है। अैसी हालत में सुधारकों की पुकार सच्ची होते हुये भी अुससे कुछ फल नहीं निकलता। और अैसे लोगों के कमज़ोर विरोध से पुरानी पद्धति में धक्का लगने के बदले वह अुल्टी मज़बूत बनती है। शिक्षा, चिकित्सा और न्याय अिन तीनों क्षेत्रों में अैसा ही हुआ है।

मनुष्य अगर लालच में न फँसकर भले लोगों के साथ ही व्यवहार रखना तै करे तो दोनों तरफ़ के हिताहित और दोनों पक्षों के स्वार्थों का विचार करने की अुसे आदत पड़ेगी। अितना होते हुये भी मतभेद रह जायँ तो निरपेक्ष अेवं तटस्थ पंचों द्वारा उन्हें मिटाना बहुत मुश्किल नहीं है। लेकिन आदमी लालच का शिकार बन जाता है और यह नियम-सा बँध जाता है कि दोनों पक्ष अपने अपने स्वार्थ के लिये खींचातानी करें। पिछली अेक-दो पीढ़ियों से हम कहते आये हैं कि अदालत की जगह पंचायत की स्थापना होनी चाहिये। लेकिन बिल्ली के गले में अब तक घंटी बँधी नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो पंचायत की स्थापना के लिये समाज का व्यवहार विशेष शुद्ध और अिसलिये अधिक मर्यादित होने की ज़रूरत है। शहर के व्यापारी वायुमंडल के लिये यह कुछ कठिन-सा मालूम होगा, लेकिन गांवों का व्यवहार आसान और सीधा-सादा होने से तथा परस्पर सम्बन्ध केवल अिक़रारनामे का न होकर जीवन-सम्बन्ध होने से अूपर का सुधार वहाँ आसानी से दाखिल होना चाहिये, कोअी आदमी अगर यह व्रत ले बैठे कि किसी भी हालत में झगड़े को अदालत में ले ही न जाया जाय तो अुसे बहुत जल्दी पछताना पड़ेगा; क्योंकि अपनी पूँजी को डुबोकर समाज का सुधार करने का दूरदृष्टि स्वार्थ बहुत कम लोगों में होता है। लेकिन आम तौर पर मनुष्य यह व्रत ले सकता है कि जिस व्यवहार में किसी दिन अदालत जाना पड़े अैसे

व्यवहार में क़दम ही न रखा जाय। और गाँव के लिये तो यही अेकमेव रास्ता है।

यह तो सभी कहते हैं कि अदालत में सच्चे को झूठा बनाये बग़ैर नहीं चलता; लेकिन अगर कोअी दृढ़तापूर्वक और सावधानी के साथ सच्ची वस्तुस्थिति ही अदालत के सामने पेश करे तो कम से कम खानगी व्यवहार में तो सच्चा न्याय देने का अपना नैतिक अुत्तरदायित्व अदालत को आप ही आप महसूस होने लगेगा; फ़िर वह अदालत कैसी ही क्यों न हो ? अुसके लिये जितना वक्त चला जायगा अुतना त्यागपूर्वक सह लेना होगा। आसमानी (अीश्वरीय कोप के) और सुलतानी (राजा के ज़ुल्म के) कारणों से होने वाला नुक़सान हम चुपचाप बर्दाश्त कर लेते हैं, और अुसका अन्दाज़ा लगाकर ही काम चलाते हैं, अुसी तरह रूहानी (आध्यात्मिक) कारणों से आनेवाली मुसीबत को बर्दाश्त करने के लिये हम क्यों न तैयार हो जायँ ? अगर आसमानी-सुलतानी संकटों के होते हुअे भी व्यवहार पूरी तरह नहीं डूबा तो रूहानी कारणों को स्वीकार करने से वह डूब ही जायगा अैसा मानने की क्या कोअी वजह है ? वकील हो या समाज-सुधारक, कोअी भी समाज के सामने यह बात नहीं रखता। जिस तरह शिक्षक या प्रोफेसर निश्चित वेतन लेकर काम करते हैं अुस तरह यह रिवाज शुरू होना चाहिये कि वकील भी निश्चित या नियत वेतन पर काम करें। फिर अपील ले जाने का तरीक़ा तो बिलकुल कम कर देना चाहिये।

यह सब तो जब होनेवाला होगा तब होगा। आज तो देहात के प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवहार में सुधार करके अदालतों से दूर रहने की कोशिश करनी चाहिये। अगर अैसा हुआ तो फिर बस्ती या गाँव छोड़कर जाने की नौबत नहीं आयेगी।

———

व्यसन

शराब से अफ़ीम ख़तरनाक है, शरारत से ओछापन बुरा है, घुड़दौड़ के शौक़ की अपेक्षा पालकी-मियाने का शौक़ ख़राब है,—अितनी बातें अगर लोगों के गले अुतरीं तो व्यसनों की मीमांसा करना हमारे लिये आसान हो जायगा। रजोगुण बहुत गड़बड़ी करता है, जबकि तमोगुण अिस तरह ख़ामोश पड़ा रहता है कि मानो न किसी के लेने में हो न देने में, अिसलिये अगर अैसा लगे कि वह सत्त्वगुण के अधिक नज़दीक है तो वह स्वाभाविक है। लेकिन तमोगुण हर तरह से, चारों तरफ़ से घातक है, अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों को डुबोने वाला है। अितना अगर समझ में आ जाय तो व्यसनों में भी भले-बुरे का निश्चय करना लोग सीख जायेंगे।

व्यसन चाहे जो हों; वे हैं तो ख़राब ही। मगर कुछ व्यसनों में दिमाग़ लड़ाना पड़ता है, हिकमत से काम लेना पड़ता है, और तरह-तरह की कलाओं से जानकारी रखने की ज़रूरत रहती है। अिससे विपरीत कुछ व्यसनों से मनुष्य अपनी सारी शक्ति और अिन्सानियत को भूल जाता है। अिस दूसरे क़िस्म के व्यसन जिस समाज में फैल जाते हैं अुसकी तो खैर ही नहीं, क्योंकि यह स्थिति तो जीवन में ही मृत्यु के समान है।

हमें गाँवों के ख़ास-ख़ास व्यसनों का विचार करना है। शराब, अफ़ीम, गाँजा आदि व्यसनों का विचार करने से पहले अेक सबसे बड़े व्यसन के विषय में सोचना चाहिये। वह है कुछ भी काम-धंधा किये बिना बेकार गप्पे लड़ाते रहना और अड्डे या मजलिस में जो लोग हाज़िर न हों अुनकी बुराअी करने में चाहे जितना वक्त बरबाद करना।

वाहियात बकवाद करने से मनुष्य का पुरुषार्थ जितना क्षीण होता है अुतना शायद विषयसेवन से भी न होता होगा। बातें करते-करते थक जानेवालों के विषय में वैद्यक शास्त्र ने कहा है कि 'वाक्पात वीर्यपात से भी ज्यादा कमज़ोरी पैदा करनेवाला है।' यह बात आध्यात्मिक अर्थ में भी सही है कि वाक्पातो वीर्यपातात् गरीयान्। गाँवों के अिस व्यसन को निकाल देने के लिये देहात के युवकों में बहुत बड़ा आन्दोलन चलाना चहिये। कहा जाता है कि सामाजिक संस्कृति को टिकाने के लिये टीकाशास्त्र अत्यंत आवश्यक है, और वह बहुत कुछ सही भी है। लेकिन निरर्थक गप्पें लड़ाना और अनुपस्थित लोगों की बुराअी करना कोअी सामाजिक अुन्नति का शास्त्र नहीं है। अुससे दिन-प्रतिदिन समाज नीचे गिरता जाता है। बड़ी सुबह अुठकर सवेरे का नाशता करके खेत में पहुंच जाना किसान का भूषण समझा जाता था। रात को चाहे जितना जागना पड़ा हो तो भी सच्चा किसान बड़ी सुबह में ज़रूर अुठता है। अुसके बदले अब देरी से अुठना सभ्यता का लक्षण माना जाने लगा है। नाश्ते की जगह जहाँ चाय का प्रचार हुआ है वहाँ आधी से अधिक सुबह तो क़रीब-क़रीब बेकार ही चली जाती है। लोगों के ध्यान में यह बात अब भी नहीं आयी है कि यह भी अेक व्यसन है।

हमारे पूर्वजों ने सैकड़ों पीढ़ियों के कड़े आग्रह से स्वच्छता और शुचिर्भूतपन की आदतें समाज में दृढ़ की थीं। वे भी अब ढीली पड़ती जा रही हैं, अिस बात की तरफ़ अच्छी तरह हमारा ध्यान नहीं गया है; आहारशुद्धि, शरीरशुद्धि, वस्त्रशुद्धि और वाणी की शुद्धि—ये चार संस्कृति की बुनियाद की बातें हैं। आज के लोग पहले की अपेक्षा कपड़े शायद ज्यादा साफ़ रखते होंगे, लेकिन बाकी की बातों में तो शिथिलता बढ़ती जाती है।

अगले ज़माने के लोग कपड़ों का अिस्तेमाल ही बहुत कम करते थे। बाहर जाते समय पहनने के कपड़े अलग रहते; धोती भी अलग ही रहती और अुन्हें सँभालकर तह करके रख देते। यह वैद्यकीय

अनुभव है कि हमारे देश में कम कपड़े पहनने वालों को क्षयरोग और चमड़ी की बीमारियाँ बहुत कम होती हैं। कपड़े के फैशन बढ़ाकर हमने खर्च बढ़ाया, बीमारियाँ बढ़ायीं, अस्वच्छता का अेक साधन बढ़ाया और चूँकि कपड़े देहातों में नहीं बनते अिसलिये ग़रीबी बढ़ाने का अेक साधन भी बढ़ाया। यह अेक सवाल ही है कि फ़िज़ूल कपड़े पर कपड़े चढ़ाने को व्यसन क्यों न कहा जाय?

कुछ व्यसन अितने दृढ़ और दृढ़मूल हुअे हैं कि अुनके विरुद्ध की लोगों की धर्मबुद्धि ही मंद पड़ गयी है। अश्लील शब्द चाहे जब चाहे जिस तरह बोलना, अेक-दूसरे को गंदी गालियाँ देना और स्त्रियों तथा लड़कों-लड़कियों के सामने भी बेशर्मी से गंदी बातें करना, यह गाँवों के लोगों को ज़रा भी नहीं अखरता। अैसा तो नहीं है कि यह दोष सारी दुनिया में फैला हुआ होने से निकाल देने लायक नहीं है।

और मानो अिस डरसे कि अश्लील शब्दों का भंडार कहीं खाली न हो जाय, शब्दों का अिस्तेमाल करने से वे कहीं झड़ न जायँ, होली-जैसे त्यौहारों को रूढ़ि ने जारी रखा है। होली का त्यौहार गुलामी का द्योतक है। अुसे बदल डालना चहिये, अुसकी शुद्धि करनी चाहिये।

समाज को अन्दर से काट खाने वाला बड़ा व्यसन है वैवाहिक नीति-सम्बन्ध को भ्रष्ट करना। अेक जमाने में हमारे देश में वेश्यागमन बेहद बढ़ गया था। कहा जा सकता है कि फिलहाल वह बहुत ही कम हो गया है। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि व्यभिचार के बारेमें भी अैसा ही कहा जा सकता है या नहीं।

अिस बात की कल्पना करना मुश्किल है कि युवकों में अपने को नामर्द बनाने का व्यसन पहले कितना था। आज तो यह व्यसन शहरों और देहातों में बहुत फैला हुआ है। अिस व्यसन को रोकने का काम स्कूलों के शिक्षक और अखाड़ों के अुस्ताद कभी-कभी करते हैं। लेकिन कभी-कभी तो बाढ़ ही खेत को खा जाती है। अिस विषय में माँ-बाप की लापरवाही समझ में न आने-जैसी और अक्षम्य है। फैशन का नाज़ुकपन

बढ जाने से शरीर को पुष्ट करने की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। बढ़ते हुअे शरीर को जवानी में निर्दोष तथा पौष्टिक आहार मिलना चाहिये और अितनी कसरत व मिहनत मिलनी चाहिये कि सारे वीर्य का बिलकुल पसीना हो जाय। अिसके बदले जीभ को चटोरी बनाने वाला बिलकुल निःसत्व आहार, कपड़ों और बालों का शौक और असमय में बुढ़ापा लाने वाले बैठे खेल आदि बातों का वायुमंडल ही बढ़ा है। पहले गाँवों के युवकों में दलबन्दियों के कारण मारपीटें हुआ करती थीं। आज मारपीटें तो कम हो गयी हैं, लेकिन दलबन्दियाँ कम नहीं हुअी हैं।

यह कहना होगा कि तंबाकू का व्यसन बहुत बढ़ रहा है। अिस व्यसन के कारण दाँत ख़राब होते हैं, गले की बीमारियाँ पैदा होती हैं, फेफड़ों के रोग हमेशा के लिये लग जाते हैं। और टालस्टाय का कहना तो यह है कि सदसद्विवेक-बुद्धि तथा चारित्र्य की दृढ़ता दोनों को तबाह करने की ताकत शराब से भी बढ़कर तंबाकू में है। अुसने अेक मिसाल भी दी है। अेक आदमी को किसी अेक व्यक्ति का खून करना था, लेकिन वैसा करने को अुसकी हिम्मत न चलती थी; अिसलिये पहले तो अुसने शराब की बोतलें चढ़ायीं लेकिन दिल में यह खटका लगा ही रहा कि 'खून घृणित कार्य है, वह हम न करें।' आखिर अुसने चिरुट (तम्बाकू) का सहारा लिया। फिर तो अुसके अन्दर की न्यायबुद्धि, धर्मबुद्धि, आदि सभी आर्य भावनाअें नष्ट हो गयीं, वह 'मर्द' बन गया और अुसने सोचा हुआ निंद्य कर्म पूरा किया।

किसान को शायद ही अैसा लगता है कि तंबाकू की खेती करने में कोअी बुराअी है। राज्यकर्ताओं ने जिस चीज़ को फैशनेबल ठहराया हो अुसका विरोध करने की हिम्मत ही लोग नहीं करते। मुग़लकाल से तम्बाकू राजमान्य बन बैठा है। जिनके घर खाने को भरपेट नहीं मिलता; भूखों पेट थाली पर से अुठने वाले अपने बाल-बच्चों के करुणाजनक मुँह जिन्हें सालभर में कम से कम पाँच-छः महीनों तक हररोज देखने पड़ते हैं अुन्हें भी तम्बाकू के लिये हमेशा पैसा ख़र्च करते देख दुःख के

जितना ही आश्चर्य भी होता है । हर अेक को यह कंठस्थ कर रखना चाहिये कि हिन्दुस्तान में हर साल कितना रुपया तम्बाकू में बरबाद होता है।

अफ़ीम, गांजा, शराब, कोकेन आदि चीजें तो व्यसनों के बादशाह हैं। अुनका साम्राज्य अितना मज़बूत होता है कि अुसे तोड़ डालने के लिये धर्मनिष्ठ लोगों का अेक बड़ा दल तैयार होना चाहिये। यह कहना मुश्किल है कि आदमी अफ़ीम को खाता है या अफीम आदमी को। राजपूत, गरासिये, ज़मीनदार आदि लोगों में अफीम का व्यसन फैल जाने से देश का अेक बड़ा कार्यकुशल वर्ग बिलकुल निःसत्व और महत्त्वाकांक्षा-शून्य होने लगा है। सभी सामाजिक शक्तियों के प्रवाह को अिन व्यसनों को दूर करने की ओर मोड़ना चाहिये । कपट और हिंसा को छोड़ दूसरे सभी अुपायों से शराब, अफीम आदि व्यसनों की जड़ें जहां से भी हो सके, अुखाड़ देनी चाहिये ।

शराब से शरीर-स्वास्थ्य, धन-सम्पत्ति, आबरू और नीति सभी का नाश हो जाता है। समाज का समाजत्व ही नष्ट करने की प्रवृत्ति शराब में है । यह बड़े ताज्जुब की बात है कि अिस बात का पूरा-पूरा अनुभव हो जाने के बाद भी दुनिया के लोग शराब का नाश करने को प्रवृत्त नहीं होते। हिन्दुस्तान में से अिस व्यसन को जड़-मूल से निकाल देना दूसरे देशों की अपेक्षा बहुत-कुछ आसान है। केवल प्रयत्न होना चाहिये।

घुड़दौड़ और वहाँ चलने वाले जुओं के व्यसन से युरोशियन (अैंग्लोअिंडियन) लोग बिलकुल चौपट हो गये हैं, मामूली जुआ भी जगह-जगह दिखाअी देता है। कहीं-कहीं तो जन्माष्टमी के शुभ अवसर पर जुअे का प्रारम्भ होता है या अुसमें बाढ़ आ जाती है। जुआ तो बहुत पुराना स्वदेशी व्यसन है, अुसे नष्ट करने के लिये कठोर अिलाज ही काम में लाने चाहिये ।

---

[१५]

फ़िज़ूलख़र्ची

कुछ राष्ट्र आज अितने अुन्मत्त हो गये हैं कि वे यह सवाल पूछते हैं कि 'नाजायज़ ख़र्च करना या अुड़ाअूपन क्या सचमुच कोअी दोष है?' हम तो अुनका सवाल दूर रखकर ग़रीब हिन्दुस्तान के बारे में ही सोचें। जब देश में आस-पास के लोग भूखों मरते हों, अुस वक्त सिर्फ़ अिसलिये कि अपने पास साधन हैं, अपव्यय करना तो सचमुच समाज-द्रोह है। लेकिन हमारे यहाँ के कुछ रस्मरिवाजों के कारण अिच्छा न होने पर भी अुड़ाअूपन करना पड़ता है, अिसका अधिक दुःख है। अिस दोष का बिलकुल प्राथमिक स्वरूप पुराने परिवारों की अेक धार्मिक मान्यता में दिखाअी देता है। वह मान्यता यह है कि हररोज़ घर के लोगों की आवश्यकता से अधिक रसोअी बनानी चाहिये। घी जैसी खाने की चीज़ का अिस्तेमाल दीया जलाने में करना भी धर्म के नाम पर ही संभव हो सकता है। अिसमें दुर्व्यय यानी बरबादी तो है ही; लेकिन अुसके अलावा ये भी दोष हैं कि अुससे हवा बिगड़ती है, और जिन बछड़ों के मुँह से हम दूध छीन लेते हैं अुनका द्रोह होता है। हम यह पढ़ते हैं कि अुत्सवों के अवसरों पर दरवाज़ों में कीचड़ हो जाने तक दूध डालने का रिवाज भी हमारे यहाँ था। यह भी अिसी तरह का दूसरा दोष है। अुड़ाअूपन अमीरी दिखाने का अेक असंस्कारी अुपाय है। लेकिन अज्ञान से पैदा होने वाला अुड़ाअूपन अिससे जुदी बात है। खाद के काम आने वाला क़ीमती गोबर हम जला डालते हैं—यह दुर्व्यय अज्ञानमूलक है।

साल भर कड़ी मेहनत करने के बाद घर में जब अनाज का ढेर आ जाता है तब किसान की आँखें चौंधिया जाती हैं, वह ख़ुशी से फूल

कर बादशाह बन बैठता है और आगे-पीछे का विचार छोड़कर चार दिन चाहे जितना अुड़ाअूपन कर लेता है; क्योंकि अुसे न तो हिसाब रखना आता है न अगला-पिछला अन्दाज़ा ही। अिसी तरह घर की स्त्रियाँ भी भाँड़े बरतन या भड़कीली चीज़ें ख़रीदने के लिये घर का अनाज और पुराने कपड़े नगण्य से बदले में दे देती हैं। अिस अुड़ाअूपन में अन्दाज़ का अभाव ही मुख्य कारण है। ये भी गौण कारण हो सकते हैं कि अुनके हाथ में पैसे नहीं रहते और व्यवस्थित रूप से ख़र्च करने की लूट या आजादी अुन्हें नहीं रहती।

नौकरी प्राप्त करते समय, व्याह करते वक्त, वसीले से काम कराना हो तो या बड़े बड़े ठीके लेने हों तब हम असल में जितने मालदार होते हैं अुससे ज्यादा दिखाने की ज़रूरत समझी जाती है। क़र्ज़ लेते समय भी अिसी अुपाय का सहारा लेना पड़ता है और अिसलिये बेहद अुड़ाअूपन होता है। अिस आशा से कि आगे कभी मुनाफ़ा होगा, लालच में फँसा हुआ आदमी तुरन्त ख़र्च करके छूट जाता है और बहुत बार बाद में अुसे पछताना पड़ता है। आतिथ्य जैसा प्रेम और समाज सेवा का तत्व भी घमंड और बड़ाअी का साधन बन गया है।

अुड़ाअूपन के ये सब प्रकार साफ़-साफ़ दिखाअी देते हुअे भी कोअी अुनका निषेध नहीं करता। समाज में कोअी आदमी अुड़ाअू बन जाता है तो दूसरों को बहती गंगा में हाथ धोने का मौक़ा मिल जाता है। अैसी स्थिति में समाज सब कुछ जानता हुआ भी स्पष्ट रूप से बोलने की अिच्छा ही नहीं रखता। लेकिन अुड़ाअूपन जब रिवाज बन बैठता है तब अेक की प्रतिस्पर्धा में दूसरे को भी वैसा ख़र्च करना पड़ता है और फिर लोग बुड़बुड़ाने लगते हैं।

दरअसल होना तो यह चाहिये कि लोग अिस बात को समझ लें कि अुड़ाअूपन जिस तरह सृष्टि-रचना के विरुद्ध गुनाह है, अुसी तरह समाज के विरुद्ध भी वह गुनाह है; और वे अुड़ाअू लोगों को समझा-बुझा कर ठिकाने लायें। अुड़ाअू लोगों की 'दानशूर, अुत्साही, रसिक,

अास्थावान, मनुष्य प्रेमी' आदि चिकने-चुपड़े विशेषणों से खुशामद न करके समाज धुरीणों को चाहिये कि वे अुन्हें डंके की चोट से अच्छी तरह सुनावें कि अुडाअूपन में बिलकुल प्रतिष्ठा नहीं है। यह समझकर कि द्रव्य सामाजिक वस्तु है, अुसका दुरुपयोग समाज को चारों तरफ़ से नुक़सान पहुँचाता है, समाज को सम्पत्ति के दुर्व्यय को रोकना चाहिये। अुत्सव, यात्रा, विवाह, जनेअू आदि सार्वजनिक अवसरों पर भी होने वाला फ़िज़ूल खर्च और जेवनारों यानी दावतों में होने वाली अन्न की बरबादी, यह सब असंस्कारिता के लक्षण हैं अिस तरह का लोकमत हमेशा तैयार करते रहना चाहिये। बीमारी के समय डरकर, प्रेमातिरेक से अंधाधुंध खर्च करने में भी असंस्कारिता, कायरता ही नहीं बल्कि नास्तिकता भी है यह विचार लोगों के सामने रखा जाना चाहिये। फिर जिनके लिये अिस तरह का फ़िज़ूल खर्च होता है अुन्हें भी अपनी शर्मिन्दगी और नापसन्दीदगी जाहिर करनी चाहिये। अुडाअूपन तो सचमुच अधार्मिक वस्तु है।

———

[१६]

दारिद्र्य

श्रिस निर्विवाद प्रश्न पर भी श्रेक प्रतिपक्ष पैदा हुश्रा है वि हिन्दुस्तान की श्रार्थिक स्थिति दिन-प्रति-दिन गिरती जा रही है। लेकिन श्रिस विषय में तो कहीं भी दो मत नहीं हैं कि हिन्दुस्तान के देहात रोज़-ब-रोज़ अधिकाधिक कंगाल बनते जा रहे हैं। श्रिस दरिद्रता के कारण अनेक हैं। श्रुन सबकी चर्चा न करके यहाँ हम सिर्फ़ श्रुन्हीं कारणों का विचार करेंगे जिन्हें श्राज के किसान स्वयं दूर कर सकते हैं।

श्रेक बात साफ़ है कि लोगों का खर्च दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। खर्च बढ़ने के दो कारण हैं: ज़रूरी चीज़ों का मँहगा हो जाना श्रौर ग़ैर ज़रूरी चीज़ों का चस्का लगना। श्रयोग्य स्थान पर खर्च, ज़मीन का महसूल श्रौर कर्ज़ का बोझ, ये भी खर्च बढ़ने के कारण हैं। खर्च के अनुपात में अगर श्रामदनी बढ़ती रही तो खर्च का बोझ महसूस न होगा। श्रुलटे, खर्च वैसा ही बना रहे श्रौर श्रामदनी कम हो जाय तो पहले का स्वाभाविक खर्च श्राज अस्वाभाविक लगने लगेगा श्रौर अधिकाधिक खटकने लगेगा। हमारे किसानों की प्रतारणा दुगुनी है: खर्च बढ़ा है श्रौर श्रामदनी कम हो गयी है। श्रैसे लोग जो कि किसान नहीं हैं, यानी कारीगर, मज़दूर या श्राश्रित धंधे करनेवाले दूसरे लोग जो अबतक गाँवों से चिमटे हुश्रे हैं, श्रुनकी दुर्गति तो किसान से भी अधिक है, क्योंकि हालाँकि किसान की श्रामदनी कम हो गयी है, फिर भी कभी-कभी वह श्रुसे बढ़ा सकता है श्रौर श्रुसे महँगी का फ़ायदा भी मिलता है। लेकिन दूसरे श्रुद्योग-धंधे बिलकुल ही मर गये हैं। जीवन के लिये श्रुपयोगी सभी छोटी-मोटी चीज़ें शहरों या विदेशों से श्राने

लगी हैं। फिर लोगों की अभिरुचि में तब्दीली हुअी है, अिससे भी गाँवों के बहुत सारे धंधे डूबने लगे हैं।

ग़रीबी का अेक दूसरा और महत्त्व का कारण है हमारे अुद्योगधंधों और गृहस्थी का फूहड़ तरीका। जब बाहर का पुरुषार्थ और पराक्रम कम हो जाते हैं तब आपस में फ़िज़ूल के झगड़े खड़े होते हैं और अपनी नालायक़ी का गुस्सा अेक दूसरों पर अुतारते हैं। यह अनुभव सार्वत्रिक है। जब पराक्रम अधिक हो अुस वक्त लोग अगर अलग-अलग रहें तो चल सकता है; लेकिन अुसी समय लोग आसानी से अेकत्र रह सकते हैं। अिसके विपरीत जब हालत गिर जाती है तब बहुत से लोगों के अेकत्र होकर अंध-पंगुन्याय से अेक दूसरे के सहारे रहने की बेहद ज़रूरत होती है। लेकिन अैसे अवसर पर ही जीवन-कलह असह्य बन जाता है और बात-बात में झगड़े पैदा होते हैं।

हम लोगों का जीवन बहुत कुछ महाराष्ट्र के देशस्थ ब्राह्मणों के जीवन के जैसा होता है। आमदनी चाहे जितनी कम हो जाने पर भी हमें खर्च को कम करने की बात नहीं सूझती। कुटुम्ब के बहुत से लोगों की समझ में यह बात नहीं आती कि अगर खर्च में कमी हो ही न सकती हो तो सबको जीतोड़ मेहनत करके आमदनी बढ़ानी चाहिये। साहूकारों को चाहिये कि वे असामियों को बचाकर, अुनकी शक्ति बढ़ाकर अुनकी बढ़नेवाली आमदनी से ज्यादा मुनाफ़ा पाने की महत्त्वाकांक्षा रखें। लेकिन वे वैसा न करके असामियों को बिलकुल चूसकर मुनाफ़ा कमाने की नीयत से अुन्हें मार डालते हैं। महाभारत में जो यह बात कही गयी है कि जनता के साथ के व्यवहार में माली की तरह मुनाफ़ा कमाना चाहिये न कि कोयला बेचने वाले की तरह; अुसे आज लोग बिलकुल ही भूल गये हैं। कमानेवाले को हमेशा पीठबल और मनुष्यबल की अपेक्षा रहती है, बाहर से कमाअी करके घर में लायी हुअी सम्पत्ति का बाकायदा अिन्तज़ाम करनेवाला और अुसकी क़द्र करनेवाला कोअी व्यक्ति घर में हो तो अुसे कमाने में दुगुनी अुम्मीद रहती है। सौ

फ़ीसदी सहयोग करनेवाले आत्मीय और दक्ष लोगों का संघ बढ़ता है तो वह संघशक्ति लगभग दुर्जय बन जाती है। लेकिन हमारे समाज में अेक आदमी अुत्साह से काम करने लगता है तो दूसरे को अुससे अीर्ष्या होती है या अुसपर सुस्ती सवार हो जाती है। आगे बढ़नेवालों के पैर तोड़ डालना, तैरनेवाले के गले में पत्थर बनकर रहना कोअी आदमी कर्त्ता मालूम हो तो आश्रित लोगों का अुसके आस-पास काअी की तरह जमकर, अुसे घेरकर अपने क्षुद्र हेतुओं को सिद्ध करने का प्रयत्न करना—अिस तरह का अनुभव कम से कम गाँवों में तो होता ही है। गाँवों की अिस हालत से अूबकर वहाँ की महत्त्वाकांक्षा साधन-सम्पति के साथ शहर की ओर दौड़ पड़ती है, अैसा सार्वत्रिक अनुभव है, लेकिन अुसका पृथक्करण अभी नहीं हुआ है।

गाँवों में पुरानी सामाजिक संस्कृति, सड़ी हुअी स्थिति में ही क्यों न हो, अभी जीवित है। अुस संस्कृति में जीवन और जिम्मेदारी की जिस तरह की अपेक्षा व्यक्ति की ओर से रखी जाती है अुसे टालना संभव नहीं होता। पुरानी संस्कृति का यह आग्रह क्षीणवीर्य समाज में भार रूप हो जाता है। शहर के लोगों ने पुरानी संस्कृति को त्रिलकुल फेंक दिया है। शहर में आदमी शर्महया छोड़कर अपने ग़ैर ज़िम्मेदार स्वार्थ साध सकता है। शहरों का सामाजिक संगठन अत्यंत ढीला हो गया है। अिसलिये व्यक्ति के लिये व्यक्तिगत प्रगति करना बहुत आसान हो गया है। जब कोअी राज्य टूटने लगता है तब थोड़ी देर के लिये राज्य के सरदार बलवान हो जाते हैं परन्तु अन्त में संघ-सामर्थ्य के अभाव के कारण सभी का नाश होता है। अिसी तरह सामाजिक बन्धन तोड़ डालने से व्यक्तियों का वैभव पहले तो तेज़ी से बढ़ता है लेकिन वह प्रगति अन्त में अुच्च पोषण के अभाव में रुक जाती है। शहरों और गाँवों का यह संस्कृति-भेद ध्यान में रखना चाहिये। ग्रामोद्धार की दिशा निश्चित करने में वह बहुत महत्त्व का है।

यह कहने में कोअी हर्ज नहीं कि कम से कम हिन्दू समाज में शहर

गाँवों पर जीते हैं, लेकिन यह अुपजीविका माली की तरह नहीं किन्तु कोयला बेचनेवाले की की तरह है, गाँवों का कच्चा माल, कार्यकुशलता और साधन-सम्पत्ति शहरों में पहुँचती है। गाँवों के अुद्योग-धंधों को शहर कुछ भी आश्रय नहीं देते। अपने लिये आवश्यक माल, जैसा विदेश से आये वैसा या जैसा बाज़ार से मिले वैसा, ले लेने की जड़ता में बढ़ी है। पुराने ज़माने में ज़मीनदार, जागीरदार, और दूसरे अमीर लोग कारीगरों और कलाकारों से अपनी अिच्छा के अनुसार माल तैयार करवाते और दूसरे लोग अुनका अनुकरण करते। अिससे संस्कृति को आकार मिलता और साथ ही देश के कारीगरों को सार्वत्रिक अुत्तेजन मिलने से वे समृद्ध हो जाते। आज का हिन्दुस्तान विदेशों के बने बनाये माल का अंधा ग्राहक बना है। अिस वजह से देश की ग़रीबी तेज़ी से बढ़ रही है। और अुद्योग-व्यवसाय के वायुमंडल से ही लोगों को जो शिक्षा और संस्कृति आसानी से मिलनी चाहिये अुसका मिलना असंभव हो गया है।

जीवित समाज का यह लक्षण है कि वह अपने रहन-सहन पर गहराओ से सोचे; अुस रहन-सहन की दृष्टि से यह तै करे कि अिस्तेमाल करने की चीज़ें कैसी होनी चाहिये, जीवन के आदर्श के अनुसार वर्ताव के नियम, शिष्टाचार के ढंग, सामाजिक धर्म और सामाजिक संस्थाओं को निश्चित करे तथा साथ ही ज़रूरी चीज़ें अपनी देख-रेख के नीचे और अपनी आवश्यकता व अभिरुचि के अनुसार तैयार कराये। चाहे जिस तरह का बना-बनाया माल, चाहे जो क़ीमत देकर बाज़ार से ख़रीदकर काम चला लेने की आदत असंस्कारिता का चिह्न है। अपने लिये ज़रूरी माल अपने ही लोगों से, अपनी ही देख-रेख में तैयार कराने में शिक्षा है, पुरुषार्थ है, आनन्द है और अुसी में जीवन की संस्कृति है। हमारा समाज फुसफुसा न बना होता तो अुसके गले यह बात आसानी से अुतर जाती। फुसफुसे समाज का दारिद्र्य दूर करना कुबेर के लिये भी संभव नहीं।

ग़रीबी दूर करने के लिये अनेक अुपयोगी योजना करनी चाहिये। लेकिन अुसमें भी प्रधान अुपाय यह है कि सब में—और खासकर अुच्चवर्गीय लोगों में—हाथ पाँव का अिस्तेमाल करने की आदत डाली जाय। महाभारत की वाणी गला फाड़कर कह रही है कि हाथ-पाँव के होते हुअे भी आप कैसे बैठे रहे हैं? हस्तपादादि संयुक्ताः यूयं किमवसीदथ।

लक्ष्मी का आद्य निवासस्थान शिरकमल नहीं बल्कि करकमल है। करकमल से अुद्योग और पुरुषार्थ किये बिना शिरकमल पर मुकुट नहीं चढ़ता। गद्दी पर बैठकर धंधा करनेवाले लोग अगर अुद्योग और शरीरश्रम का मज़ा चखेंगे तो अुनके शरीर बलवान होंगे, सन्तान वीर्यवान होगी, अुनका मस्तिष्क व्यवहारकुशल बनेगा, शंका-कुशंकाअें और झगड़े-फ़िसाद बहुत कम हो जायेंगे, अुनका वायुमंडल समाज में फैलेगा, अुच्चनीच-भाव का रोग चला जायगा, तेजस्वी जीवनानन्द सबको प्राप्त होगा और ग़रीबी की बीमारी की जड़ बिलकुल नष्ट हो जायगी।

———

[१७]

मज़दूर और बेकारी

हिन्दुस्तान में अुद्योग-धन्धे कम होने से बहुत-सी आबादी का बोझ खेती पर पड़ा है। और अितनी जनसंख्या का बोझ अुठाने की क़ूवत खेती में नहीं है। अिसीलिये सरकारी कर्मचारी और लोक-नायक दोनों कह रहे हैं कि गाँवों के लोगों को खेती के साथ सहायक अुपधन्धे खोज-कर देने चाहियें। सरकारी आँकड़ों पर से अनेक गोरे अधिकारियों ने यह बात सबूत देकर साबित की है। सरकार द्वारा नियुक्त शाही कमिश्नर ने भी सोच-विचार कर यही बात स्वीकार कर ली है।

दूसरी ओर प्रधानतया शहरों में ही रहने वाले और कटाओ के दिनों में या गन्ने की मौसिम में गाँवों में जा आने वाले बहुत से सफ़ेदपोश लोग चर्चा करते समय कहते हैं कि "आजकल मज़दूरी कितनी महँगी हो गयी है। मज़दूर मिलना ही मुश्किल हो गया है और पूरी मज़दूरी लेकर भी आठ घंटे काम करें तो ख़ुदा की क़सम! आते हैं देरी से और अगर देरी का कारण पूछा जाय तो अुलटे वापस चले जाने की धमकी देते हैं। बीड़ी-तम्बाकू में घण्टों बरबाद करते हैं और काम को पूरा किये बिना ही कभी-कभी दूसरी जगह चले जाते हैं, यह तो अलग ही है। यह है हमारा अनुभव और आप कहते हैं कि 'मज़दूरों को काम नहीं मिलता।' यह कैसी अजीब बात है?"

कटाओ के दिनों में मज़दूरों की चारों ओर से माँग होती है। सभी को अपना-अपना माल समय पर तैयार करना होता है। अिसलिये कुछ दिनों तक तो काम की भीड़ ज़रूर रहती है; लेकिन चौमासे में मज़दूरों की दुरवस्था देखी नहीं जाती। अगर आप अैसा कहते हैं तो शहर के लोग

कहेंगे, 'अजी चौमासे का भी हमें अनुभव है। पानी चू चू कर दीवार गिरने लग जाती है तो भी छत सँवारने वाले नहीं मिलते। आजकल अुच्चवर्णीय क्लर्कों की ही मौत है। जहाँ देखिये वहाँ मज़दूर अुन्मत्त हो गये हैं। रसोअिये को खा-पीकर पंद्रह रुपयों में रहने को कहा जाता है तो वह कहता है, 'क्या आप मुझे कोअी क्लर्क समझ बैठे हैं?' आख़िर यह सब गोलमाल है क्या?

यह बात निर्विवाद सच्ची है कि मज़दूर समय पर काम करने नहीं आते, दिल लगाकर काम नहीं करते, हीला-हवाला करते हैं। शहर में बारिश के दिनों में खपरैल ठीक करने के लिये मज़दूर नहीं मिलते, अिस बात से शहर के लोग अगर यह नतीजा निकालें कि सभी जगह मज़दूर मिलना मुश्किल होता है, तो वह स्वाभाविक है। यह तो मानव स्वभाव का ही दोष है कि अपने थोड़े से अनुभव पर से वह यह तै कर डालता है कि दुनिया में सब जगह वैसा ही होता है। बरसात के दिनों में खाने को न मिलने से अर्थात् मज़दूरी के अभाव में फ़ाक़ाकशी से लोगों की मृत्यु होने की मिसालें सचमुच ही मिलती हैं। आधुनिक पद्धति के छोटे बड़े कारखाने जहाँ चलते हैं वहाँ बाज़ार-भाव से अधिक मज़दूरी दी जाती है। अिसलिये कारखानों के अिर्दगिर्द के प्रदेश में खेती के काम पड़े रहते हैं, मज़दूर नहीं मिलते और खेती का सत्व भी दिन-प्रति-दिन कम होता जाता है। कारखाने वाले शहर में प्लेग या अिनल्फ़ुअेंजा का प्रकोप जब हो जाता है तब मज़दूर पटापट मरने लगते हैं। अुस वक्त कारखाने बन्द न पड़ जायँ अिसलिये कारखानेदार मज़दूरी की दरें बढ़ाते जाते हैं और आस-पास के गाँवों से मज़दूर मँगाते हैं। नये मज़दूर छूत की बीमारी के शिकार हो जाते हैं, तो फिर मज़दूरी बढ़ाते हैं। अिस तरह बीमारी के दिनों में शहरी कारखाने मज़दूरों की बलि चढ़ाने के मज़दूर सब ही बने हों, अैसा दिखाअी देता है।

अहमदाबाद, बम्बअी, कलकत्ता, कानपुर, जमशेदपुर, कोअिम्बतूर, मदुरा आदि शहरों में चाहे जितने मज़दूरों का प्रवाह अेक-सा जारी रह

सकता है—यही बताता है कि गाँवों में बेहद बेकारी बढ़ जाने से मज़दूर निठल्ले पड़े हैं। शहरों के आस पास के गाँवों में बेकारी कम होने की वजह से शहरों के लोगों को गांवों के दुःख दिखाई नहीं देते। हिन्दुस्तान में ऐसे कई हिस्से हैं जहां के गरीबों ने दुअन्नी या चवन्नी से बड़ा चांदी का सिक्का देखा ही नहीं है। कहीं-कहीं गाय भैंस हों तो उनका दूध खरीदने वाला कोई नहीं मिलता।

ऐसी भिन्न-भिन्न परिस्थिति वाले देश के गांवों के मज़दूर वर्ग का हमें विचार करना है।

गांवों में खेती को छोड़ दूसरे सभी धन्धे टूट जाने से ऐसा प्रबन्ध कहीं भी नहीं रहा है कि मज़दूरों को बारहों मास काम मिलता रहे। शहरों को यह नहीं पुसाता कि मज़दूर खेती के दिनों में गाँव की खेती करें और शेष समय में मज़दूरी के लिये शहरों में चले जांय। खेती का काम करने वाले परिवारों को भी ऐसा भटकीला जीवन नहीं पुसाता। जब कोंकण (महाराष्ट्र) के बेकार लोग घर की खेती सँभालकर बम्बई की मिलों में काम करने के लिये जाने लगे तब मिलवालों ने यह शोर मचाया कि 'ये मज़दूर स्थायी रूप से नहीं रहते, इससे हमें बहुत नुक़सान पहुंचता है।' गाव में रहने वाले हर आदमी के पास थोड़ी-सी ज़मीन और मवेशी तो रहने ही चाहिये। शहरों में कारखाने चलाकर खेती और ग्राम-संस्कृति दोनों का नाश करने की अपेक्षा ऐसे सभी तरह के धन्धों को गांवों में ले जाकर बो देना चाहिये जो वहां बैठे-बैठे हो सकते हों।

ऐसा करने की जिनके पास थोड़ी भी गुंजाइश—हैसियत हो, अक्ल-होशियारी हो उन उच्चवर्णीय लोगों को गांवों में जाकर रहना पसन्द करना चाहिये। आज की नाज़ुक हालत में भी अगर सफ़ेद-पोश परिवार गांवों में जाकर बस जायँ, भरपेट अन्न और वस्त्र में सन्तोष मानें और गांवों में ही मिल सकने वाले स्वास्थ्य तथा जीवनानन्द का चस्का उन्हें लग जाय तो यह सब सम्भव है। गाँव के मध्यम श्रेणी के लोग

अगर सेवावृत्ति स्वीकार करें तो अुनका भरण-पोषण सुख से चल सकेगा। गाँव के बेचारे किसानों और दूसरे लोगों को प्रत्येक प्रकार की सेवा बहुत महँगी मिलती है। बाज़ार से खरीदने की चीज़ें, दवा-दारू की मदद, वकील की सलाह, रोग-आपत्ति के समय देव-दैत्यों को सन्तुष्ट करने के लिये दी जाने वाली धार्मिक मंत्रणा, खेती का माल बेचते वक्त ज़रूरी व्यापारी सलाह, भूत प्रेत को निकालने के लिये ज़रूरी जन्तर-मन्तर, दिल को अच्छा लगने के आवश्यक ब्राह्मणों के आशीर्वाद—सब कुछ अुन्हें महँगा पड़ता है। फिर ज़रूरत के वक्त क़र्ज़ लेने के पैसे महँगे पड़ जायँ तो क्या आश्चर्य ?

गाँवों में किसानों को सालभर के लिये खेती का काम न हो तो कोअी न कोअी अुद्योग-धन्धा खोज निकालना सम्भव है। अुससे पेट न भरे तो भी वक्त तो कटेगा ही। लेकिन मज़दूरों की बात अैसी नहीं है। मज़दूरों में किसानों जितनी अपनी स्थिति को सुधारने की न पहुँच है, और न अुत्साह ही। अिसलिये समझदार लोगों को चाहिये कि वे अुनका नेतृत्व करके अुन्हें छोटे-छोटे धन्धों में लगा दें। लाखों रुपयों की कीमती कलें लाकर बड़े-बड़े कारखाने खोलने से व्यक्ति का स्वार्थ सधता होगा लेकिन हिन्दुस्तान की ग़रीब जनता का अुससे तनिक भी कल्याण नहीं है। फिर लाखों रुपयों की पूँजी जमा करने की शक्ति भी तो थोड़े ही लोगों में हो सकती है। लेकिन यह आसानी से हो सकता है कि लाखों समझदार देश-सेवक गाँव में जाकर, वहाँ रहकर करोड़ों लोगों को छोटे अुद्योग-धन्धे सिखायें और अिस तरह भूखों मरने वालों को स्थायी रूप से अन्न पहुंचायें। अिसीलिये प्रजाकीय शिक्षा में बौद्धिक विकास का झूठा बड़प्पन कम करके अुद्योग-व्यवसाय का तत्व शुरू करके अुसे बढ़ाने की ज़रूरत है। जिन्हें परोपकार के लिये ही जीना है अुन्हें तो बौद्धिक विकास के झूठे बड़प्पन को ताक पर रखकर गरीबों के के हित के लिये अुद्योग की ओर हाथ बढ़ाना चाहिये। अैसों को आवश्यक बुद्धियोग सर्वान्तर्यामी परमात्मा स्वयं देगा। वैसा अुसका कौल या वचन है।

[१८]

ग्रामव्यवस्था

'कारू, नारू, अलुते, बलुते' आदि (पुराने मराठी) शब्द आज बिलकुल पराये से लगते हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि अुनके मूल में हमारे पूर्वजों द्वारा निर्मित अेक विशाल संस्कृति और समाज-व्यवस्था थी। समाज-रचना के भिन्न भिन्न सिद्धान्त दुनिया के सामने पेश करने वाले विदेश के अुत्साही तत्वज्ञ अगर अिस व्यवस्था के के बारे में सुन लें तो वे आश्चर्यचकित होकर कहेंगे कि आज की दुनिया को तो अैसी ही समाज-व्यवस्था की ज़रूरत है। हमारी वर्णव्यवस्था और ग्राम-व्यवस्था दोनों के वास्तविक तत्त्वों को ठीक तरह समझ लेकर अुन्हें दुनिया के सामने रखना चाहिये। अिस विचार से कि सबको सुख मिले, सब मिलजुलकर रहें, प्रत्येक को विकास का अवसर मिले, और अधिकाधिक सामाजिक उन्नति हो, हमारे पूर्वजों ने अिन अन्तः-शासित संस्थाओं की रचना की थी। समाज में रहने वाले सभी लोगों की सामुदायिक ज़िम्मेदारी और समाज के श्रेष्ठ लोगों के हाथ में अधिकार— अिन दो का समन्वय भी अुनमें अच्छी तरह सिद्ध हुआ था। सामाजिक कल्याण को 'धर्म' का नाम देकर अुसके अंकुश के नीचे आर्थिक व्यवस्था की रचना करने से स्थैर्य (स्थिरता) और प्रगति (गति) दोनों में मेल बैठा था। हमारे पूर्वजों की समाज-रचना में विधान (Constitution), राजा, परम्परा, अन्तिम सत्ता, स्वदेश भावना—सब कुछ धर्म ही था। सामाजिक सुव्यवस्था के अखिल तंत्र को 'धर्म' का नाम देकर प्रत्येक व्यक्ति के करने के सब कर्तव्यों को 'स्वधर्म-पालन' नाम दिया गया था। सारे संसार का क्रम अच्छी तरह चलता रहे अिसलिये स्वधर्म का यह प्रेरक तत्व दुनिया को कभी न कभी स्वीकार करना ही होगा।

———

गांवों में शिक्षा का सवाल

अिंग्लैंड, अमेरिका, जर्मनी, फ्रान्स, बेलजियम, किसी हद्तक अिटली और पूर्व में जापान अिन देशों को छोड़ सारी दुनिया ग्राम-प्रधान है। लेकिन आजकल तो अिन नगर-प्रधान देशों के ही साम्राज्य का संसार में बोलबाला है। यह सही है कि शहरी जीवन अुद्योग-व्यवसाय यानी कल-कारखानों से समृद्ध हुआ है, फिर भी अिन देशों का साम्राज्य और अिनकी कल्पनातीत सम्पत्ति अुन देशों के शोषण पर ही आधारित है जो यंत्र-प्रधान सम्पत्ति में आगे नहीं बढ़े हैं और जिन्हें अुन्नत नहीं कहा जाता। मगर यह हालत देर तक रहने वाली नहीं है। ग्राम-संस्कृति का भाग्योदय अब निकट आ गया है। मनुष्य-जाति का बड़ा भाग गाँवों में रहता है, गाँवों में ही वह सुख-शान्ति के साथ रह सकता है। नगरों के बगैर गाँव कायम रह सकेंगे, लेकिन गाँवों के बगैर नगर तीन साल भी नहीं रहेंगे। सच तो यह है कि जोंक की तरह शहर गाँवों का खून चूस रह हैं और अिसीलिये वे अितने अुन्मत्त हो गये हैं।

अेक ज़माने में मनुष्य जाति ने पड़ोसी देश के लोगों को मारकर अुनकी ज़मीन, ढोर-डंगर और स्त्री-बच्चों को लूटने का धन्धा शुरू किया। फिर हजारों-लाखों लोगों को पकड़कर गुलाम बनाने और जानवरों की तरह ज़ोर-ज़बरदस्ती काम लेने का धन्धा भी कर देखा। आज अज्ञान, दुर्बल, भोले या दुःस्थित लोगों की मेहनत-मजदूरी से वेजा फायदा अुठाकर धूर्तों ने अैसा धंधा शुरू किया है जिसमें अपने हिस्से तो मक्खन और अुनके हिस्से छाछ का पानी आये। अिसे अंग्रेजी में 'अेक्स्प्ला-अिटेशन' यानी शोषण कहते हैं। हम अिसे 'नवनीत-कर्पण' कहेंगे।

संसारव्यापी रोग या द्रोह कोअी हो तो बलवान और धूर्त लोगों द्वारा किया जाने वाला यह मधु-कर्षण है।

लेकिन अब अिस हालत की ओर ग़रीबों का ध्यान आकर्षित हुआ है, अुन्हें आत्म-परिचय और अपनी सामर्थ्य का साक्षात्कार होने लगा है। ग़रीबों का देवता भी जाग्रत हुआ है; अिसलिये आगे से शहरों को अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ेगा या सच पूछो तो शहरों ने अपने ही हाथों अपने पैर काटने का जो आत्मघाती धन्धा आजतक किया है वह अुन्हें छोड़ देना चाहिये। सच तो यह है कि गाँव ही शहरों के लूले हो जाने वाले पैर हैं। अुनका संरक्षण और संवर्धन किया जायगा तो शहर अधिक व्यवस्थित होकर मज़बूत पाये पर खड़े रहेंगे।

दूर दृष्टि से हमें यह भी देखना चाहिये कि अब से दुनिया के नेता गाँवों के ही होंगे। जनता के धुरीण जनपद ही होंगे।

'जिसके हाथ में पालने की डोरी होगी वही संसार को पार लगायेगी।' अिस कहावत का थोड़ा व्यापक अर्थ करके हम यह भी कह सकते हैं कि अब से गाँवों की शिक्षा जिनके हाथ में होगी वेही दुनिया को नया आकार देने वाले हैं। अगले पचास सालों में जो जगद्व्यापी संस्कृति स्थापित होने वाली है या जिस जगद्व्यापी प्रेरणा के योग से प्रत्येक संस्कृति का अेक-अेक अभिनव संस्करण बनने वाला है, वह संस्कृति या वह प्रेरणा ग्राम-शिक्षा की अेक नवीन, सामर्थ्यशाली और निष्पाप शिक्षा पद्धति में से पैदा होगी। संसार का जो नेतृत्व गाँवों को मिलने वाला है वह अिसी शिक्षा के बलपर ही मिलेगा। अिसलिये गाँवों को प्राप्त होने वाली अिस नयी तालीम का स्वरूप कैसा होगा, अिसका थोड़ा अवलोकन हम यहाँ करें।

आजतक जिस शहरी ढंग की शिक्षा ने प्रतिष्ठा प्राप्त कर रखी है वह बहुत खर्चीली, कर्ज़ में डालने वाली, अलंकारिक और चारित्र्य-शून्य है। यह अेक तरह से खुशी की बात है कि शिक्षा के लिये पानी की तरह पैसा खर्च होता है, लेकिन शिक्षा के लियेकोअी अिसलिये

प्रेरित नहीं होता कि अुससे मनुष्य ज्ञानवान, चारित्र्यवान, सर्वभूत हितेरत या स्वार्थ-विस्मृत होता है। आज की शिक्षा तो लोग अिसलिये चाहते हैं कि अुसमें सामर्थ्य है, सम्पत्ति है, सत्ता है, भोगैश्वर्य है, और भोगैश्वर्य की घृणित नग्नता को ढँक कर अुसे सुन्दर रूप में पेश करने वाली कला-कौशल-प्रधान संस्कृति है। धर्म-शक्ति आज क्षीण हो रही है और जगत् के राजनैतिक नेता बड़े मक्कार हो गये हैं, अिसलिये दुनिया की भलाअी के बारे में चर्चा करने का काम शिक्षा-शास्त्र के हिस्से आया है। लेकिन सर्व-मांगल्य की अिस भावना को शिक्षित समाज ने पूरी तरह सिद्ध करके नहीं बताया है। आज तो अुसे अितना ही मालूम हुआ है कि शिक्षाशास्त्र के बनाये हुअे जीवन-रसायन में अगर अमुक तोले मंगलता की अिच्छा मिला दी जाय तो वह लज़ीज बनता है और अपना असर तुरन्त बताता है।

आम जनता को तो सदाचार भी चाहिये और भोगैश्वर्य भी। सामान्य लोगों में तो अैसी अन्धी धृतराष्ट्री वृत्ति दिखाअी देती है कि लूटकर लाया धन तो हाथ से न निकले और अपने हाथों कोअी अधर्म भी न हो। अिसलिये वे शिक्षा-शास्त्रियों से कहते हैं कि, 'शिक्षा में आप जो सुधार करना चाहते हैं वे सब करें, पर साथ ही पुरानी शिक्षा के फायदे भी अुसमें रखें।' लोगों की समझ में नहीं आया है कि पुराने फायदे असल में कोअी फायदे नहीं बल्कि बड़े भारी नुकसान हैं; वह तो दूसरे का खून चूसकर पुष्ट होने का रोजगार है। अिसीलिये "भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति' का लुभावना तत्त्वज्ञान सब जगह फैला है। अीस्ट अिंडिया कम्पनी के हिस्सेदार लार्ड क्लाअिव और लार्ड हेस्टिंग्स को लिखते थे, 'न्याय के साथ राज्य चलाअिये, नेटिवों पर कृपा-दृष्टि रखिये, किन्तु ज्यादा पैसा भेजते रहिये।' और अिस आखिरी वाक्य पर ही ज्यादा जोर देते थे।

आगे बढ़े हुअे यानी अुन्नत देशों में आजकल शिक्षा पर पानी की तरह जो रुपया खर्च किया जाता है, वह दूसरे देशों को चूसकर लाया

हुआ होता है। पिछड़े हुए देशों का तेल निकालकर उसकी चरबी से स्वकीयों को पुष्ट करने का काम ही उन देशों में होता है।

सच्ची शिक्षा इन तेली देशों की शिक्षा से भिन्न होनी चाहिये। यह सही है कि सच्ची शिक्षा इस तेली शिक्षा जैसी दर्शनीय, चकाचौंध कर डालने वाली और रामबाण नहीं दिखाई देगी, और इसीलिये सच्ची शिक्षा लेने की शुरुआत में वह बग़ैर मिर्च मसाले के सात्त्विक, पौष्टिक तथा पवित्र हविष्यान्न की तरह पहले पहले कुछ बेस्वाद या फीकी-सी लगेगी और उसे ग्रहण करते हुए अव्यावहारिक ध्येयवाद के शिकार बनकर हम सम्पत्ति, सामर्थ्य, सत्ता और प्रतिष्ठा आदि सबको अपनी नासमझी के कारण कहीं छोड़ तो नहीं रहे हैं ऐसी शंका मन में बार-बार या हमेशा उठेगी। अतः 'सती के घर के टिमटिमाते दीप की शोभा कुलटा के दरवाजे पर झूमने वाले हाथी में नहीं आ सकती।' यह पुरानी कहावत जिनके हृदय में रोमतक पैठ गयी है, उन्हीं को यह जीवन-परिवर्तन और शिक्षण-परिवर्तन हजम होने वाला है।

अकृत्वा परसंतापं अगत्वा खलनम्रताम्।
अनुसृत्य सतां वर्त्म यदल्पमपि तद्बहु॥

अर्थात् किसी को भी सताये या कोई अकृत्य किये बिना, नीच लोगों के सामने किसी भी तरह सिर झुकाये बग़ैर और सज्जनों के बताये हुए रास्ते से जरा भी बाहर न जाते हुए, अपने निजी परिश्रम से जो कुछ भी थोड़ा-बहुत फल मिले, उसे नीति और परिणाम की दृष्टि से बहुत समझना चाहिये—इस श्रद्धा के बिना युगान्तर नहीं हो सकता।

आजकल का चिकित्सा-शास्त्र कुछ ऐसे अजीब तरीके से बढ़ा है कि हर गरीब आदमी अपने गरीब होने के लिये पछताता रहता है। 'मेरे पास रुपया-पैसा होता तो मैं बड़े बड़े डाक्टरों को बुलाता और बहुत कीमती दवाएँ देकर अपने बच्चे या सहधर्मचारिणी को मैंने ठीक करा लिया होता। लेकिन क्या करें, ग़रीबों की यह दुनिया ही नहीं है।'—इस तरह का विषाद ग़रीबों के घर होनेवाली हर मौत के पीछे

रह ही जाता है। यही हाल शिक्षा का भी हुआ है। सम्पत्ति और संस्कारिता अेक-दूसरे पर निर्भर हैं, अैसी स्थिति या भ्रान्ति सब जगह पैदा हो गयी है।

गाँवों की सार्वत्रिक—सर्वोदयकारी शिक्षा का विचार करते वक्त पहले अुस लोभ को दूर निकाल देना चाहिये जो आज हमारे अन्दर पैठ गया है। दुनिया में जो कुछ हो अुस सबकी जानकारी कोअी ज्ञान नहीं है। और अमर्याद सामर्थ्य प्राप्त करना कोअी शिक्षा का अुद्देश्य नहीं है। शिक्षा का व्यापक तथा अुदात्त आदर्श तो यह है कि शिक्षा से मनुष्य को अपनी समस्त शक्ति का परिचय मिले, परिस्थिति यथार्थ रूप में समझ में आये, सब के अुदय में ही अपना अुदय है यह समझकर हृदय में रात-दिन चलने वाला स्वार्थ-परार्थ का झगड़ा हमेशा के लिये मिट जाय, श्रेय तथा प्रेय अेक हो जायँ, हृदय अुन्नत तथा व्यापक हो, जीवन नीरोग, अुद्योगपूर्ण, प्रसन्न, त्यागमय और कौशलयुक्त हो, अैसे जीवन में में से सब काल और सब परिस्थिति में सन्तोष का, आनन्द का फुहारा झरता रहे, और अन्त में जीवन परिपक्व होकर रसीले फल की तरह परमात्मा की गोद में गिर पड़े।

अिस आदर्श के लिये आज की शिक्षा का प्रचलित विराट कार्य-क्रम न केवल अनावश्यक है, बल्कि अुपयोगी भी नहीं है। आधिभौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान बढ़ाते रहना अेक प्रकार से विधाता की, परमात्मा की भक्ति या उपासना ही है। लेकिन अैसा आग्रह नहीं होना चाहिये कि यह सब ज्ञान शिक्षाक्रम में ठूँस ही दिया जाये।

यह ठीक है कि अितिहास ज्ञान से मनुष्य दीर्घदर्शी और विनीत होता है लेकिन अितिहास को ही अभी सच्ची शिक्षा नहीं मिली है। वह अभी दुर्विनीत ही रहा है। आज के अितिहास को अपनी अुद्दंडता, नास्तिकता और अेकांगी आग्रह छोड़कर प्रयोगनम्र, सत्यनिष्ठ और धर्मनिष्ठ बनना चाहिये। जबतक अैसा न हो, तबतक शिक्षा जैसा पवित्र कार्य अिस मग़रूर और ज़िद्दी अितिहास के हाथ में नहीं जाना चाहिये।

यह कहना हास्यास्पद होगा कि दुनिया की अेकता के लिये हर अेक को दुनिया का हर देश देखना चाहिये और वहाँ की भाषा तथा साहित्य से अुसका परिचय होना चाहिये। फिर यह कहना तो मुश्किल ही है कि अितना सब करने पर भी अेकता बढ़ेगी या लोभमूलक विग्रह बढ़ेगा। जिस तरह बिल्ली सब घरों में ढूँढ़ती फिरती है, अुसी तरह जगत् के सभी देशों में जिन्होंने पैर फैलाये हैं अैसे राष्ट्र दुनियाँ की अेकता साधते हैं अैसा तो अनुभव नहीं है। दुनिया की सभी जातियों के साथ मिल-जुलकर रहने की सात्त्विक वृत्ति या मनुष्यता तो सारी जिन्दगी भर किसी अेक गाँव में रहकर भी बढ़ायी जा सकती है। गीतांजलि जैसी पुस्तक में सारी दुनिया का अितिहास नहीं है, फिर भी वह सभी देशों को अपनी-सी लगती है। क्योंकि अुसके गीतों में जो हृदय है वह शुद्ध और सार्व-भौम है। शिक्षा में समस्त सृष्टि नहीं बल्कि व्यापक और अुदार दृष्टि सिद्ध करनी होती है, अितना खयाल रखा जाय तभी शिक्षा-क्रम बहुजन समाज के लायक़ और सुव्यवस्थित होगा। राष्ट्र की अेकता के लिये हिन्दुस्तानी भाषा सीखनी चाहिये, धार्मिक साहित्य के प्रत्यक्ष परिचय के लिये संस्कृत और अरबी भाषाअें सीखनी चाहिये, अेशिया के संगठन के लिये चीनी और जापानी भाषाओं से परिचय प्राप्त करना चाहिये, यूरप की आदि-प्रेरणा को समझने के लिये ग्रीक तथा लैटिन साहित्य का नमूना देखना चाहिये, आधुनिकता प्राप्त करने और भौतिक विज्ञानों को समझने के लिये जर्मन, फ्रेंच, या अंग्रेजी आदि भाषाओं पर अधिकार पाना चाहिये और आने वाली पीढ़ी को राजनीति सफलतापूर्वक चलाने के लिये रूसी भाषा परायी न रहनी चाहिये—अिस तरह अगर हम भाषा का भार बढ़ाते गये तो जन्म भाषा को घर छोड़कर भाग जाना पड़ेगा और अिस सब भार के नीचे (सीखनेवाला) अूंट दबकर मर जायगा सो अलग। राष्ट्रीयता की दृष्टि से हिन्दुस्तानी को भले ही स्थान हो, लेकिन सारी शिक्षा अेक ही भाषा में—स्वभाषा में, देश की भाषा में—अवश्य दी जा सके अैसी स्थिति तो होनी ही चाहिये। अगर अैसा आग्रह

न हो तो देशभाषा दुबली ही रहेगी और अुसके शाप से प्रजा क्षीणपुरुषार्थ होगी।

किसी भी भाषा का साहित्य अुस भाषा के बोलनेवाले लोगों की बड़ी क़ीमती पूँजी होती है। कोअी कोअी अुसे अैसा दूध भी कहते हैं जो ज़िन्दगी भर के लिये ज़रूरी होता है। जिस तरह वह जनता के बहुविध पुरुषार्थ का संग्रह है, अुसी तरह वह नये पराक्रम का भी अेक क्षेत्र हो सकता है। यह सब जानते और मानते हुये भी यह कहना पड़ता है कि शिक्षा का साहित्य-प्रधान होना अनिष्ट है। लेकिन हमारी शिक्षा तो सिर्फ़ साहित्य-प्रधान ही नहीं बल्कि साहित्य-परायण है। शिक्षा और जीवनोद्देश्य में अलगाव पैदा होने से ही यह कृत्रिम परिस्थिति आजतक कायम रही है। स्वयं साहित्य कोअी शिक्षा नहीं है। साहित्य अेक साधन है, कीमती और अुपयोगी साधन है। और खास बात यह है कि शिक्षा के साधन की दृष्टि से भी साहित्य बहुत अच्छी तरह 'सधा हुआ' होने से साहित्य द्वारा शिक्षा देना बहुत आसान हो गया है। अिसके फलस्वरूप सारी शिक्षा का ठेका साहित्य को ही मिल गया है। अिससे शिक्षा के अन्य साधन बहुत पिछड़ गये हैं। अितना ही नहीं बल्कि शिक्षाशास्त्रियों और लोकनेताओं में अिस बारे में बड़ी नास्तिकता दिखाअी देती है कि आया ये शिक्षा के साधन भी हो सकते हैं या नहीं।

बुद्धि का विकास चाहे जितना हो, हमें अुसका दुख नहीं। अुलटे हमें अिस बात का अफसोस है कि केवल बुद्धि के विकास के लिये अितनी जी-तोड़ कोशिशें होने पर भी शिक्षा कृत्रिम, अेकांगी और भाड़े की होने के कारण बुद्धि का विकास होने के बदले वह भुथरी (कुन्द) और कुंठित हो जाती है और खिंची हुअी लकीर से बाहर पैर धरने की हिम्मत नहीं करती।

भला यह कहाँ का न्याय है कि बुद्धि का विकास होने से मनुष्य पंगु, परोपजीवी और मुफ्तखोर बन जाय? स्वातंत्र्य, हिम्मत और सूझ की पुष्टि के लिये, और आमतौर पर सब तरह की कार्यशक्ति के लिये कुशलता,

योजनाशक्ति, व्यवस्थाशक्ति, सर्जनशक्ति अिन सबका विकास होना चाहिये। अिन अुद्देश्यों की पूर्ति के लिये शिक्षा को चाहिये कि वह साहित्य और तत्त्वचर्चा की दीवारों को तोड़कर बाहर निकले। हुनर अुद्योग कला-कौशल, समाज-सेवा के काम, पराक्रम में नेतृत्व, आदि नये क्षेत्रों से यह शिक्षा लेना चाहिये। और अिस शिक्षा में सामाजिक ज़िम्मेदारी, आध्यात्मिक आदर्श, सर्वहित की दृष्टि—अिन बातों की तरफ ध्यान देना चाहिये और मनुष्यता की ये आदतें ठीक तरह से पड़ जायँ अिसलिये जिस तरह अखाड़े में शरीर कसा जाता है अुस तरह जीवन-क्रम अच्छी तरह कसा या गठा हुआ होना चाहिये। अैसी स्थिति हो जानी चाहिये :—

पडिलें वलण अिन्द्रियां सकलां
भाव तो निराला नाहीं दुजा (तुकाराम)

(अर्थात् सभी अिन्द्रियों को अब (भक्ति की) आदत पड़ चुकी है, दूसरी भावना रही ही नहीं।)

———

[२०]

शरीर-संवर्धन

महाराष्ट्रीयों के स्वभाव के कारण कहिये, या हनुमान जी की और अखाड़ों की स्थापना करने वाले समर्थ रामदास स्वामी की कृपा से कहिये महाराष्ट्र के देहातों में शरीर-संवर्धन बहुत अच्छी तरह होता था। कर्नाटक तथा अन्य प्रान्तों में भी यह वायुमण्डल दिखाअी देता था। अुत्तर भारत में बदन को गठने में खास दिलचस्पी पंजाब में पायी जाती है। लेकिन जीवन का अुत्साह कम हो जाने से और ग़रीबी तथा परावलम्बन बढ़ने से अिस विषय में भी अनास्था या लापरवाही तेज़ी के साथ बढ़ती जा रही है।

पुराने अखाड़ों का पुनरुद्धार करना असंभव नहीं है। लेकिन अिस पुरानी संस्था के बहुत से दोष दूर करने का निश्चय करके ही यह पुनरुद्धार करना चाहिये। स्वच्छ तथा पर्याप्त हवा वा प्रकाश आदि का शारीरिक और आध्यात्मिक महत्त्व जान लेना चाहिये। शरीर-विकास के पीछे पड़ने वाले लोगों को दूसरे विकासों की ओर तनिक भी दुर्लक्ष्य नहीं करना चाहिये। अखाड़ेबाज़ का अर्थ मानवदेहधारी सांड नहीं होना चाहिये। गाँवों में जो यह ख़याल घर कर गया है कि झगड़े खड़े करके लड़ाअी करने में ही पुरुषार्थ है, अुसे दूर करना चाहिये; और सबको यही महसूस होना चाहिये कि अखाड़े का संकुचित अभिमान रखकर मत्सर और झगड़े पर अुतारू हो जाने में अपनी और अखाड़े की भी बेअिज़्ज़ती है। गवैये और पहलवान जब तक अपनी ही शेखी बघारते और दूसरों की बुराअी करते रहेंगे तब तक अुन्हें शिष्ट समाज में बहिष्कृत समझा जाना चाहिये।

यह न भूलना चाहिये कि अखाड़े की तालीम सरकस के खेल करने के लिये नहीं बल्कि शरीर को बनाने के लिये है। मैकफ़ैडन आदि पश्चिमी विशेषज्ञों ने सौन्दर्य और नखरे पर जो ज़ोर दिया है अुसका अनुकरण हम न करें। अखाड़ा तरह-तरह के महँगे और मोहक साधनों की प्रदर्शनी नहीं बनाना चाहिये। और कसरतों में भी महाभारत के अिस सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिये कि कौअे की सौ तरह की छलाँगों की अपेक्षा हंस की अेक चाल अच्छी है।

अखाड़ों की तरफ़ अिस रणनीति की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये कि आज या आगे कभी मौक़ा आ जाने पर युद्ध किया जा सके। आज के ज़माने में युद्ध की दृष्टि से ढाल-तरवार, छुरी-बरछी आदि चीज़ें बिलकुल बेकार हैं। अिनका अुपयोग तो बल-संवर्धन, स्फूर्ति और मर्दाना शान की दृष्टि से ही है। अलबत्ता प्राचीन काल की अेक राष्ट्रीय विद्या के जीवित संग्रहालय (ज़िन्दा अजायबख़ाने) के तौर पर अिस कला का कुछ महत्व ज़रूर है।

अखाड़ों में अब बायस्काअुट (बालचर-आन्दोलन) के ढंग पर कुछ फेर बदल होने चाहिये। दूर दूर के प्रवास करना, डेरा (तम्बू) लगाकर या झोंपड़ी बनाकर शिविर-जीवन का अनुभव करना, मेलों, अुत्सवों, सम्मेलनों आदि के अवसरों पर स्वयसेवक बनकर काम करना, बीमारों की तात्कालिक चिकित्सा-अुपचार का प्रबन्ध करना, रास्ते, कुअें आदि बनाने में स्वयं शारीरिक परिश्रम करने के लिये आगे बढ़कर हिस्सा लेना, प्रवास करके जन-संख्या की गिनती तथा दूसरी तरह-तरह की जांचें करके नक्शों की खानापूरी करने जैसे काम करना; जब डाके वगैरह का डर रहता है तब चौकी-पहरा देना; बड़े-बड़े डाके, चोरियां, खून आदि की तलाश करना, रोग की छूत फैली हो तब सार्वजनिक शुश्रूषा का अिन्तज़ाम करना, गांवों में क़ाबुली, बलूची जैसे अुद्दण्ड और अुत्पाती लोगों या चोर-भिखारियों की टोलियाँ आ जायँ तो अुन पर निगरानी रखना, आदि काम अखाड़ों की मार्फ़त होने

चाहिये। और अिन कामों के लिये आवश्यक विद्याओं तथा कलाओं की अुपासना भी अखाड़ों की मार्फ़त ही होनी चाहिये। सितारों पर से समय जानना, रात के प्रवास में दिशा को पहचानना, प्रवास करते-करते पैमाअिश का नक्शा तैयार करना, काम-चलाअू पुल बनाना, घायलों ज़ख्मियों की मरहमपट्टी आदि करना, जंगलों में से रास्ते निकालना, झंडियों और हेलिओ (संकेतों) की मदद से सन्देश भेजना और पाना, आदि काम अखाड़े के बालकों और बड़ों को भी बड़े शौक़ से और दिल लगाकर सिखाने चाहिये। अखाड़े में जिन्हें बढ़अी का काम आता हो अुन्हें आस-पास के अिलाके में घूम फिर कर बीमार (टूटे-फूटे) रहट, चर्खे और चक्कियां आदि औजारों की मरम्मत करके अुन्हें चालू कर देने का काम भी करना चाहिये।

यह बात साफ़ तौर पर ज़ाहिर कर देने के लिये कि अखाड़े के सेवक जनता के सेवक हैं, न कि फ़ौजी शान के साथ घूमने वाले तीसमार खां, अखाड़ा बहादुरों की पोशाक ख़ाकी नहीं होनी चाहिये। ख़ाकी रंग के गुण चाहे जितने हों तो भी लोक-हृदय में पैठा हुआ ख़ाकी रंग का अर्थ जुदा ही है; वर्दी बनाने के पीछे पड़कर ख़र्च और नख़रे-बाज़ी को अुत्तेजन नहीं देना चाहिये। बहुत हुआ तो खेस या दुपट्टे जैसे कोअी कपड़े का टुकड़ा कमर में बाँध लिया जाय। अुसका रंग सर्वत्र अेक ही रहे। अिस काम के लिये नीला रंग पसन्द करने लायक है।

शरीर-संवर्धन के विषय में स्त्रियों की तनिक भी अुपेक्षा नहीं होनी चाहिये। अुनमें भी समाज सेवा के कामों की दिलचस्पी पैदा करनी चाहिये। स्त्री और पुरुष दोनों में सादगी और कष्ट सहन करने की शक्ति तथा समय-सूचकता बढ़े, अिस तरफ़ विशेष ध्यान देना चाहिये। सभी जगह कल्पकता यानी सूझ की यथोचित क़द्र की जानी चाहिये।

तैरने की कला की आवश्यकता के बारे में अूपर लिखना रह गया है। अेक तरह से यह अच्छा ही हुआ। क्योंकि अुसे स्वतंत्र स्थान देने

से अुसका महत्त्व बढ़ेगा। बहुत-से लोगों का भोजन बनाना, पाखानों का अिन्तजाम करना, घोड़े पर बैठना, सवारियों को चला सकना आदि बातें भी जरूरी हैं।

शरीर-संवर्धन के लिये अखाड़े या सेवादल चलाने के मूल में जिस तरह अूपर बताया है कि फ़ौजी तैयारी की वृत्ति नहीं होनी चाहिये, अुसी तरह अुसमें राजनैतिक अुद्देश्य भी बिलकुल न होना चाहिये। क्योंकि राजनैतिक अुद्देश्य से किये हुअे कामों में दलबन्दियाँ हो जाने की बहुत सम्भावना रहती है। और फिर जिस प्रकार फण्डों यानी चन्दों के लिये मारपीट होकर अुससे वैमनस्य या दुश्मनी पैदा होती है अुसी प्रकार 'शरीर संवर्धक संघों की शक्ति का अुपयोग कौन करे?' यह सवाल पैदा होकर अुसमें से भी मनमुटाव पैदा होगा। फ़र्क सिर्फ़ अितना है कि फण्ड का रुपया अुसके हाथ में चुपचाप जा पड़ता है जो अुसे अपने कब्जे में ले लेता है। क्योंकि पैसे को समझाने-बुझाने की जरूरत नहीं रहती। लेकिन सेवा संघ के तरुणों के त ादिल होते हैं। अिसलिये जब भिन्न-भिन्न पक्ष के लोग अुन्हें अपनी तरफ खींचने लगते हैं तब समाज में सर्वत्र हीन वृत्तियाँ जाग्रत होती हैं और सार्वजनिक नीतिमत्ता का नाश होता है।

सेवासंघों में हिन्दू संगठन का विचार भी न हो, वरना सेवासंघों द्वारा समाज की सेवा के बजाय असेवा ही होगी।

स्वास्थ्य

(१) मनुष्य की विष्ठा (मैला) गाँवों में से नष्ट करनी चाहिये। खाओं के रूप में गढ़े खोदकर अुन पर चौखटे रखकर पाखाने या संडास बना लेने चाहिये। अिससे पैदा होने वाले खाद का अिस्तेमाल होना ही चाहिये।

(२) जानवरों की विष्ठा (गोबर) का अुपयोग लीपने या जलाने के काम में नहीं करना चाहिये। रोड़ियाँ और कतवारखाने गाँव के बाहर बनाने चाहिये। ज़मीन मिट्टी से लीपी जाय। खाद का ढेर लगा कर अुसे खुली हवा में न रखकर गढ़े में गाड़ देना चाहिये। वरना खाद के तौर पर अुसमें जो पौष्टिक द्रव्य होते हैं वे हवा और धूप से अुड़ जाते हैं और खाद निःसत्त्व बन जाता है। जानवरों का पेशाब बहुत तेज खाद है। अुसका अुपयोग हम नहीं करते, सो बड़ी सावधानी से करना चाहिये।

(३) जिस पानी का अिस्तेमाल हो चुका है अुसे गढ़ों में पड़ा रहने देकर नरक बनाने के बदले मेथी, धनिया, मूली आदि साग-सब्जियाँ पैदा करने के लिये हमेशा अुसका अुपयोग कर लेना चाहिये। पानी बहुत हो तो अरवी, जमींकन्द, केले आदि के पेड़ लगाये जायँ क्योंकि अिन सबकी बड़ी-बड़ी पत्तियाँ जमीन की नमी या सील बड़े पैमाने पर चूस लेकर हवा में छोड़ देती हैं। अिन पत्तियों की जड़ में मच्छर होने की संभावना रहती है, अिसलिये असे पानी को घर से जितनी दूर ले जाया जा सके अुतनी दूर ले जाकर वहाँ असे पौदे लगाये जायँ।

यह सामान्य सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिये कि अिस्तेमाल करने

से खराब हुअे पानी को बंद परनाली में से दूर ले जाने की अपेक्षा खुली नाली बनाकर ले जाना अच्छा है और अच्छा तरीका तो यह है कि पानी को दूर ले जाकर ही अुसका अिस्तेमाल किया जाय।

नहाने, कपड़े धोने, बर्तन माँजने, खाना खाने के बाद हाथ-मुँह धोने, दँतुअन करने आदि के स्थान खास रहने के घर से जहाँ तक हो सके, दूर रखे जायँ। रसोअीघर का पानी कोने में अेक गढ़ा बनाकर अुसमें जमा किया जाय और समय-समय पर अुलेचकर अुसे दूर ले जाकर डाल दिया जाय।

दीवार में सूराख बनाकर मोरी के जरिये पानी निकालने का तरीका बहुत खराब है, क्योंकि वहाँ हमेशा नमी रहती है, बदबू छूटती है, बीमारी के कीटाणु घर करके रहते हैं और साँप, छिपकलियाँ आदि के लिये वह स्थायी निमंत्रण बन जाता है। फिर अिमारत कमजोर बन जाती है सो बात अलग ही है।

(४) *बिछाने और ओढ़ने के कपड़े*—जो कपड़े धोये जा सकते हों अुन्हें बारबार धोना चाहिये। बाकी के धूप में डाले जायँ। धुनाअी और सिलाअी का काम घर के लोगों को सीख लेना चाहिये। वैसा होगा तो रजाअियाँ, लिहाफ आदि खोलकर अुनके अन्दर का रूबड़ धूप में डालकर अुसे फिर से भर कर सी लिया जा सकेगा। बीमारों और छोटे बच्चों के लिये घर में मोमजामा रखा जाय। गद्दी और गिलाफ के बीच में मोमजामा रखने से गद्दा खराब होने से बचती है।

(५) *घर की हवा*—स्वच्छ हवा का महत्व अभी थोड़े ही लोगों की समझ में आया है। हमारे देश की कड़ी धूप सभी रोगों का नाश करने में समर्थ है लेकिन हम अुससे फायदा नहीं अुठाते। पुराने घरों को बदल डालना संभव नहीं है, लेकिन अुसमें बहुत-सी खिड़कियाँ बनायी जा सकती हैं। घर में हवा घूमती रहे और रोशनी मिले—ये दोनों अुपाय रोग-नाशक हैं। हर साल गर्मियों के दिनों में घर के छप्पर के खपरैल बारी-बारी से निकाल कर छत से बहुत-सी धूप को अन्दर

आने दिया जाय। अिससे बहुत फायदे हैं। बरसात से पहले घर सारना तो पड़ता ही है। यही काम दो माह पहले करने से सारने का खर्च कम हो जाता है और अनायास स्वास्थ्य-वृद्धि होती है। जिस कमरे में खिड़कियाँ बनाकर या छत के रास्ते प्रकाश लेना संभव न हो वहाँ धोती या चद्दर लेकर अुसे लकड़ी के पटे की तरह घुमाया जाय। अिससे अन्दर की हवा बिलोअी जाकर बाहर चली जाती है और बाहर की ताजी हवा अन्दर आती है। कोलतार, राल और गन्धक का धुँआ रोगनाशक है। कमरा चाहे जितना हवादार हो तो भी अुसके कोने-कमरे की हवा बासी और खराब रहती है। वहाँ अूपर कहे मुताबिक कपड़े को फटककर हवा को ताजा करना चाहिये।

हर अेक को अिस बात का खयाल होना चाहिये कि कमरे के अन्दर की हवा के प्रवाह कैसे चलते हैं। कमरे में छोटी सी अँगीठी में धूप डालकर धुँआ किस तरफ जाता है अिसका निरीक्षण करने से यह शास्त्र मालूम हो जायगा। कमरे में अेक ही दरवाजा हो तो आमतौर पर खराब हवा दरवाजे के अूपरी हिस्से से बाहर निकलती है और बाहर की अच्छी, साफ, ठंडी हवा नीचे से अन्दर आती है। (अिसीलिये जिस घर में आग लगी हो वहाँ बिलकुल झुककर चलने की सलाह दी जाती है।)

---

[२२]

श्रीगणेश

साहित्य ज्ञान का अेक बड़ा सुभीते का साधन होने से साहित्य का अुपयोग करने में समर्थ होना, यानी पढ़ना-लिखना आना, ज्ञान का अेक बड़ा अंग है। मनुष्य जब लिखना-पढ़ना सीख लेता है तब ज्ञान-प्राप्ति और अपने मतों का प्रचार, अिन दोनों विषयों में वह स्वतंत्र हो जाता है; अिसलिये शिक्षा के प्रारम्भ में ही शिक्षा के साधन के तौर पर लिखने-पढ़ने की कला सिखाअी जाती है। अिसका नतीजा यह हुआ है कि लोग साधन को ही साध्य मानने लगे हैं। यह ख़याल लगभग सभी जगह मौजूद है कि लिखना-पढ़ना ही शिक्षा है।

लेखनकला के महत्त्व को किसी भी तरह कम न करते हुअे यह कहा जा सकता है कि अिस कला को शिक्षा में मिलने वाला स्थान आवश्यकता से अधिक है। लेकिन लोगों के मन में अिस कला के प्रति अितना अत्यधिक मोह है कि अगर कोअी अुसकी अुपयोगिता की मर्यादाअें बताने लगे, या अुसके विरुद्ध पक्ष की थोड़ी-सी बातें पेश करने लगे तो बहुत से लोग अुसे साक्षरता, साहित्य, शिक्षा, विद्वत्ता, अितना ही नहीं बल्कि सारे ज्ञान का शत्रु क़रार देने में न हिचकिचायेंगे। जिस तरह अिटली और जर्मनी में मुसोलिनी और हिटलर के खिलाफ़ अेक लफ्ज भी निकालना असम्भव था, अुसी तरह हमारे यहाँ साक्षरता प्रसार के आग्रह के खिलाफ़ बोलना मुश्किल हो गया है। फिर अुसमें विशेष दुःख की बात यह है कि साक्षरता के अंधे अभिमान के अिस युग में भी साक्षरता-प्रचार की असली और ज़ोरदार कोशिशें शायद ही होती हैं।

जिस तरह यह नहीं कहा जा सकता कि अक्षरों या लिपि का आवि-

ष्कार न हुआ होता तो भाषा नष्ट हो चुकी होती, अुसी तरह यह कहना भी मुश्किल है कि लिपि के अभाव में साहित्य पैदा ही न होता। यह सही है कि अुस हालत में साहित्य ने कुछ अलग स्वरूप ग्रहण कर लिया होता और मनुष्य को अपनी स्मरण शक्ति अधिक तीव्र करनी पड़ती। लेकिन खुशक़िस्मती से लिपि का आविष्कार हुआ और बड़ा सुभीता हो गया।

लेकिन शिक्षा के बारे में तो यह अनुभव हुआ है कि तालीम के शुरू में लिपिकार गणेश जी को लाकर बिठाने से वह विघ्नहर्ता स्वयं ही अेक बड़ा विघ्न बन बैठा है। शिक्षा के मानी हैं सब अिन्द्रियों की अुचित समय पर, अुचित ढंग से शक्ति बढ़ाना, विश्व के सम्बन्ध में अुस-अुस ज़माने के लिये ज़रूरी जानकारी हासिल करना, निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग, अनुमान आदि ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में प्रवीण होना, और जीवन को कृतार्थ बनाने के लिये विचार, विकार, वासना, आकांक्षा आदि सबको अिष्ट दिशा में मोड़ना। यह सब सुयोग्य व्यक्ति की देख-रेख में लिपि के आधार के बिना ही शुरू हो जाना चाहिये। जिस तरह माँ के दूध के बदले डिब्बे के दूध से बच्चे का—फिर वह छोटा हो या बड़ा—काम नहीं चलता अुसी तरह ज्ञानदाता गुरुजनों के बदले बालकों के सामने रोचक और विविध साहित्य फैलाने से काम न चलेगा। ज्ञान की बढ़ती हुई भूख के लिए जब शिक्षक अपर्याप्त साबित होंगे तभी साहित्य-ग्रन्थों का परिचय ज़रूरी होगा। अिसलिए शिक्षा का प्रारम्भ लिपिज्ञान से न करके श्रवण, अनुकरण, और निरीक्षण से ही करना चाहिये। कण्ठ से निकलने वाली और कानों द्वारा ग्रहण होनेवाली ध्वनि को अँगुलियों से निर्मित तथा आँखों से दिखाअी देनेवाली रेखाओं तथा आकृतियों द्वारा व्यक्त करना बड़ा झंझट का काम है। अेक लोटा देखकर अुसकी तस्वीर खींचना स्वाभाविक है; लेकिन मुँह से 'ग' की आवाज़ निकलते हो अुसे व्यक्त करने के लिये ज्ञानदाता गणपति की सूँड का चित्र भला क्यों बनाया जाय? अुस बेचारे बालक की समझ में

यह बात कैसे आये कि आवाज़ और आकृति का यह सम्बन्ध क्योंकर प्रस्थापित हुआ ? शक्ल को देखकर ध्वनि को पहचानना और ध्वनि को सुनकर आकृति तै करना—अिस तरह का यह जादू या करतब दिखाने में अगर विद्यार्थी नाकामयाब रहा तो धीरे-धीरे अुसे अैसा लगता है कि 'मैं सचमुच 'ढ' यानी बेवक़ूफ़ हूँ।' फिर अुस्ताद कहने लगता है, "रे मूढ़ ! आखिर तुझको क्या कहा जाय तू तो 'ढ' भी नहीं जानता !'

शिक्षा के प्रारम्भ में ही बालकों के अन्दर के आत्मविश्वास की हत्या करके करके अुनमें न्यूनभाव (Inferiority Complex) पैदा करने से अधिक प्रजाद्रोह और कौन सा होगा।

आज तक शिक्षा के संस्कार सफ़ेदपोश यानी मध्यम तथा अुच्च श्रेणी के लोगों में ही होते थे। अुनके लड़कों को घर में और बाहर भी लेखन-पठन का दर्शन नित्य होता है। फिर बचपन से अुन्हें यह बताया जाता है कि बग़ैर पढ़े-लिखे पेट नहीं भर सकता। अिसलिये अक्षर-ज्ञान प्राप्त कर लेना अुनके लिये कुछ आसान भी हो जाता है और अुन्हे वह ज़रूरा भी लगता है। सफ़ेदपोश लड़के अक्षर ज्ञान आसानी से हासिल कर लेते हैं। श्रमजीवी जमातों के लड़कों में स्वाभाविक रूप से हस्त-कौशल अधिक होता है। अुनके हाथ-पैर मज़बूत होते हैं। कान, आँखें, जीभ आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तीव्र होती हैं; लेकिन अक्षर ग्रहण के बारे में सफ़ेदपोश लड़कों की बनिस्बत शुरू में वे कुछ मन्द-से मालूम होते हैं। अिसलिये सच्ची शिक्षा के बारे में देहात के श्रमजीवी श्रेणी के लड़के अग्रसर होते हुअे भी ठोठ ठहरते हैं, क्योंकि शिक्षा के प्रारम्भ में ही लिपि का अड़ङ्गा 'श्री गणेशायनमः' के रूप में लगाया जाता है।

वास्तव में देखा जाय तो देहात की शिक्षा के मानी हैं अब्राह्मणों की शिक्षा, श्रमजीवी जातियों की शिक्षा, किसान, कारीगर, कलावान, मज़दूर आदि लोगों की शिक्षा। अिसी दृष्टि से गाँवों की शिक्षा पर विचार करना चाहिये। और अिसीलिये शिक्षा का प्रारंभ लिपिज्ञान से न करके

सामान्य ज्ञान से करना चाहिये। बहुत-सी बातें ज़बानी कहना, बहुत से प्रयोग बच्चों के हाथों से करा लेना, कलाकौशल का महत्व बढ़ाना, बहादुरी के कामों में हिस्सा लेना और खास अवसरों पर सुन्दर साहित्य सुनना आदि बातों से ही शिक्षा का प्रारंभ होना चाहिये। जब बहुत सा ज्ञान विद्यार्थी को मिल चुका हो, ज्ञान के प्रवाह में गोता न लगाकर वह आसानी से तैरने लग जाय और असे अधिकाधिक ज्ञान की प्यास लगने लगे तब लिपि के साथ असका परिचय करा दिया जाय। अिससे पहले ही साहित्य-श्रवण के कारण असे लिपि का महत्व मालूम हो जाता है और असे यह महसूस होने लगता है कि 'अगर मैं यह सब पढ़ सकूँ तो कितना अच्छा।' यह तेज़ नज़रवाला, तरह तरह की दस्तकारियों में होशियार, प्रयोगों में सतत दिल लगाकर काम करने वाला विद्यार्थी मानो आत्मविश्वास और अुत्साह की महत्वाकांक्षा से भरपूर मूर्ति ही होता है। अैसे समय पर वह बहुत आसानी से अक्षर-प्राप्ति कर लेता है।

देहात की शिक्षा केवल बच्चों की तालीम नहीं है। आबाल वृद्ध स्त्री पुरुष, सभी को आधुनिक, अद्यतन बना देना चाहिये। अतः देहात की शिक्षा प्रधानतया शालेय शिक्षण (स्कूली तालीम) नहीं, बल्कि लोक-शिक्षण ही है।

यहाँ भी लेखन से पहले ज्ञान-कथन और साहित्य-श्रवण (साहित्य सुनाना) का ही पुरस्कार करना चाहिये। अिस तरह शिक्षा का प्रारंभ गुरुमुख से और श्रौत (सुनाने के) ढङ्ग पर हो जाय तो शिक्षा बहुत आसान होगी और जनता की बहुत कुछ तकलीफ बच जायगी। जिनमें गरीबों के प्रति हमदर्दी और सेवाभाव होगा अुन्हीं का असर जनता पर पड़ेगा।

अिस तरीके का असर साहित्य पर बहुत अच्छा होगा। जिस तरह कुछ नाटक रंगमंच पर आने के लायक़ नहीं होते, कुछ कवितायें बिलकुल गाने लायक़ नहीं होतीं, अुसी तरह बहुत-सा साहित्य सुबोध होते हुअे भी सुवाच्य या सुपाठ्य नहीं होता। गद्य के मानी, कर्त्ता, कर्म क्रिया आदि

से युक्त और अर्थ देने वाले कलाहीन वाक्य नहीं हैं। भाषाभिज्ञ और अुस-अुस विषय की जानकारी रखने वाला आदमी ज़ोर से पढ़ने लगे तो जिसे सुनकर वह स्वयं अूब या थक न जाय, और सुनने वालों को भी अैसा लगे कि हम श्रवणरुचिर, व्यवस्थापूर्ण, प्रमाणबद्ध, अुत्कृष्ट कलाकृति का सेवन कर रहे हैं तो वही गद्य है। साहित्य का श्रवण-श्रावण जब समाज में बढ़ेगा तभी साहित्य का यह विभाग खिल अुठेगा। अुत्कृष्ट गद्य में अेक तरह का ताल और लय होता है जो आसानी से पहचाना तो नहीं जा सकता, लेकिन जो कान और गले को सुख देता है। भाषा के प्रवाह में कभी छोटी-छोटी तरंगें होती हैं तो कभी बड़ी-बड़ी मौजें होनी चाहिये; वही वही शब्द बार-बार सुनने की अिच्छा होती है, धीरे-धीरे अैसा लगने लगता है कि यह विचार, यह कल्पना, यह जानकारी या यह विवेचन दूसरे शब्दों में पेश करना नामुमकिन है, और, अन्त में तो वह रचना पद्य की तरह जबान पर बैठ जाती है।

अिस तरह का गद्य जहाँ नाटकों में भी सार्वत्रिक नहीं है वहाँ मामूली लेखों में अुसकी अपेक्षा कैसे की जा सकती है? श्रवण-श्रावण की परिपाटी से साहित्य का रूप, लावण्य और ओजस सभी बढ़ेंगे और जनता के चारित्र्य और संस्कारिता पर अुसका असर होगा।

देहात के लोग साहित्य-शौंड न हों तो भी स्वभाव से ही साहित्य-रसिक होते हैं। रुचिर साहित्य और तेजस्वी विचार में वे आमतौर पर फ़र्क नहीं करते। साहित्य सिर्फ़ ग्रंथों में बढ़ना काफ़ी नहीं है। लोगों के बोलने-चालने में, सलाहमश्विरे में, अूहापोह में और विवेचन में साहित्य की संस्कारिता पकनी चाहिये; तभी यह कहा जा सकेगा कि साहित्य ने अपना काम किया है। अूपर बतायी हुअी ग्रामशिक्षा अगर थोड़े ही साल तक चलती रही तो अुसका नतीजा साफ़-साफ़ दिखाअी देगा।

---

[२३]

स्त्री-शिक्षा

—१—

बड़े-बड़े शहरों में भी स्त्री-शिक्षा के बारे में सच्ची लगन बहुत कम पायी जाती है। जहाँ सामान्य लोगों के गले स्त्री-शिक्षा की बात अुतरी है वहाँ भी स्त्री-शिक्षा का अुद्देश्य शायद ही स्त्रियों की अुन्नति होती है। अुसमें तो यही दृष्टि प्रधान रहती है कि शादी के बाज़ार में रखने का माल अगर अच्छा चमकदार हो तो अुसे बेचना आसान हो जाता है। घर पर लड़कियों का झंझट न रहे, वे स्कूल में जाकर बैठ जायँ तो अच्छा, अिस तरह का खयाल भी न होता हो सो बात नहीं। और बहुत से लोगों के बारे में तो अिससे अधिक विचार नहीं किया जाता है कि आजकल लड़कियों को मदरसे भेजने का रिवाज हो गया है अिसीलिये अुन्हें स्कूल में भर्ती किया जाय।

ग़रीब मध्यम श्रेणी के लोगों से जिनकी हालत अच्छी है, जिन कुटुम्बों में औरतों को घर के काम नहीं करने पड़ते अैसे स्थानों में नारी शिक्षा का अुद्देश्य अिससे कुछ अलग होता है। शायद पति अच्छी तरह पेश आये न आये, बालबच्चे हों न हों, लड़की की जिन्दगी नीरस न बन जाये, शिष्ट सम्मत दिलबहलाव का कोअी साधन लड़की पास हो तो अच्छा, अिस अुद्देश्य से मनोविनोद के तौर पर अुसमें कविता और साहित्य के प्रति दिलचस्पी पैदा की जाती है; कुछ गाना-बजाना, चित्रकला, कसीदा, जरदोजी आदि सिखाया जाता है; तथा सभा-सम्मेलनों में शरीक होने की आदत डलवाअी जाती है। किसी सार्वजनिक संस्था की मंत्राणी का कार्य करने जितना अुत्साह और जरूरी जानकारी दी जाती है; मौका आ जानेपर अकेले मुसाफरी करने की हिम्मत और समाज तथा देश-विदेश में जो कुछ चल रहा हो अुसे समझ लेने की जिज्ञासा अुसमें पैदा

करायी जाती है। अितना हो जाने पर अैसा लगने का कोअी कारण नहीं कि जीवन निरुपयोगी है। प्रचलित चर्चा के विषय पर अपने कुछ मत अिधर उधर से जमा कर लिये हों तो शिक्षा के दूध में शकर पड़ जाय। आज की स्त्री-शिक्षा की सच्ची हालत यह है। अैसा कहने से कुछ लोग नाराज होकर हमें अनास्थावादी (Cynic) जरूर कहेंगे लेकिन समाज की सामान्य परिस्थिति की जाँच-पड़ताल खुली आँखों से करने पर यही नतीजा निकलेगा कि अूपर बतायी हुअी हालत बिलकुल सच्ची है।

जब कि शहरों में ही अैसी हालत है तब गाँवों में राष्ट्रीय दृष्टि से स्त्री-शिक्षा का विचार कौन करता होगा? काठियावाड़ के अेक देशी नरेश ने अपनी रियासत में सिर्फ स्त्रियों के लिये शिक्षा लाज़िमी की है। अिस कानून पर वहाँ कैसे अमल किया जाता है और अुस राजा की सामान्य नीति क्या है अिसकी जानकारी हासिल किये बगैर अुस नरेश का अभिनन्दन करने की जल्दी हम न करें। लेकिन हमें अितना तो जरूर जान लेना चाहिये कि यह कल्पना अुत्कृष्ट और दीर्घदर्शी है क्योंकि ग्रामशिक्षा की कुंजी अिसी में है।

शिक्षा में अग्रसर देशों का अनुभव यह है कि प्राथमिक शिक्षा, बालशिक्षा का कार्य अच्छी तरह चलाने के लिये पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ ही अधिक सुयोग्य हैं। हमारे अिस ग़रीब देश में सार्वत्रिक शिक्षा का विचार करते समय खर्च के बोझ के खयाल से दम घुटने लगता है। सम्पन्नता के बिना शिक्षा-प्रचार संभव नहीं है और बिना शिक्षा-प्रचार के सम्पन्नता नहीं आ सकती। यह अेक बड़ी समस्या है कि अिस विषम अन्योन्याश्रय में से आखिर कैसे रास्ता निकाला जाय। अिस चक्र में से छूटने का मार्ग हमें स्त्री-शिक्षा में मिलता है। हमारे देश में पुनर्विवाह या विधवा-विवाह प्रतिष्ठित नहीं है और कम से कम स्त्रियों के लिये तो वैवाहिक निष्ठा का आदर्श सर्वोच्च समझा जाता है अिसलिये लाखों विधवाअें आमरण वैधव्य की स्थिति में ही रहना पसन्द करती हैं। अैसी नारियों के जीवन को किसी ने अुपयोगी दिशा में नहीं मोड़ा है अिसलिये

अहिल्या बाअी, झाँसी की रानी लक्ष्मी बाअी आदि अुज्ज्वल अपवादों के गुणगान करते हुअे चुपचाप बैठना पड़ता है। आज के जो समाज-सुधारक विधवाओं की हिमायत करते हैं अुन्हें विधवाओं के लिये डाक्टरी या परिचारिका (नर्सिंग) का ही व्यवसाय विशेष पसन्द है अैसा दिखाअी देता है। यह सही है कि ये व्यवसाय आज के समाज के लिये अुपयोगी हैं। लेकिन स्त्रियों के जीवन को सर्वतोपरि कृतार्थ बनाने की शक्ति अिन धन्धों में अभी नहीं दीख पड़ती। जिनको ओअी शिक्षा नहीं मिली है अैसी बेवाओं को रिश्तेदारों के घर पर परिश्रम करने का कम तकलीफ़ का किन्तु प्रतिष्ठा-रहित स्थान ले लेना पड़ता है। जब वह भी संभव नहीं होता तब किसी के घर रसोअी बनाने और अिधर-अुधर चुगलियाँ खाते फिरने का ही धन्धा अुनके लिये बच जाता है।

स्त्रियों और खासकर विधवाओं के लिये अुनका जीवन कृतार्थ बनानेवाला अपत्य संगोपन (बच्चों की परवरिश) के जैसा अनुकूल, मनभाता और पवित्र व्यवसाय दूसरा कोअी नहीं है। आज विधवाओं को आजीविका के लिये—सिर्फ पेट भरने के लिये जो कष्ट अुठाने पड़ते हैं और आश्रितों की तरह रहना पड़ता है अुसके बजाय अगर अुन्हें प्यार के साथ पढ़ाने के लिये बच्चे मिल जायँ, अिज्जत के साथ आज की जितनी ही रोजी-आजीविका मिले तो अुनका जीवन धन्य होगा और राष्ट्र के सामने की जनताव्यापी प्राथमिक शिक्षा के खर्च की कठिन समस्या बहुत-कुछ हल हो जायगी।

अिसलिये होनहार विधवाओं को देहातों में प्राथमिक शिक्षा के लिये तैयार करनेवाले अध्यापन मंदिर चलाने चाहिये। किसी उत्साही और होशियार देहात को लेकर वहीं अिस तरह का अध्यापन मंदिर शुरू किया जाय। आसपास देहात का ही स्वाभाविक वायुमंडल होने से शिक्षा की दृष्टि में ग़लतियाँ होने की संभावना बहुत कम रहेगी। संस्था गाँव में होने से सादगी, किफ़ायतशारी, शरीरश्रम आदि दूसरी बातें भी आप ही आप आती जायेंगी।

यह विचार और यह क्षेत्र बिलकुल नया है और यह प्रयोग बड़ा नाज़ुक है, इसलिये इसमें शक नहीं कि इसके रास्ते में बहुत सी दिक्कतें पेश आयेंगी। कितनी ही अड़चनें तो आज की कल्पना की दृष्टि के सामने दिखाई दे रही हैं, लेकिन चूँकि दूसरा कोई मार्ग नहीं है और यही मार्ग सही है, इसलिये हर कोशिश से यह बात करके दिखानी ही होगी।

देहातों में व्यापक प्राथमिक शिक्षा सिद्ध करने के लिये जो अध्यापन-मन्दिर चलाने हैं और जिनमें स्त्री-पुरुषों को अध्यापन की तालीम देने का प्रबन्ध होने पर भी विधवाओं को ही खास तरजीह देनी है उन अध्यापन—मन्दिरों का पाठ्यक्रम कैसा हो, उसमें किताबी और औद्योगिक शिक्षा का अनुपात क्या रहे यह बाद में तै किया जायगा। धर्मशिक्षा या चरित्र-शिक्षा का मतलब सिर्फ़ उदात्त जानकारी नहीं बल्कि वह एक जीवनदृष्टि है; उस दृष्टि को दिलपर अंकित करने के लिये और अंकित हो जानेपर उसे आचरण में लाने के लिये बहुत सी निरोगी आदतें रहन-सहन और स्वभाव में दृढ़मूल होने की ज़रूरत रहती है। यह भी एक स्वतंत्र विषय है कि इस तरह की धार्मिक शिक्षा के अध्यापन के लिये क्या क्या करना चाहिये।

जहाँ शिक्षा ही सच्ची यानी जीवनोपयोगी नहीं है वहाँ यह सवाल बेमानी हो जाता है कि स्त्रियों तथा पुरुषों की शिक्षा एक ही प्रकार की हो या भिन्न प्रकार की? जिस तरह पुरुषों की शिक्षा सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये है उसी तरह स्त्रियों की शिक्षा भी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये ही है। अतः अगर दोनों की प्रतिष्ठा एक ही क़िस्म की हो तो उनकी शिक्षा भी एक ही तरह की होनी चाहिये। और प्रतिष्ठा में फर्क हो तो शिक्षा में भी भेद रहना चहिये। कम से कम आज की शिक्षा के लिये तो ऊपर के सवाल के जवाब में इस तरह की दृष्टि रखना काफ़ी है। लेकिन अगर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को समर्थ तथा समृद्ध बनाने की दृष्टि से शिक्षा देनी हो तो ऊपर के सवाल पर गहराई में जाकर ग़ौर करना होगा।

असमें कोओी शक नहीं कि भगवान ने स्त्री पुरुषों के शरीरों, स्वभावों और कार्यक्षेत्रों में फ़र्क कर दिया है; लेकिन अिन बातों को अनुचित महत्त्व देकर स्त्री-पुरुषों के जीवन में जो समानता है और अुससे भी महत्त्व की बात जो सहयोग है अुस तरफ ध्यान न देना तो मानो यह मंजूर करने जैसा है कि हमें जीवन की कल्पना ही नहीं है, हम सिर्फ आग्रह के ही मालिक हैं।

बच्चे स्त्रियों के ही पेट से जन्म लेते हैं। बच्चों को बचपन में दूध पिलाने की ज़िम्मेदारी परमेश्वर ने अुन्हीं पर सौंपी है। बच्चों को लेकर घर पर बैठना बहुत कुछ हद तक स्त्रियों के लिये लाज़िमी होने से और अपत्य-संगोपन के लिये ज़रूरी कोमलता और लगन खासकर स्त्रियों में ही विशेष रूप से होने के कारण घर के कामों का बहुत कुछ बोझ स्त्रियों पर आ पड़ा।

दूसरी अेक महत्त्व की गोष्ठ यह है कि मनुष्य के गले यह बात बहुत पहले से अुतर चुकी है कि मनुष्य जीवन की अन्तिम कृतार्थता अहिंसा-सिद्धि में ही है; अिसलिये अुसने अहिंसा को धार्मिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा समर्पित की। लेकिन अिस अहिंसा को जीवन-कलह में अमल में लाना अुसे मुश्किल मालूम हुआ अिसलिये अुसने अहिंसा के लिये अलग क्षेत्र छोड़ दिया। मनुष्य ने यह नीति चलायी कि घर के अन्दर अहिंसा को ही प्रधानता दी जाय, स्वजनों में अहिंसा के कानून पर ही अमल किया जाय, धार्मिक माने जानेवाले आचारों में से हिंसा की गंदगी को जहाँ तक हो सके दूर किया जाय। और अन्त में यह फैसला किया कि कम से कम घर सँभालने वाली तथा प्रेम, सेवा और आत्मविलोपन में ही मग्न नारी को तो अहिंसा मूर्ति ही होना चाहिये। बच्चों को जन्म देना, अुनकी परवरिश करना और युद्ध करना परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। अिसीलिये स्त्रियों ने युद्ध करना छोड़ दिया। अैसा लगने की भी बहुत संभावना है कि स्त्रियों का शरीर ही नाज़ुक होने की वजह से वह युद्ध करने के लिये समर्थ नहीं हैं। लेकिन कम के कम जानवरों

पुरुषों में हिंसापरायणता के कारण पैदा होने वाला भेद मिट जायगा। लड़ाओ का पेशा व शिकार कम होने से और अुद्योगव्यवसाय बढ़ने से स्त्री पुरुषों के जीवन में बहुत-कुछ समानता बढ़ जायेगी, घर चलाने की सारी ज़िम्मेदारी स्त्रियों पर डालकर और शिक्षा के बारे में स्त्रियों को भूखा रखकर हमने अपने गृह जीवन से सुख-सन्तोष, व्यवस्था, सुन्दरता और किफ़ायतशारी को बिलकुल निकाल दिया है। गृह जीवन का सुख अधिकाधिक प्राप्त करने की दृष्टि से भी घर चलाने के काम में मर्दों को ध्यान देना चाहिये और वक्त खर्च करके परिश्रम करने की तकलीफ़ अुठानी चाहिये। आज घर चलाने का बोझ औरतों पर बहुत ज्यादा पड़ता है। घर की रसोओ में भी स्त्रियों के साथ पुरुषों को काम करना चाहिए। मर्द पैसा कमाने वाले 'कमासुत' हो गये अिसलिये अुन्हें घर पर सारा वक्त आलस्य में बिताने का और सब जगह अव्यवस्था फैलाने का अधिकार मिला और रात दिन काम करने वाली स्त्रियाँ अर्थोत्पादक श्रम नहीं करतीं अिसीलिये वे परावलम्बी, आज्ञाकारी और आश्रित बनीं। अिस स्थिति या व्यवस्था में न न्याय है, न सच्चा कौटुंबिक सुख और न कौटुंबिक सामर्थ्य या शील-संवर्धन ही।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि गृहजीवन में अगर पुरुष सिर्फ भोक्ता ही रहे तो वह न चलेगा। अुसे घर के श्रम, देख-रेख, व्यवस्था और अपत्य संगोपन आदि कामों में भी भाग लेना ही चाहिये तथा घर का रहना-सहन सादा और किफ़ायतशारी का बनाकर स्त्रियों के समय और श्रमों की बचत करनी ही चाहिये।

अितना हो जाने के बाद स्त्रियाँ घर से बाहर के जीवन की ओर देख सकेंगी। आज तो कओ कुटुंबों में स्त्रियों को अपने कुटुंब की आर्थिक और औद्योगिक हालत की सही जानकारी नहीं रहती। सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थिति अुसमें होनेवाली विचार-क्रान्ति और जीवन-परिवर्तन का मोड़ आदि में से किसी भी बात का स्पष्ट ज्ञान अुन्हें नहीं होता। जिस तरह जड़ सृष्टि में अपने अूपर बीतनेवाली हालत

के लाचार होकर मंजूर कर लेने का स्वभाव रहता है अुसी तरह की हालत हमारे स्वभाव की भी हो गयी है। गफ़लत, लापरवाही, अनास्था और आर्थिक असहायता के कारण हमारे जीवन में जो कुछ हेर-फेर होंगे सो होंगे। हाथ में तो मानो अितना ही है कि अिन्हीं परिवर्तनों को प्रगति कहकर अुनका अभिनंदन किया जाय; मुँह निकालकर कली के प्रादुर्भाव के नाम से कुत्ते की तरह रोया जाय। या गुलामी की तरफ़ अिशारा कर के भवितव्यता की अिस आशा से चुप-चाप बैठा जाय कि जबर्दस्त या प्रबल लोग किसी न किसी दिन जरूर क्षीण हो जायेंगे।

अगर हमें अपना सामाजिक जीवन मंगलमय और पराक्रमशाली बनाना हो तो हमारा गृहजीवन शुद्ध, सादा, अुद्योगपरायण, प्रसन्न, रसिक और सर्वतोभद्र बनाना ही चाहिये और अगर वैसा करना हो तो स्त्रियों का जीवन आज की तरह अज्ञानमग्न, संकुचित, परावलंबी और कष्टमय रहने से नहीं चलेगा। जबतक गृहजीवन के आदर्श की कल्पना आमूलाग्र नहीं बदलेगी तबतक स्त्री-शिक्षा को अुचित दिशा में मोड़ना बिलकुल असंभव है।

शिक्षा का अूहापोह होने से पहले जीवन के अंग-अुपांगों का मूलग्राही अूहापोह हो जाना चाहिये। अिसके लिये पुराने का अभिमान या आग्रह नहीं बल्कि पुराने की जानकारी, पुराना ज्ञान और पुराने आदर्शों का यथार्थ आकलन होना जरूरी है। अुसमें समाज की शक्ति अशक्ति दोनों का प्रतिबिंब होता है। आज की दुनिया की हालत क्या है, कौन सी बड़ी-बड़ी समस्यायें संसार को बेचैन कर रही हैं इसकी भी, जानकारी होनी चाहिये तथा आज का हमारा समाज कैसा है, अुसके कितने प्रकार हैं अिसका भी प्रत्यक्ष और सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिये।

आज तक की जीवन-चर्चा सुधारकों ने, प्रार्थना समाज या ब्राह्मो समाज के लोगों ने या स्वामी विवेकानंद आदि धार्मिक जागृति करने वालों ने थोड़ी बहुत की है। अुत्तर भारत में आर्य समाज और महाराष्ट्र में सनातन धर्म के अभिमानियों ने भी थोड़ी-बहुत चर्चा की। लेकिन अिसमें से बहुत कुछ कालग्रस्त हो चुकी है।

हमारे लोगों के जीवन पर सबसे पहले मिशनरियों यानी पादरियों ने टीका-टिप्पणी की। अुन्हीं के साथ कुछ युरोपियन अधिकारी और अध्यापक हो लिये। यूरप का अितिहास और वहाँ के प्रजाकीय जीवन की वहाँ के लोगों द्वारा की गयी चर्चा पढ़कर अुसी ढङ्ग की नक़ली चर्चा हमारे यहाँ के शिक्षितों ने बहुत की है, लेकिन अुसमें बनावटीपन के सभी दोष मौजूद हैं। ब्रिटेन की पार्लियामेंट का अितिहास, यूरप के धार्मिक मठों का अनुभव, फ्रान्स, अमरीका, अिटली और इसकी राज्य-क्रान्तियों के प्रकार, औद्योगिक युग की परिस्थिति—आदि पश्चिमी देशों के अनुभवों और पुरुषार्थों की कसौटी पर हमारे देश को कसकर की हुअी आलोचना या विवेचना चाहे जितनी आकर्षक हो तो भी वह हमारी परिस्थिति पर चरितार्थ नहीं हो सकती। और अब तो अुधार माल लाने का क्षेत्र रूस बन बैठा है। जो लोग अिस बात का ब्यौरा समाज के सामने पेश करते हैं कि कोअी सार्वभौम कल्पना जीवन के सभी क्षेत्रों में कार्य कर सकती है, वह आसानी से समाज के अगुआ बन जाते हैं। समाज का स्वभाव किसी भी तरह की तकलीफ़ अुठाना और खास कर दिमाग़ को किसी तरह का कष्ट देना नहीं चाहता। जब पूर्वपक्ष-अुत्तरपक्ष करके तथा सब आक्षेपों का जवाब देकर और नयी स्मृति, क़ानून, विधि-विधान, व्यवस्थापन आदि तैयार करके सामाजिक क्रान्ति की नयी कल्पना लोगों के सामने पेश की जाती है तब अैसी कल्पना का शिष्य बन जाना बहुत आसान, बहादुरी का काम होता है। अिस तरह की कल्पना का स्वीकार करने पर बनावटी जोश भी आसानी से आ सकता है। रूस के विचार ग्रहण करने में हमारे देश के बहुत से लोगों की हालत अैसी ही हुअी है।

प्रत्येक समाज की सामर्थ्य अुसके पुराने ज़माने से चले आये हुअे पुरुषार्थ की पूँजी में रहती है। यह बात बहुत बार भुला दी जाती है कि यह पूँजी अुधार नहीं ली जा सकती। किसी भी समाज को किसी भी दिशा में मोड़ना असम्भव तो नहीं है, लेकिन अितिहास-सिद्ध स्वभाव

के खिलाफ़ जाने में पुरानी पूँजी का दिवाला निकलता है और भयानक विकृतियों की बीमारियों में से समाज को [illegible] करना पड़ता है। अिस धर्म के अनर्थ को टालने के लिये स्वभाव तथा स्वधर्म को पहचानकर अुसके अनुसार स्वतंत्र, जीवित, और परंपरानुकूल परिवर्तन करना चाहिये।

अैसी स्वतंत्र, स्वदेशी जीवन-मीमांसा करने के बाद ही शिक्षा की दिशा निश्चित की जा सकेगी।

—२—

दो पीढ़ियों से पहले की हमारी सामाजिक स्थिति अलग थी और आज की अलग है। धार्मिक आचारों तथा संस्कारों, व्रतों, अुत्सवों और पुराण-श्रवण के द्वारा आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष—सबको काफ़ी धार्मिक शिक्षा मिलती थी. फिर अुसमें भोलेपन और संकुचितता का कुछ अंश क्यों न होता हो? गृह जीवन आज की अपेक्षा अधिक सन्तोष का होता था और परिवर्तन की ज़िम्मेदारी न होने से परंपरा सुख से चलती रहती थी। लड़कों-लड़कियों को घर पर ही गृहशिक्षा मिलती थी। कुल-धर्म, जाति-धर्म आदि के संस्कार आसानी से मिलते थे। चातुर्वर्ण्य के आग्रह के कारण घर के पुश्तैनी धंधों की तालीम घर पर ही बड़ी आस्था के साथ दी जाती। बाकी बची शिक्षा मन्दिरों, बाज़ारों, यात्राओं और सार्वजनिक समारोहों में बच्चों को मिल जाती। जुदा जुदा विषयों के तज्ञ समाज के होनहार युवकों को अपनी तरफ़ खींचने की कोशिश करते और वहाँ युवकों को गुरुशुश्रूषा द्वारा अेक खास ढङ्ग से अुनकी कलाओं की तात्त्विक तथा व्यावहारिक शिक्षा अच्छी तरह दी जाती। अमीरों के लड़के घर पर ही अुस्तादों को रखकर पढ़ते और अुनके साथ-साथ बहुत से आश्रित लड़कों की पढ़ाओी का भी अिन्तज़ाम हो जाता।

संस्कृत विद्या की पाठशालाअें होती थीं। वहाँ ब्राह्मणी विद्या की

शिक्षा गाँव की संस्कारिता के अनुसार कम या अधिक मात्रा में दी जाती। शिक्षक, विद्यार्थी, विद्यार्थियों के माँ-बाप और विद्यार्थियों को बड़े हो जाने पर आश्रय देने वाले कर्तृत्ववान लोग सभी अेक धर्म, अेक सामाजिक आदर्श और व्यापक अर्थ में अेक ही रहन-सहन के होने से शिक्षा आप ही आप सर्वांगी होती और अुससे सन्तोष मिलता। अिसलामी सल्तनतों में फ़ारसी भाषा और साहित्य की शिक्षा अुस्तादों की मार्फ़त बड़ी लगन के साथ दी जाती। फ़ारसी साहित्य की संस्कारिता और रसिकता हिन्दू विद्यार्थियों को सहज ही आकर्षित कर लेती, लेकिन अुसने हिन्दू जीवन को कभी बेचैन न होने दिया। अिसलामी संस्कृति का मूर्ति-पूजा-निषेध और अीश्वर का अद्वैत हिन्दुओं के कानों पर आ पड़ता लेकिन अुस बारे में दोनों धर्मों के साधु-सन्तों ने लोगों में अेक तरह की अुच्च सहिष्णु वृत्ति पैदा कर दी थी, अिसलिये वहाँ भी दोनों धर्मों के लोगों को कोअी दिक्क़त पेश न आती।

स्त्री-शिक्षा के बारे में हिन्दू और मुसलमान दोनों की व्यावहारिक दृष्टि बहुत कुछ समान थी—कम से कम अनास्था के बारे में तो जरूर समान थी।

अंग्रेज़ी सल्तनत के आ जाने पर मिशनरी और सरकारी स्कूल हमें व्यावहारिक शिक्षा देने लगे। सामाजिक जड़ता के कारण कौटुम्बिक जीवन में अनास्था, प्रवाह पतितता और अनुत्साह तो थे ही। फिर सरकारी शिक्षा में धार्मिक शिक्षा नहीं आ सकती थी और पादरियों की संस्थाओं में मिलने वाली धार्मिक शिक्षा हमारे समाज के काम की नहीं थी। अैसी स्थिति में देश में धार्मिक शिक्षा और धार्मिक जीवन दोनों क्षीण हो गये। आर्य समाज ने धार्मिक तथा व्यावहारिक शिक्षा में ज़रूर मेल बिठाया लेकिन यह समाज वादप्रिय होने से अुसने अिस्लामी, अीसाअी और सनातनी तीनों समाजों के साथ हुज्जत शुरू की। अिसलिये आर्य समाज की शक्ति की दृष्टि से बहुत कम कार्य हो पाया, और वह भविष्य काल की दिशा का दर्शन व्यापक रूप से न करा सका।

हिन्दुस्तान की क्रान्ति के वास्तविक अधिकारी ब्राह्मोसमाज और प्रार्थना समाज हैं। लेकिन अिन दोनों समाजों में कोअी क्रान्तदर्शी शिक्षा-शास्त्री पैदा ही न हुआ, अिसलिये अेक महान् प्रेरणा अल्पप्राण साबित हुअी।

स्वामी विवेकानन्द जी को राष्ट्रीय शिक्षा की कल्पना थी, लेकिन अुनके मठ कुछ अैदो-से बन गये हैं। अुन्हें सेवाश्रम खोलने और किताबें प्रकाशित कराने के अलावा दूसरा कोअी कार्य अब तक नहीं सूझा है।

अिसलिये शिक्षा के कार्यक्षेत्र को बहुत व्यापक बनाना चाहिये। धर्म-संस्था, गृहसंस्था और अुद्योग-व्यवसाय आदि सबका कार्य न्यूनाधिक मात्रा में शिक्षा को अपने हाथ में ले लेना चाहिये। और अिसलिये स्त्री शिक्षा पर भी अिसी तरह जीवनव्यापी विचार होना चाहिये। समाज क्या है, समाज का अन्तिम आदर्श कौन सा है, दुनिया के समाज में हमारे लोगों का स्थान कौन-सा है, हमारी जनता का आज तक का पुरुषार्थ किस प्रकार का है और अिसके बाद की यात्रा किस दिशा में और किस मंज़िले मकसूद पर दृष्टि लगाकर करनी है अिसकी सामान्य कल्पना हमारी स्त्रियों में होनी ही चाहिये। अैसी हालत नहीं रहनी चाहिये कि हिन्दी स्त्रियाँ समाज का अेक अंधा अंग हैं।

शारीरिक जीवन, कौटुम्बिक जीवन और राष्ट्रीय जीवन तीनों का शास्त्र अुन्हें मालूम हो जाना चाहिये। अिस के मानी यह नहीं कि समाज-शास्त्र के बड़े-बड़े और गहन ग्रंथों का अध्ययन अुन्हें करना चाहिये। लेकिन अपने समाजशास्त्र की दृष्टि, दिशा और पद्धति का सोपपत्तिक और प्रत्यक्ष ज्ञान अुन्हें होना ही चाहिये; तभी वह भावी जीवन में सहाय-भूत बन सकेगा।

हमें पसन्द हो या न हो—(लेकिन नापसन्द होने के लिये कोअी कारण नहीं होना चाहिये)—अब से आगे समाज-व्यवस्था में स्त्रियाँ पुरुषों जितना ही हिस्सा लेने वाली हैं। यह दलील अब नहीं चलेग

कि बच्चों को जन्म देने और अुनकी परवरिश करने की ज़िम्मेदारी की वजह से स्त्रियों के लिये दूसरी ज़िम्मेदारियाँ हाथ में लेना सम्भव नहीं है। बल्कि अुलटे स्त्रियाँ ही कहेंगी कि 'अिस ज़िम्मेदारी के कारण ही हमारे हाथ में विशेष रूप से समाज-व्यवस्था होनी चाहिये। हमीं समाज को जन्म देती हैं और अुसे प्राथमिक या अिब्तदाअी तालीम देने का काम भी हमारा ही है। विवाह संस्था, अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा और धर्म जीवन में हमारी विशिष्ट दृष्टि बड़े काम की है। समाज का धुरीणत्व आजतक पुरुषों के पास रहा, अिसीलिये राजनीति और शिक्षा दोनों क्षेत्रों में तानाशाही को प्रधानता मिली। अेक अिन्सान दूसरे अिन्सान का खून करे और अुसे न्याय या शूरता कहा जाय—अिस जंगलीपन को समाज में से निकाल डालने के लिये तो हमें समाजतंत्र को अपने हाथों में ले लेना चाहिये।'

कौन कह सकता है कि नारी का यह पक्ष अुचित नहीं है? और अगर अुनकी यह बात सही हो तो अुनकी शिक्षा भी अुसी योग्यता की होनी चाहिये। आज तक हमने मध्यम वर्ग की शिक्षा का ही विचार किया। सामान्य या सर्वहारा वर्ग को जिस तरह वेदोक्त कर्म का अधिकार नहीं था अुस तरह अैसा दीख पड़ता है कि शिक्षा का भी अधिकार नहीं था। अब हमें शिक्षा के रुख को बदल डालना है। संसार की अधिकांश संख्या श्रमजीवी लोगों की है, फिर वे पुरुष हों या स्त्रियाँ। अगर सबको अुचित मात्रा में शारीरिक श्रम करना पड़े तो वह शाप नहीं बल्कि आनन्द का अेक नीरोगी और पुष्टिकर साधन है। अितना मंजूर कर लेने के बाद कि बगैर मेहनत किये छाँह में ही रहने वाले लोगों का जीवन स्वाभाविक नहीं बल्कि अपवादात्मक और कृत्रिम है, शिक्षा में महत्व के परिवर्तन होने ही चाहिये।

धार्मिक शिक्षा से जीवन का अुद्देश्य और रहन-सहन का ढंग अेक बार अच्छी तरह जम जाय तो फिर बची हुअी तालीम खासकर औद्योगिक ही रहती है। औद्योगिक शिक्षा की सामर्थ्य अेक बार गले अुतर

जाय तो फिर आज जिस तरह लोग मताधिकार (वोट) के लिये लालायित रहते हैं अुस तरह सार्वजनिक औद्योगिक शिक्षा के लिये लालायित लोग दिखाअी देने लगेंगे। और यह औद्योगिक शिक्षा मुट्ठी भर लोगों को लाखों रुपये दिला देने वाली नहीं बल्कि अैसी शिक्षा होगी जिससे लाखों करोड़ों कमज़ोर लोगों में जान आयेगी, और अुनके जीवन में कौशल, सन्तोष और स्वाभिमान बढ़ेगा। और अैसी शिक्षा के मानी हैं देहातों में चलने लायक राष्ट्रव्यापी और राष्ट्रीय महत्व के धंधों की शिक्षा।

पिछले दस-बीस साल से महिलाओं के हिमायतियों ने स्त्री की अुन्नति का जो विचार किया है अुसमें स्त्रियों को आर्थिक स्वतंत्रता दिलाने की बात पर ही खास ज़ोर दिया जाता है। लेकिन अुसके मूल में यह कल्पना है कि कुटुंब में स्त्री को न्याय मिलना कठिन है, पुराने ढंग के लोग स्त्रियों को काम करने वाली आश्रिताओं के तौर पर ही रखना चाहते हैं, अिसलिये कुटुंब से अलग रहकर स्वतंत्र रूप से जीविका प्राप्त करने का साधन स्त्रियों को मिलना चाहिये।

यह विचार खतरनाक है। कुटुंब को तोड़ डालने के लिये, कुटुंब के साथ असहयोग करने के लिये आर्थिक स्वतंत्रता दिलाने की कल्पना असामाजिक है। अगर स्त्री कुटुंब में रह कर, कुटुंब के साथ सहयोग करके अर्थोत्पादन में हिस्सा लेगी तो अुसका कुटुंब या परिवार में का महत्व आप ही आप दृढ़मूल होगा। किसानों और जुलाहों की औरतें मर्दों की जितनी ही मेहनत करती हैं। ये दोनों धंधे स्त्रियों के सहयोग के बिना ठीक ढंग से नहीं चल सकते और अिसीलिये किसानों और जुलाहों के घर में औरतों का दर्जा अिज्ज़त और अधिकार से युक्त रहता है। अुसमें जो त्रुटि दिखाई देती है वह दूसरे वर्गों के सम्पर्क के कारण है।

अिससे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि आनंद, आरोग्य और अधिकार तीनों दृष्टियों से सोचते हुअे स्त्री शिक्षा में औद्योगिक कौशल को प्रधानता

देनी ही चाहिये। रसोअी कैसे बनाई जाय, घर में साज़ व सामान का प्रबन्ध कैसे रखा जाय, घर कैसे सँवारा जाय, घर का हिसाब-किताब कैसे रखा जाय, साल का बजट बनाकर अुसके अनुसार खर्च कैसे किया जाय, अतिथिसत्कार और सामाजिक अुत्सवों आदि के अवसर पर कैसे वर्ताव रखा जाय, घर के बाल-बच्चों का स्वास्थ्य, शक्ति, नैतिक आचरण, शिक्षा आदि पर कैसे देखरेख की जाय, आदि बातों का ज्ञान स्त्रियों में आज जितना है अुससे कअी गुना बढ़ जाना चाहिये। अितना ही नहीं बल्कि घर के कामों में ज़रूरी अुपकरण मौक़ा आ जाने पर स्वयं बनाने जितना हस्त कौशल मर्दों की तरह औरतों में भी होना अिष्ट है। अिन शक्तियों का नैतिक अुपयोग कितना है अिसकी कल्पना ही आज के समाज को नहीं है। जिस तरह कपड़ा सीने की कला को स्त्रियों ने खास तौर पर अपनाया है, पकवान बनाने का तो मानों अुन्होंने ठीका ही लिया है, अुस तरह अुनको और तरह के कौशलों की भी सब प्रकार की जानकारी रहनी चाहिये। अुपकरण खराब हो जायँ तो अुन्हें ठीक करने और कहाँ क्या खराबी है यह पहचानने की योग्यता अुनमें होनी चाहिये। आज हम अपना शरीर लेकर डाक्टर के पास जाते हैं और अुससे कहते हैं कि 'अजी डाक्टर साहब, देखिये तो सही, हमको क्या हुआ है ? हमारी तो कुछ समझ में नहीं आता। जिस्म तो मेरा है लेकिन अुसे पहचानने का काम आपको करना है। मेरे शरीर में क्या खराबी पैदा हुअी है अिसके बारे में मुझे जानकारी कराने की तक़लीफ़ न आप अुठायें न मैं। किसी तरह अुसे चलता-फिरता कर दें तो काफी है। अगर फिर यह खराब हो जाय तो पहले की ही तरह अंधेपन से मैं आपके पास आ जाअूँगा और आपका क़र्ज़ चुकाता रहूँगा।"

अिसी तरह हर क्षेत्र में तज्ञों के बोझ को स्वीकार करके हमने अज्ञान और पंगुता की बपौती अपने पास रखी है। यह हालत हरगिज़ नहीं रहनी चाहिये।

बुद्धि के विकास के लिये जिस तरह औद्योगिक कौशल या दस्तकारी

का अुपयोग होता है अुसी तरह व्यवस्थाशक्ति का भी होता है। स्त्रियों में कुछ हद तक बचपन से ही व्यवस्थाशक्ति रहती है; अुसे बढ़ाकर सर्व-समर्थ बनाना चाहिये। मौक़ा पड़ने पर मर्दों को औरतों के मातहत काम करना होगा। अिस हालत से मर्दों को नाराज़ न होना चाहिये; या अुन्हें बड़प्पन का अैसा बहाना भी न बनाना चाहिये कि सिर्फ़ दिल बढ़ाने के लिये वे महिलाओं को यूँ ही अुत्तेजन दे रहे हैं। जिस तरह गृहप्रबन्ध और शादी-ब्याहों में गृहलक्ष्मी ही आगे रहती है अुस तरह हमें अभी से यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि आज की गृहलक्ष्मी कल समाजलक्ष्मी बननेवाली है।

कला और विलासिता दोनों वस्तुअें परस्पर-भिन्न हैं, परस्पर-विरोधी हैं। अैसा होते हुअे भी कला की यथार्थ कल्पना न होने से और संस्कारी विलासिता बनावटी कला के तौर पर चल सकने के कारण समाज में बड़ा गड़बड़झाला पैदा हो गया है। बहुत से विलासी लोग थोड़ी-सी संस्कारिता के प्राप्त होते ही अपनी विलासिता को कला के आवरण के नीचे ढाँक देते हैं; या विलासिता को ही प्रतिष्ठित बनाना चाहते हैं। वास्तविक किन्तु कच्चे और भोले-भाले कलारसिक तथा कलाधर अैसे लोगों के पीछे पड़कर अपने को तथा अपनी कला को हमेशा के लिये डुबो देते हैं। और तब भद्र जनसमाज कला को ही पाँव की जूती की तरह बिलकुल दूर रखना चाहता है। सारांश, समाज में कला की बड़ी दुर्गत होती है और अुन्नति के अिस श्रेष्ठ तथा आनन्ददायी साधन से समाज वंचित हो जाता है।

हमारे देश में मध्ययुग में अेक ज़माना अैसा गुज़रा है कि जब कल्पना ने अपना हीन से हीन स्वरूप प्रकट किया और अन्त में कला के प्रति समाज में अितनी नफ़रत फैल गयी कि भद्र लोगों ने गायन-वादन, नर्तन, काव्य, नाटक आदि किसी भी तरह की कला से सम्बन्ध न रखने का निर्णय किया। 'अभिनेता का मुँह तक न देखना चाहिये' 'रंडागीतानि काव्यानि' आदि अुक्तियाँ अिसी ज़माने की हैं। अगर समाज ने

आत्मरक्षा के लिये अिस तरह के कठोर अिलाज पर अमल किया हो तो क्या आश्चर्य ? अगर पुरुषों ने ही कला को अितना हलका स्थान दे दिया तो फिर स्त्रियों के बारे में पूछना ही क्या ? लोगों ने यह पक्का फ़ैसला कर लिया कि कला और पवित्रता में आठवाँ चन्द्र है। हाँ, सिर्फ़ राजवंशीय लोगों को जनसमाज ने अिस बारे में अपवाद रूप ठहराकर छोड़ दिया था। यह तो वह पतितपावन प्रभु ही जाने कि अिस तरह के अलगाव से पवित्रता की रक्षा हुअी या नहीं। लेकिन अितना तो निश्चित है कि अुससे कला अधिकाधिक क्षीण हुअी और खुले आम हीनता में पगे हुअे लोगों के हाथों में जाकर वह अपनी निर्व्याज मनोहारिता और कुलीन व्रीड़ा दोनों को भूल गयी।

आज अिस हालत को बदलकर कला और समाज दोनों का अेक-सा अुद्धार करने की आवश्यकता है। जब समाज में सच्ची कला बढ़ेगी और झूठ-सच का फ़र्क पहचानने जितनी कुलीन संस्कारिता लोगों को प्राप्त होगी तब समाज में सात्त्विक आनन्द बढ़कर सामाजिक पवित्रता अेक मंज़िल अूपर चढ़ेगी। अिसका प्रारंभ अगर स्त्री शिक्षा से किया जाय तो कला की शुचिभूर्तता की रक्षा में अुससे बहुत कुछ मदद मिलेगी। स्त्री शिक्षा में काव्य-परिचय को महत्त्व का स्थान देकर अिसका प्रारम्भ किया जा सकता है। सामाजिक सद्गुण हमेशा हृदय के आश्रय में रहते हैं। बुद्धियुक्त विवेचन से अुन पर ज्यादा से ज्यादा ओप या पालिश चढ़ाया जा सकता है, लेकिन अुससे अुन्हें पुष्टि नहीं मिल सकती। आर्यत्वपूर्ण काव्यपरिशीलन से हृदय अुन्नत बनता है और सब सद्गुणों को आपही आप जीवन मिल जाता है।

काव्य के साथ गायन-वादन का आरम्भ करना अच्छा है। गायन-वादन चित्त-वृत्ति को स्वतन्त्र रूप से प्रसन्नता प्रदान करके नीरोगी रखने का अुत्कृष्ट साधन है। हमारा यह आग्रह नहीं है कि शास्त्रीय संगीत या पक्का गाना सब जगह शुरू कर दिया जाय। हर प्रान्त में अभी थोड़ा-बहुत अुच्च लोक-संगीत बचा है। हृदय के सर्व प्रौढ़, ललित

और सात्त्विक भावों को जगाकर हृदतंत्री को छोड़नेवाला और हृदय-भूमिका के सब नाजुक और गहरे विभागों का परिचय करा देनेवाला लोक-संगीत फिर से शुरू कर देना चाहिये। वह कल्पलता की तरह अनेक प्रकार से फलदायी साबित होगा।

कला तथा शास्त्रीय शिक्षा की दृष्टि से चित्रकला भी अुतनी ही अुपयुक्त है, औद्योगिक शिक्षा के लिये चित्रकला की मदद बहुत कीमती है। और फिर यह भी न भूलना चाहिये कि चित्रसृष्टि शब्दसृष्टि की तरह ही स्वतन्त्र भाषा है और वह मानवी विचार, विकार कल्पना और भावना की समर्थ वाहक है। अिस दृष्टि से भी शिक्षा में साहित्य के जितना ही चित्रकला का भी गौरव होना चाहिये।

साहित्य-संगीत-चित्रकला अितना ही तो कला का क्षेत्र नहीं है। रहन-सहन, शिष्टाचार, सभी बातों में कला की आर्यता प्रकट करना संभव है। धर्मविधि, अुत्सव, यात्रा आदि सब प्रवृत्तियों में कलामय जीवन व्यक्त करना शक्य है।

मुफ्तखोरी और रिश्वतखोरी का बाज़ार अगर कहीं सबसे ज्यादा गर्म हो तो वह है सरकारी महकमों में। लोग सुखी हों, खर्च कम आये, काम अच्छा हो, अिस दृष्टि की अपेक्षा आला अफ़सरों के हुक्मों की तामील अच्छी तरह हुआी दिखाओ दे, खानापूरी बहुत हो, सालाना रिपोर्ट के लिये पर्याप्त सामग्री अिकट्ठी हो आदि बातों की तरफ ही ज्यादा ध्यान रहता है। सरकारी अस्पतालों और दवाखानों में बीमारों की बनिस्बत अुनके लिये बनाये हुअे कानूनों की तरफ ज्यादा ध्यान दिया जाता है। सभी महकमों में काम की अच्छाओ की अपेक्षा तड़क-भड़क और हुकूमत चलाने की तरफ ही ज्यादा ध्यान दिया जाता है। यह हालत कम या अधिक मात्रा में दुनिया की सभी सरकारों की है; फिर भी मनुष्य के सामाजिक जीवन को पूरी तरह सरकार के ही कब्जे में सौंप देने के सुझाव तत्त्वजड़ समाजवादी करते रहते हैं। अितना सही है कि जब कोओ और रास्ता ही नहीं रहता तब अिन्सान किसी भी संस्था को अच्छा

समझ कर काम चला लेता है और कभी-कभी असे सुधारने का भी प्रयत्न करता है। अिस नियम के अनुसार किसी जमाने में सरकारें सुधारी भी जा सकती हैं; लेकिन आज का जमाना सुधार का नहीं बल्कि परिवर्तन का है। नयी रचना, नयी संस्था, नयी फिलासफी को आजमाने का है, अिसलिये सबका ध्यान सरकार की संस्था की तरफ़ है, फिर वह अच्छी हो या न हो। अिसीलिये लोगों को अैसा लगता है कि हर काम सरकार ही करे। शादी करने के लिये लायक कौन है, वह किसके साथ शादी करे, असके बच्चे हों या न हों, हर व्यक्ति कौन सा धंधा करे, आदि व्यक्तिगत या खानगी बातें भी सरकार ही तै करे अिस तरह की माँग कुछ लोग करने लगे हैं। सरकार की तरह ही, बल्कि असससे भी अधिक सर्वकर्म-समर्थ तथा सब आशाओं के आधार स्थान-जैसी दूसरी संस्था है सार्वजनिक शिक्षा। समाज को जिस-जिस चीज की जरूरत है वह शिक्षा-द्वारा मिलनी चाहिये, शिक्षा के लिये असम्भव जैसा कुछ है ही नहीं, अिस तरह की श्रद्धा लोगों में पैदा हो रही है।

आश्चर्य की बात यह है कि सब देशों की सरकारों के गले शिक्षा का यह महत्व अधिकाधिक अुतरने लगा है और अिसलिये अुनसे अिस तरह की कोशिशें हो रही हैं कि शिक्षा अुन्हीं के हाथ में रहे, असके लिये पानी की तरह पैसा बहाया जाय और शिक्षा द्वारा सरकार के लिये अिष्ट वायुमंडल, तत्वज्ञान और सामर्थ्य पैदा की जाय।

[आज यह हालत है कि शिक्षा सरकार के हाथ में पड़ कर विकृत या भ्रष्ट होने लगी है, और अिसलिये दुनिया की बुद्धि बेगार में फँसती जा रही है। फिर भी यह निश्चित है कि अन्त में यही शिक्षा सरकारों के लिये हानिकर साबित होगी। शिक्षा और शासन या राज्यतंत्र दोनों सार्वभौम तथा स्वयंभू संस्थाअें हैं। अिन दोनों में चाहे जितना सहयोग दिखाअी दे तो भी तत्वतः ये परस्पर-विरोधी वस्तुअें हैं। शिक्षा अधिक सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक वस्तु होने से नारी की तरह वह हारकर भी जीतने वाली है। पारिवारिक जीवन, राजसत्ता, जेल, अुद्योगव्यवसाय

यह हुआी शिक्षा संस्थाओं और विद्यार्थियों की स्थिति। अब रहे अध्यापक। सो वे विषयों के बढ़ते हुओे बोझ के नीचे दब जाने के कारण समाज से अलग रहकर या तो व्यवहार-शून्य बन जाते हैं या फिर हर शास्त्र की सिर्फ परिभाषा जानने वाले और आसामी से प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले कुक्कुटमिश्रपाद बन जाते हैं। जिस पीढ़ी में बहुत से लोग अिस मार्ग से जाने वाले होंगे वहाँ न कोअी किसी को हँसे और न किसी का अिम्तहान ही लें।

शिक्षा के विषय बढ़ते हैं, अिसका कोअी अिलाज नहीं। आज का रहन-सहन ही अैसा है कि जीवन समृद्ध न बनकर सिर्फ़ अुसकी जटिलता ही बढ़ रही है। जब जीवन स्वाभाविक और अिसलिए सादा हो जायगा तभी शिक्षा में स्वास्थ्य और स्थायित्व आ सकेगा।

जीवन के लिये जो जो चीज़ ज़रूरी होगी अुसका शास्त्र बना डालने की आदत आज के युग को पड़ी है। हर चीज़ का पृथक्करण करके प्रत्येक अंग की मीमांसा करना बुद्धि की दृष्टि से सुभीते का है, लेकिन जीवन की दृष्टि से यह तरीका बोझल और बेजान है। शिक्षा के बोझ को कम करने के लिये अुसकी पद्धति में ही परिवर्तन करना चाहिये। आज की शिक्षा तर्कप्रधान, बुद्धिप्रधान होने से जीवन के अन्य अंगोपांग सूख गये हैं और बुद्धि का बोझ कृत्रिमता के कारण बढ़ जाने से बुद्धि की ताज़गी और प्रतिभा भी नहीं बची है। जिस तरह शहरों में घरों की भीड़ होने से जीवन का दम घुट रहा है अुसी तरह शिक्षा की पृथक्करणशील शास्त्रीय पद्धति और विषयों की अधिकता के कारण बुद्धि का दम घुट रहा है। शिक्षा के तरीके में तब्दीली हुअे बग़ैर यह हालत बदलने वाली नहीं है।

स्त्री-शिक्षा और अुसमें भी विधवाओं की शिक्षा स्वतंत्र रूप से महत्व की है ही; लेकिन यहाँ हम अुसका अुपयोग राष्ट्रव्यापी प्राथमिक शिक्षा के लिये कर लेना चाहते हैं और अिसलिये अिस दृष्टि से कुछ महत्व के विषयों को स्त्री-शिक्षा में दाखिल कर लेना चाहिये। कुछ अुत्साही शिक्षा-

शास्त्री बाल शिक्षा के अनुभव से बेचैन होकर माँ-बापों को पढ़ाने के स्कूल खोलना चाहते हैं। अुनका कहना है कि स्त्री शिक्षा में मातृ पद की योग्यता प्रदान करने वाले विषय होने ही चाहिये। अगर अुनका यह कहना मञ्जूर कर लिया जाय तो प्राथमिक शिक्षा के अुपयुक्त विषयों को 'अतिरिक्त विषय' मानने का कोई कारण नहीं है; वे भी सार्वत्रिक स्त्री शिक्षा में आने ही चाहिये।

छोटे बच्चों को कैसे पढ़ाया जाय अिसकी अपेक्षा यह बात अधिक महत्व की है कि अुनके साथ किस तरह पेश आना चाहिये। अनादि-काल से माँ-बाप और घर के दूसरे लोग छोटे बच्चों के साथ पेश तो आते ही रहे हैं। पशु पक्षी भी अपने बच्चों की परवरिश करते हैं। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि माँ-बापों के हाथ से यह काम अच्छी तरह होता है। छोटे बच्चों के साथ कठोरता का बरताव करना जितना बुरा है अुतना ही बुरा अुनके साथ नज़ाकत का सलूक रखना भी है। हर वक्त अप्रतिष्ठा करने से जिस तरह बच्चे बिगड़ जाते है अुसी तरह अत्यधिक लाड़-प्यार करने से भी वह बिगड़ जाते हैं। बच्चों की तरफ़ ध्यान न देने से अुनका जीवन विषम या विषमय होता है; और कभी कोमल तो कभी तीव्र, कभी ध्यान देना तो कभी बिलकुल ध्यान न देना—अिस तरह का बरताव तो तभी रखा जाय जब कि बच्चो को हमेशा के लिये बरबाद करना हो। माँ-बाप और शिक्षक कअी बार बच्चो को सज़ा देते हैं; कभी अुनकी बेहद तथा झूठी स्तुति करते हैं, अुनके साथ या अुनके सामने झूठ बोलते हैं और कभी-कभी अपनी लबारी या झूठेपन में अुनसे सहयोग प्राप्त करते हैं। अुनके ध्यान में यह बात नहीं आती कि अिस तरह वे जीवन के झरने को ही ज़हरीला बना डालते हैं। बचपन तो सब तरह का अनुकरण करने के लिये ही होता है; बच्चे में बिलकुल जन्मकाल से ही अनुकरण शक्ति दिखाअी देती है। अैसे समय पर अुनके साथ ग़ैरज़िम्मेदारी, कृत्रिमता और दम्भ ढोंग का बरताव रखना कितना खतरनाक है, अिसका

खयाल लोगों में नहीं होता । जिनके यहाँ बच्चे पैदा होते हैं या जिनके पास वह पढ़ने के लिये आते हैं अुन्हें यह समझ लेना चाहिये कि अुनके जीवन की वह अेक नयी दीक्षा है । जिस तरह अुपनयन (यज्ञोपवीत) होते ही या संन्यास ग्रहण करते ही मनुष्य अपने जीवन को जानबूझकर ज़िम्मेदारी और आदर्श परायणता की शिक्षा देता है अुस तरह यहाँ भी होना चाहिये । आध्यात्मिक दृष्टि से गुरु बनाने को जितना महत्व है अुतना ही महत्व जीवन और शिक्षा की दृष्टि से शिष्य बनाने को है ।

जिनके हाथों से बालशिक्षा या प्राथमिक शिक्षा को सफल बनाना है अुनमें यह ज़िम्मेदारी और यह महत्व पैदा करने की भरसक कोशिश होनी चाहिये । बच्चों की भलाअी के लिये, उन्हें अच्छा सिखापन देने के लिये, अुनके साथ झूठ बोलने वाले और सच्चे नियमों के झूठे कारण बताने वाले माँ-बाप और अध्यापक कअी दिखाअी देते हैं । और बच्चे तो अपने बुज़ुर्गों के ज़बानी अुपदेशों की बनिस्बत अुनके आचार से सबक़ सीखने में बड़े होशियार होते हैं । हाथी के बच्चे का तरह वे बचपन से ही यह समझने लगते हैं कि दिखाने के दाँत कौन से और खाने के दाँत कौन से होते हैं । छोटे लड़कों और लड़कियों का मन कैसा होता है, अुन्हें क्या-क्या पढ़ाना चाहिये, किस ढङ्ग से पढ़ाना चाहिये, शिक्षाशास्त्र के द्वारा स्वीकृत अनुशासन के प्रकार कौन से हैं, आदि बातों की जानकारी अुपपत्ति के साथ किन्तु आडंबर-रहित देनी चाहिये । अिससे गृहजीवन और संस्था जीवन दोनों कृतार्थ होंगे और शिक्षा देन का कार्य खाना, सोना, घूमना, खेलना, गाना, सृष्टि का निरीक्षण करना आदि प्रवृत्तियों के जितना ही स्वाभाविक और सन्तोषदायक होगा ।

'संसार दुष्ट है ।' 'मनुष्य स्वभाव हीन है ।' 'दुनिया में ज्यादा तब्दीली नहीं हो सकती ।' 'दुनिया तो अैसे ही चलनेवाली है ।' 'मनुष्य स्वभाव की भलाअी या बुराअी अन्त तक जैसी की वैसी बनी रहेगी ।' 'अैसे जगत् में हम अपने दिन किसी तरह अच्छे ढंग से गुजारकर अपना और अपनों का अधिक से अधिक लाभ कर लें तो काफी है ।'—अिस

तरह का तत्त्वज्ञान बहुत से लोगों में होता है और दूसरे बहुत से लोग मुँह से अिस तरह की फ़िलासफ़ी का अुच्चारण न करते हों तो भी उनके रहन-सहन और विचार प्रणाली की जड़ में अिसी प्रकार का तत्त्वज्ञान दिखाअी देता है। अिस के विपरीत कुछ ध्येयवादी लोग अिस कृत्रिम श्रद्धा पर जीना चाहते हैं कि मनुष्य स्वभाव मूलतः साधुता से भरा हुआ है। लेकिन यह दर्शन या वृत्ति तो अुस बिल्ली या शतुरमुर्ग की धारणा की तरह है जो अपनी आँखें मूँदकर यह समझ बैठते हैं कि अब कोअी खतरा ही नहीं है।

वास्तव में शिक्षा की श्रद्धा तो यह होनी चाहिये कि मनुष्य स्वभाव में सत् और असत् दोनों तत्त्व होते हैं, लेकिन अुनका अनुपात कभी स्थिर नहीं रहता। असत् भी बढ़ सकता है और सत् भी। शिक्षा का अेक मात्र अुद्देश्य सत् तत्व को बढ़ाने और मज़बूत बनाने का होना चाहिये।

जिस तरह शिक्षा से व्यक्ति के स्वभाव में अिष्ट रूपांतर या अुन्नति लाना शक्य है, अुसी तरह सारे समाज के स्वभाव को भी धीरे-धीरे बदल डालना, सुधारना या अुन्नति करना सम्भव है। अिस तरह का मनुष्यजाति का क्रमविकास अितिहास में दिखाअी देता है। कभी-कभी बना-बनाया विकास ढह भी पड़ता है; लेकिन अखंड जागृति तथा सतत प्रयास से मनुष्य जाति नारायण स्वरूप तक पहुंच सकती है, अिस तरह की श्रद्धा शिक्षा देने वालों में अजरामर होनी चाहिये और वह अुनके विद्यार्थियों में आनी चाहिये।

———

औद्योगिक शिक्षा

हम यह नहीं कहते कि देहातों में किताबी पढ़ाअी बिलकुल ही न हो। अगर हमारे कहने का कोअी यह अर्थ लगाये, तो कहना पड़ेगा कि वह हमारी सभी योजनाओं के साथ अन्याय करता है। यह सही है कि किताबों की पढ़ाअी में पग जाने से जिनका बिलकुल अचार बन गया है अैसे लोग अपने बाल-बच्चों को किताबी तालीम देने के अलावा अुस शिक्षा के प्रसार के लिये, और खास कर अुसे गाँवों में फैलाने के लिये कुछ भी नहीं करते। लेकिन अगर कोअी गाँव की जनता की भलाअी के लिये पुस्तकों की पढ़ाअी को गौण स्थान देने की बात करने लगे तो यही लोग अुसे ज्ञान का शत्रु, विद्वत्ता का विरोधी, बुद्धि-विमुख और पिछड़ा हुआ आदि बतला कर अुसके खिलाफ़ बवण्डर खड़ा कर देते हैं। असल में देखा जाय तो अैसे लोगों में देहातों में विद्या का प्रसार करने का अुत्साह नाममात्र को ही होता है। अूँचे कहे जाने वाले या सफेदपोश धंधों के पीछे पड़े हुअे अपने बालकों के शिक्षा-क्रम में कहीं शरीरिक श्रम का तत्त्व न घुस जाय यही चिन्ता अुनके सुतमन (सब-कान्शस माअिंड) में घुसी रहती है और सच तो तह है कि यही कौटुम्बिक या स्वजातिगत स्वार्थ बाहर प्रकट होने के लिये जनकल्याण का रूप धारण कर लेता है। 'बूर्जवा' (मध्यवित्त) लोगों का यह स्वभाव ही है। 'आज कल की शिक्षा लोगों को पंगु बनाने वाली है, बुद्धि की मन्दता पैदा करने वाली है' आदि वर्तमान शिक्षा के सब दोषों को हम तोते की तरह रट तो लेते हैं, मगर प्राचीनता के प्रेम के कारण पिछले डेढ़ सौ वर्षों में जिस शिक्षा की आदत पड़ गयी है अुसे छोड़ा नहीं जाता। यूरप, अम-

रीका, जर्मनी, जापान आदि देशों की तरह हमें भी अपने यहाँ अुद्योग-धंधे शुरू करने चाहिये, अुसके लिये बड़े-बड़े कल-कारखाने खोलने चाहिये अैसा कहने वाले लोग हिन्दुस्तान में शहरों की संख्या बढ़ाना और गाँवों को मिट्टी में मिला देना चाहते हैं। अुनके कहने का मतलब अितना ही है कि अुद्योग-धंधे शुरू करने हैं अिसलिये 'बूर्जवा' यानी अपनी श्रेणी के युवकों को विदेश भेजकर अिसकी शिक्षा दिलायी जाय। पहले ही मरणोन्मुख हुअे गाँवों को बिलकुल धूल में मिला देने का यह रास्ता है।

गाँवों में अुनकी परिस्थिति के अनुकूल धन्धे चलाने चाहिये। गाँवों की ही पूँजी, वहीं की मज़दूरी, वहीं की कारीगरी और वहीं अुसके ख़रीदार हों। अैसी स्थिति पैदा होने पर ही गाँवों का अुद्धार हो सकेगा। पहले गाँवों में दस-बीस छोटे-छोटे धन्धे चलते थे। झोपड़ियों में चलने वाले अिन धन्धों का गला दो तरह से दबाया गया है। पैसे वाले अुच्च वर्ग के बूर्जवा लोग शहरों में जा बसे, वहाँ विदेशी माल खरीदने लगे, गाँवों में दूसरे माल की बनिस्बत विदेशी माल सस्ता पड़ता देख अुसे देहातों में घुसाने का पाप करने की अुन्होंने सोची और वहाँ के कारीगरों के मुँह की रोटी छीन कर अपना पेट भरने का अुपक्रम शुरू किया। वास्तव में देखा जाय तो अुन्हें चाहिये यह था कि वे, यह विचार करके कि गाँवों में बनने वाला माल आसानी से और अच्छा किस तरह पैदा हो सकता है, कारीगरों के हथियार और औज़ार सुधरवाते। गाँवों के नौजवानों को दस्तकारी और हस्तकौशल की तालीम देनी चाहिये थी, अपना समझकर और दिल लगाकर गाँवों के अुद्योग-धंधों को प्रोत्साहन देना चाहिये था। और अिस प्रकार विदेशी माल के आढ़तिये बनने के बजाय गाँवों के अुद्योग धंधों के संरक्षक बनना चाहिये था।

सन् १९०५ से १९२० तक के अरसे में होनेवाले स्वदेशी आन्दोलन को शहरों में रहने वाले गरीब अूँचे वर्ग के लोगों के ज्यों त्यों चलने वाले छोटे-मोटे अुद्योग-धंधों को मिला हुआ प्रोत्साहन ही सम-

झना चाहिये। और जहाँ तक कपड़े का सवाल है; स्वदेशी का मतलब था देश के स्वराज्य आन्दोलन के प्रति लगभग अुदासीन से रहने वाले बम्बअी, अहमदाबाद के लखपतियों तथा करोड़पतियों को और ज्यादा मालदार बनाकर पश्चिमी ढंग का रहन-सहन बढ़ाने में मदद देना। महाराष्ट्र के अुजड़ते जाने वाले गाँवों में अनेक गरीब और असमर्थ लोग घर-बार, खेती-बाड़ी, ग्रामीण धंधे, सगे-सम्बन्धी और पुरानी खानदानियत को छोड़कर मिलों में मज़दूरी करने बम्बअी अहमदाबाद जाते हैं, वहाँ चाय और शराब को अपनाते हैं; अल्पायु होकर अपनी जिन्दगी के दिन कम करते हैं और फिर शायद ही कभी अपने गाँव के दर्शन कर पाते हैं। मिलों को प्रोत्साहन देने वाली स्वदेशी का यही अर्थ है। आज देश में अगर कोअी सबसे बड़ी खराबी है तो वह लाखों गाँवों के करोड़ों गरीबों के धंधों का यह द्रोह ही है।

अपने देशवासियों के प्रति सच्चा प्रेम हो, तो हमें अपने गाँवों में रहने वाले सब धर्मों और जातियों के युवकों को गाँवों में ही अुपयोगी हो सकने जैसी औद्योगिक शिक्षा देनी चाहिये। अगर खेती की मज़दूरी की प्रतिष्ठा बढ़ायी जाय तो वह काम अधिक अुत्साह से अधिक नियमित और अधिक अच्छी तरह होने लगेगा, खेती के व्यवसाय की प्रतिष्ठा बढ़ेगी, कवि लोग कृषि और कृषकों के जीवन पर कविता लिखेंगे, जन-समाज अुत्साह से अुन गीतों को गायेंगे और पूँजी का प्रवाह भी खेती की तरफ मुड़ जायेगा। अिस तरह गाँवों की आबादी बढ़कर लोग सुदृढ़, सुखी और दीर्घायु होंगे।

खाने को अन्न, तन ढँकने को कपड़ा और रहने को मकान ये प्राथमिक और सार्वभौम आवश्यकताअें हैं। अिसलिये खेती और जुलाहे, राज, बढ़अी, लुहार आदि के काम अुनसे मिलने वाली मज़दूरी के लिहाज़ से चाहे साधारण हों मगर अधिक से अधिक व्यक्तियों को रोज़ी मिलने की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। अिसलिये अिन धंधों की सामान्य शिक्षा सभी जातियों के युवकों को देना न केवल शक्य बल्कि

अिष्ट और अत्यावश्यक भी है। सारे राष्ट्र की बुद्धि अिन धंधों में लगने से अिनमें सुधार होकर अुन्नति होगी। बुद्धिमान लोग राष्ट्रीय अुद्योगों की अुपेक्षा करें तो अुससे बढ़कर राष्ट्रीय आपत्ति और क्या हो सकती है? सच तो यह है कि देश के लोगों को भूखों मरने देकर विदेशी माल को शौक से खरीदने जैसा दूसरा कोअी प्रजाद्रोह नहीं है। यह प्रजाद्रोह जहाँ अखंडरूप के चलता हो और शिष्टमान्य हो गया हो, वह देश क्षीणवीर्य होना ही चाहिये।

अिस प्रश्न के आर्थिक पहलू पर जब हम गौर करेंगे तब अिस बात का विचार करेंगे कि गाँव की पूँजी को, जोकि बिलकुल घट गयी है, और शहरों में पहुँच गयी है अुसे, फिर से गाँवों में कैसे लौटाया जाय। क्योंकि शरीर के लिये जैसे दूध-घी हैं वैसे ही गाँवों के धन्धों के लिये पूँजी है। पर यहाँ तो हम केवल शिक्षा की दृष्टि से ही विचार करेंगे।

अैसा कहने वाले बहुत लोग हैं कि 'जिन्हें बढ़अी या लुहार बनना हो अुन्हीं को अुन अुन धंधों की शिक्षा दीजिये; सार्वत्रिक शिक्षा में अिन अुद्योगों के ज्ञान की क्या जरूरत है?' लेकिन अुन्हें अिस बात का पता नहीं कि मिट्टी, लकड़ी, और लोहे के सहवास में कुशलता प्राप्त करने से हाथ की अंगुलियों, आँखों और शरीर के दूसरे सब स्नायुओं को कितनी महत्वपूर्ण शिक्षा मिलती है। राष्ट्रव्यापी और सामाजिक महत्व के अुद्योग छोटी अुम्र में ही सीख लेने से विद्यार्थियों का आत्मविश्वास कितना बढ़ता है, सामाजिक जीवन का असली स्वरूप कितनी अच्छी तरह अुनकी समझ में आ जाता है, और अिन सबको तथा समाजशास्त्र को समझने तथा समाज-सेवा करने में अुन्हें कितनी मदद मिलती है, अिस बात का खयाल न होने से ही वे अैसे आक्षेप करते हैं।

अिन्हीं लोगों से अगर कोअी कहे कि 'जिसे कवि बनना हो वही कविता सीखे, जिसे अितिहासकार बनना हो अुसी को अितिहास पढ़ाओ, जिसे सम्पादक बनना है अुसी से निबन्ध लिखवाओ, जिसे कानूनगो बनना हो अुसी को पैमाअिश सिखलाओ, जिसे चित्रकार बनना हो अुसी

को ड्राअिंग सिखाओ, जिन्हें पुलिस या फौज में नौकरी करनी हो अुन्हीं से कवायद कराओ; सभी को अिन सब विषयों में दखल देने की क्या जरूरत ?" तो वे कहेंगे 'आपको व्यापक और संस्कारी जीवन की कल्पना ही नहीं है।" मेहनत का काम करने, शारीरिक श्रम तथा आजीविका के लिये हाथ पैर हिलाने का जिन्हें आलस्य है अुनकी विचार-प्रणाली और संस्कारिता की कल्पना अैसी ही रहेगी। दूसरों की मेहनत के पसीने से लाभ अुठाने के आदी बने हुअे और अपने को कन्धों पर अुठा लेने वालों को ही लात मारने वाले ये सफेदपोश या अूँची जाति के लोग गाँव की राष्ट्रीय शिक्षा का विचार ही नहीं कर सकते।

जिस तरह औद्योगिक कुशलता और नफा-नुकसान की दृष्टि जीवन की संपूर्णता के लिये आवश्यक है अुसी प्रकार नापतौल का अचूकपन भी बहुत जरूरी है। हमारे समाज में गफ़लत और अूलजलूल अनुमानों पर चलने वाले व्यवहार के कारण जीवन जितना मह‍ँगा पड़ता है अुतना विदेशी शासन के बोझ से भी न पड़ता होगा। सबसे बड़ी फ़िज़ूलखर्ची तो समय और आयुष्य की हुअी है। किस काम में कितना वक्त लगेगा, कितने साधनों की ज़रूरत होगी, कितना खर्च लगेगा, नफ़ा-नुक़सान क्या और कितना होगा और अुस काम के साथ और किन-किन बातों का सम्बन्ध रहेगा—अिसका ठीक अन्दाज़ा लगा सकने वाले कितने लोग समाज़ में होंगे ? जो सौ तक गिनती भी ठीक तरह नहीं बोल सकते अैसे प्रौढ़ वय वालों और वृद्धों को देखकर समाज की शिक्षा का भार वहन करने वाले लोगों का महान प्रजाद्रोह असह्य प्रतीत होने लगता है। लिखना-पढ़ना जानने वाले लोग दो तरह से सम्पन्न हो सकते हैं। अपना ज्ञान अपने ही पास रखकर सामान्य जनता को अज्ञान में ही पड़े रहने देते हुअे, अुसके अज्ञान और अुसकी दुर्दशा से सब तरफ से लाभ अुठाकर अुसे रत्ती- रत्ती चूस लेना अेक मार्ग है। दूसरा मार्ग है ज्ञान और कार्य-कुशलता की दृष्टि से जनसमुदाय की सब तरह अुन्नति करना, अुसको सामर्थ्य-सम्पन्न बनाना, और अैसे सम्पन्न लोगों का नेतृत्व

करके अुनकी सेवा करते हुअे अपनी बहुविध अुन्नति करना। अिनमें पहला मार्ग पुरुषार्थहीनता और नास्तिकता का है, पर बदकिस्मती से वही हमारे देशवासियों के गले अधिक अुतरा है।

आज अगर प्रजाकीय शक्ति जागृत करनी हो, लोगों की दृष्टि सजीव और निर्मल बनानी हो तो चाहे जिस तरह हो, लोगों का गणित में प्रवीण बनाना होगा, क्योंकि बगैर गणित के कौशल, कार्य-कुशलता और किफ़ायतशारी में वृद्धि नहीं हो सकती; आलस्य, दैववाद और जड़ता का नाश नहीं हो सकता। व्यावहारिक गणित और जमा खर्च की जानकारी वास्तव में राष्ट्रीय महत्व के विषय हैं। अिनके कारण श्रमजीवी प्रजा की शक्ति बढ़ने वाली है। सुधरे हुअे हथियारों और औज़ारों का अिस्तेमाल करने, नये-नये आविष्कार करने, छोटे-बड़े कल-कारखाने चलाने आदि सब कामों के लिये सूक्ष्म गणित की जानकारी और आदत ज़रूरी है। ज़रा कोअी खूबी की चीज़ नहीं देखी कि 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं' जैसी हालत हमारी हो जाती है। लेकिन अुसके अन्दर असली खूबी क्या है यह पहचानने का पुरुषार्थ बहुत कम लोगों में दिखाअी देता है। प्रजा की अिस बाजू को ही हमने अर्धांगपीडित या फालिज मारी हुअी हालत में रहने दिया है। 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।' निरीक्षण करना, परीक्षण करना, प्रयोग करना, अनुभवों को दर्ज करके रखना, हर चीज़ की नापतौल करना, साधर्म्य-वैधर्म्य की जाँच करना, कार्यकारण सम्बन्ध निश्चित करना, और सारे जीवन से अूल-जलूल अनुमानों को निकाल देना प्रजाकीय शिक्षा का सबसे महत्व का कार्य है। गणित और कौशल की बुनियाद पर ही यह रचना हो सकेगी।

———

[२५]

ग्रामवृद्ध और अधिकार-संन्यास

कुछ प्राणी अपने अंडे ज़मीन में दबाकर स्वयं मर जाते हैं; अुन में माँ-बाप और बच्चे अेक-दूसरे को देख तक नहीं सकते। हर पीढ़ी को स्वतंत्र रूप से अपना नया संसार बनाना पड़ता है। मनुष्य की बात अैसी नहीं है। जन्म लेने के बाद बहुत समय तक मनुष्य परवश रहता है। अुसे पुरानी पीढ़ी से शिक्षा हासिल करके तैयार होना पड़ता है। अिसी तरह दूसरी ओर मनुष्य की अुपयोगिता खत्म हो जाने के बाद भी वह नयी पीढ़ी का आश्रित बनकर ज़िन्दा रहता है। अुसके जीवन के प्रारंभ और अन्त का कुछ भाग प्रत्यक्ष कार्य के लिये अुपयुक्त नहीं होता। शुरू में अुसकी ताकत अधूरी होती है, आखिर में क्षीण हुअी होती है। बचपन में अुसमें ज़िम्मेदारी का ज्ञान नहीं होता; बुढ़ापे में वह जिम्मेदारी को अुठा नहीं सकता।

यह हालत दुःख करने जैसी है अैसा मानने की कोअी जरूरत नहीं। अिस व्यवस्था से भूत-वर्तमान-भविष्य तीनों पीढ़ियों की जंजीर अटूट बनी रहती है और सब तरह की प्रगति हो सकती है। दूसरे प्राणी केवल दिग्दृष्टि होते हैं। अेक मनुष्य प्राणी ही अैसा है जिसमें दिग्दृष्टि के अलावा कालदृष्टि भी होती है। अिन्सान को मालूम है कि प्रत्येक क्षण भूत और भविष्य के बीच की अेक संधि, अेक कड़ी है। प्रत्येक क्षण भूत और भविष्य के सम्बन्ध को पहचान कर ही अुसे वर्तमान में व्यवहार करना पड़ता है। बचपन की शिक्षा बहुतांश में भूतकाल को समझने और पचाने के लिये होती है। भूतकाल का अध्ययन-आकलन जिन्होंने नहीं किया है, वे वर्तमान काल का कर्म (कार्य) कुशलता और

जिम्मेदारी के साथ नहीं कर सकेंगे।

यहाँ तक का विवेचन सब को मंजूर हो सकता है; लेकिन वर्तमान काल की ज़िम्मेदारी का बोझ अुठाने के लिये भूतकाल की पूँजी का होना जितना ज़रूरी है अुतना ही या अुससे भी ज़रूरी है भविष्यत् काल की दृष्टि का होना। अिस दृष्टि को जिन्होंने हासिल नहीं किया है, भविष्यकाल के साथ, नयी पीढ़ी के साथ जो संधि नहीं कर सकते अुन्हें अर्ध-शिक्षित ही कहना चाहिये। भविष्यकाल किस दिशा में जा रहा है, कौन कौन से नये सवाल अुसने छोड़े हैं आदि बातों का अच्छा ज्ञान होना तो ज़रूरी है ही; लेकिन साथ-साथ नयी पीढ़ी की पसन्दगी-नापसन्दगियाँ, दिलचस्पियाँ, बौद्धिक गढ़न और सामर्थ्य की विशेषता पहचानकर अुसे अुचित शिक्षा देना, दिशा बताना और काम करने के लिये अवसर देना प्रत्येक बुजुर्ग व्यक्ति और पीढ़ी का काम है। जिस का हर कदम भविष्य काल को तरफ नहीं पड़ता अुसे व्यवहार पर की अपनी हुकूमत छोड़ देनी चाहिये। मनुष्य अगर अजरामर होता तो वह भविष्य की पोढ़ी को व्यवहार का खेल खेलने ही न देता। अिच्छा हो या न हो, मौत का बुलावा आ जाने पर सभी अैहिक बातें नयी पीढ़ी को सौंप दिये बगैर कोअी रास्ता ही नहीं रहता। लेकिन अगर अैसी हालत पैदा हो जाय कि नवीन पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी के हाथों से सारे अधिकार छीन लेने पड़ते हैं, तो वह दोनों को भी शोभा न देगा। भगवान ने नयो पीढ़ी की शिक्षा पुरानी पीढ़ी के हाथ में रखी है। अिस बात से लाभ अुठाकर अुतने समय में नयी पीढ़ी पर जितने संस्कार डाले जा सकें अुतने डाल दीजिये। आपको मिले हुअे अवसर से अधिकाधिक लाभ अुठाने की आपको पूरी-पूरी अिजाजत है। लेकिन वह जमाना बीत जाने पर नयी पीढ़ी में जो कुछ पैदा होगा अुसका स्वागत करने में ही आपकी शोभा है। भविष्यत काल की पीढ़ी स्वतंत्र हो जाने के बाद भी अुसे काम करने या व्यवहार चलाने का मौका न देना, अुसके अधिकारों को स्वीकार न करना तो अपनी ही अयोग्यता के चिह्न हैं।

मनुष्य अपने दुश्मन के साथ जैसा बरताव रखता है, विरोधी के साथ जिस तरह पेश आता है वैसा ही अगर वह अपने बाल-बच्चों के साथ बर्ताव रखने लगे तो यही समझना चाहिये कि असकी लियाक़त का दीवाला ही निकल चुका है। मनुष्य को अपने हाथ में सत्ता रखनी ही हो तो वह अुत्कृष्ट सेवा, समझ या सूझ और कार्यक्षेत्र में कूदने की तैयारी करने वाली नयी पीढ़ी को सहयोग देने की तत्परता, अिन्हीं बातों के बलपर रहनी चाहिये। हम अैसा बर्ताव रखें कि हमें अधिकारारूढ़ रखने की आवश्यकता हमारी अपेक्षा नयी पीढ़ी को ही विशेष महसूस हो। गाँवों में अिस बात का खयाल बहुत कम रखा जाता है। जिन लोगों को अिस बात का पता तक नहीं होता कि मनुष्य जीवन में प्रगति नाम की कोअी चीज़ है, वे यह चाहते रहते हैं कि सब कुछ हमेशा के लिये स्थिर ही रहा करे। अुनकी यह अिच्छा रहती है कि अुनके बाल-बच्चे अुनकी मर्ज़ी और हुक्म के मुताबिक ही सारा व्यवहार चलायें और अुनके पीछे भी संसार वैसा ही चलता रहे जैसा कि अिस वक्त चलता है। कमज़ोर लोग परिस्थिति के प्रवाह में बहने में किसी तरह की आपत्ति नहीं अुठाते, जो लोग धर्मबन्धनों को शिथिल हुअे अपनी खुली आँखों चुपचाप देखते रहते हैं वही लोग, धर्मव्यवस्था में अगर कोअी ज्ञानपूर्वक अिष्ट परिवर्तन करना चाहे तो कमर कसकर अुसका विरोध किये बिना नहीं रहते। गाँवों के सामाजिक और आर्थिक प्रश्न अधिकाधिक अन्तिम स्थिति को पहुँचने लगे हैं। गाँवों में मौलिक विचार अधिक न होने से अुनका दिशासूचन अब तक तो शहरों की तरफ से ही होता है लेकिन अिसमें बदकिस्मती की बात यही है कि गाँवों की जनता देश के दूरदर्शी समझदार लोगों की सलाह न मानकर शहर के मतलबी लोगों के अिशारों पर नाचने को तैयार रहती है। शहर में चाहे जो आदमी चाहे जो व्यवसाय करे तो चल सकता है, गाँवों में सिर्फ निम्नश्रेणी के लोगों पर ही पैतृक धंधा न छोड़ने की जबरदस्ती की जाती है।

[हमारा मत है कि जहाँ तक हो सके, किसी को पुश्तों से चला आया हुआ अपना प्रामाणिक व्यवसाय नहीं छोड़ना चाहिये। लेकिन साथ ही हर अेक को अपने धंधे के विकास के लिये ज़रूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिये, हर अेक को अपने व्यवसाय द्वारा अपना सम्पूर्ण विकास करने का अवसर मिलना चाहिये। वर्ण-व्यवस्था कोअी सामाजिक गुलामी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग स्वेच्छा से भले ही धर्मपरतंत्र हो, लेकिन सामाजिक जुल्म का जुआठा किसी के भी कंधे पर न पड़ना चाहिये। गाँवों में बौद्धिक दासता, आर्थिक दासता तथा तंत्रदासता को टिकाये रखने की कोशिशें अभी चल रही हैं। मज़दूरों को प्रामाणिक मज़दूरी करने पर भी बिलकुल आश्रित की तरह शर्मिन्दा रहना पड़ता है। यह स्थिति सारे समाज के लिये खतरनाक है।]

गाँवों की तरुण पीढ़ी को नयी परिस्थिति समझाने का काम व्यवस्थित रूप से किसी को करना चाहिये। नयी पीढ़ी का अपमान, तेजोवध या तिरस्कार न करके, अुसके आत्मविश्वास का मज़ाक न अुड़ाकर, अुसकी सामर्थ्य को पंगु न बनाकर केवल समभाव और सेवा तथा समझदारी और ज़िम्मेदारी के बलपर तरुण पीढ़ी को यह बताना चाहिये कि वह अपनी सारी शक्ति किस तरह आज़मा सकेगी। शास्त्र की यह आज्ञा है कि अेक पीढ़ी से दूसरी को अधिकार-प्राप्ति होनी चाहिये। अिस अधिकारदान को अुपनिषद् में 'संप्रक्ति' नाम दिया गया है। बाप-बेटे को विप्लवी बनाने की अपेक्षा अुसकी मदद करता रहे और अुस पर ज़िम्मेदारी का बोझ डालता जाय, और बेटा अपने बाप से सहायता की अपेक्षा रखे—अिस तरह की स्वागत योग्य स्थिति पैदा करनी चाहिये। अिसके लिये बुढ़ापे का जीवन सादा, संयमी और स्वावलंबी बनाना चाहिये। अिसमें बूढ़ों का सभी तरह से लाभ ही है। अैसे जीवन से अुनकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ आखिर तक टिकेंगी, बुढ़ापा सुख में बीतेगा, अुनका बोझ औरों पर कम से कम पड़ेगा और अन्तिम छुटकारा बिलकुल अनायास हो जायगा। आज तो गाँवों में बेटे की मूँछें

सफ़ेद हो जाय तो भी आप अुसे पारिवारिक या सामाजिक ज़िम्मेदारी के विषय में स्वतंत्र रूप से तनिक भी सोचने नहीं देता। यह अंधा आग्रह अुन्हें छोड़ देना चाहिये।

तरुण पीढ़ी के बारे में अितना ही कहा जा सकता है कि जिन्हें काम करना है, जिनमें सुधार करने की हिम्मत है वे चुपचाप और दृढ़ता के के साथ अुसे कर डालते हैं। पुरानी पीढ़ी के दोष निकाल कर बड़बड़ाते रहना कोअी नये जोश का लक्षण नहीं है। गैरज़िम्मेदारी को भी नये अुत्साह का चिह्न हरगिज़ नहीं कहा जा सकता। गुस्ताखी या अुद्धताअी कोअी स्वतंत्र वीर्य नहीं है। नम्र तथा सेवापरायण व्यक्ति अधिकाधिक अधिकार ले सकता है और अुन्हें हजम भी कर सकता है।

---

[२६]

गौरक्षा

—१—

अैसा लगता है कि मारपीट करके या खून बहाकर गाय की रक्षा की जाय अैसी धर्म की आज्ञा नहीं है।

ब्राह्मण अपने तप से गाय की रक्षा करे।

क्षत्रिय व्यक्ति दिलीप राजा की तरह अपना बलिदान देकर गाय की रक्षा करे।

लेकिन गौरक्षा के कर्तव्य को धर्मशास्त्र ने वैश्य कर्म के तौर पर ही बताया है। कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

आज की परिस्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि वैश्य लोग ही गाय की रक्षा करें। अूपर के वचन या अुक्ति का अर्थ यह होता है कि पशुओं की रक्षा वैश्य ढंग से करनी चाहिये। यही अेक धर्म्म मार्ग है कि सारा समाज गायों और बैलों का अेक राष्ट्रीय ट्रस्ट—निधि—बनाये और गायों को अपने क़ब्ज़े में लेकर अुनकी रक्षा करे।

गौरक्षा औरों का काम नहीं, वह तो वैश्यों का ही काम है। मनु ने अपनी स्मृति में यह स्पष्ट रूप से कहा है कि जबतक वैश्य गोरक्षा करते हैं तबतक दूसरे लोग अुसमें न पड़ें। आज जिसका अर्थ हम यह करें कि जबतक वैश्य ढंग से गोरक्षा हो सकेगी तबतक दूसरे साधनों का अुपयोग न किया जाय। वैश्य की होशियारी से ही गोरक्षा हो सकती है।

यह रहा मनु भगवान का वचन :—

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्।

[अध्याय ९ श्लोक ३२७]

अर्थात् विधाता ने पशुओं को पैदा करके अुनकी रक्षा के लिये अुन्हें वैश्य के सिपुर्द कर दिया है। अिसलिये

वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात् पशूनां चैव रक्षणे। [९-३२६]

अर्थात् वैश्य को कृषि, गौरक्षा और वाणिज्य में हमेशा मशगूल रहना चाहिये और खासकर पशुओं की रक्षा में। दूसरी तरह या मार्ग से आजीविका और धनप्राप्ति अच्छी होती हो तो भी वैश्यों को गौरक्षा के प्रति लापरवाह नहीं रहना चाहिये। और जबतक वैश्य पशुरक्षा के लिये तैयार हैं तबतक औरों को अुसमें पड़ना ही नहीं चाहिये।

'नच वैश्यस्य कामः स्यात् 'न रक्षेयं पशून्' अिति।

वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन॥ (९-३२८)

अर्थात् (खेती आदि में अच्छी कमाअी होती हो तो भी) वैश्य को अैसा नहीं सोचना चाहिये कि 'पशुओं की रक्षा मैं न करूँगा।' अुसे तो पशुओं की रक्षा करनी ही चाहिये। और जबतक वैश्य अिस कर्तव्य की पूर्ति करने की अिच्छा रखता हो तबतक दूसरों को अुसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

अिसके बाद मनु भगवान ने अिस बारे में महत्त्व की बातें बतायी हैं कि वैश्य लोगों को कौन-कौन सी विद्याअें जाननी चाहिये। आज के ज़माने में भी ये सभी विद्याअें महत्व की समझी जायेंगी। अुनमें पशूनां वर्धनम्—cattle breeding—पशुपालन को स्थान है। अिसका अर्थ टीकाकार ने अिस तरह किया है :—

अस्मिन् देशे, काले, अनेन च तृण-अुदक यवादिना।

पशवो वधन्ते, अनेक क्षीयन्ते अिति अेतत् अपि जानीयात्॥

अर्थात् जानवरों की परवरिश के लिये अमुक स्थान पर, अमुक ऋतु में अमुक किस्म की घास, पानी, अनाज आदि अनुकूल होते हैं। अुनसे जानवर पुष्ट होता है, सुधरता है और बढ़ता है तथा अमुक हालत में जानवर कमजोर हो जाता है, बरबाद हो जाता है—यह सब जान लेना ज़रूरी है।

—२—

[१]

अहिंसा के मानी हैं अुन सभी सचेतन सत्त्वों के प्रति क्रूरता का अभाव जिनमें सुख-दुःख की भावना है। तमाम जीवों को अभयदान देना, अुनका घात (नाश) करने को प्रवृत्त न होना व्यापक अहिंसा है।

अितनी अुच्च कक्षा तक मनुष्य की धर्म-बुद्धि अब तक नहीं पहुँची है। मनुष्य-हृदय अितना अुन्नत नहीं हुआ है। अिसलिये समस्त मानव जाति से आज की हालत में अधिक से अधिक अितनी ही अपेक्षा रखी जा सकती है कि वह अैसी हालत पैदा करे जिससे मनुष्य-मनुष्य के बीच वैर न हो, कोअी किसी का घात न करे, अितना ही नहीं बल्कि कोअी किसी को न सताये, कोअी किसी के साथ अन्याय न करे।

अगर कोअी किसी के साथ अन्याय करे, नाश करे और वैर करे तो अुसकी सजा या प्रतिशोध के लिये भी कोअी किसी को न मारे, कोअी किसी का नाश न करे। क्योंकि हिंसा बढ़ती है, कम नहीं होती। अुलटे क्षमावृत्ति से, सहन करने से और मौक़ा आने पर सत्याग्रही सविनय विरोध करने से समस्त मनुष्य हृदय की सज्जनता बढ़ती है।

धर्मपालन के लिये, शिक्षा के अेक तरीके के तौर पर मनुष्य-मनुष्य में अगर अहिंसा का ही अवलंबन हो तो आज का युग कृतार्थ होगा।

[२]

अिससे अगला क़दम यह है कि हमारे छोटे भाअियों के समान जिस प्राणी सृष्टि को परमेश्वर ने मनुष्य के हाथों सौंप दिया है अुसके साथ धर्म का बर्ताव करना। जिस प्राणी से मनुष्य को लाभ-हानि कुछ भी नहीं है अुसके प्रति वह अुदासीन ही रहेगा। केवल दुष्ट बुद्धि से या शौक़ के लिये अुन प्राणियों का संहार करने को वह कभी कभी ज़रूर प्रवृत्त हो जाता है, लेकिन अिस प्रकार का संहार थोड़े से प्रयत्न से रुक सकता है। अिसी तरह मनुष्य के हाथों कभी-कभी अनजान में होने

वाले संहार को रोकना या कम करना भी मुश्किल नहीं है।

लेकिन जो जानवर या प्राणी मनुष्य के प्रत्यक्ष नाश या दुःख के कारण बनते हैं अुनका संहार या विरोध करना योग्य है, आवश्यक है और स्वाभाविक है अैसा मनुष्य को अितनी अुत्कटता के साथ लगता है कि अुसकी अिस प्रवृत्ति का विरोध करना आज तो बहुत मुश्किल है।

जिन्हें सिर्फ़ यंत्रों की मदद से ही देखा जा सकता है या जिनके अस्तित्व की जानकारी कीटविद्याविशारदों के कहने से ही प्राप्त होती है अुन रोग-कीटाणु जैसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों के जन्म-मृत्यु, विकास-विनाश या सुख-दुःख के विषय में मनुष्य हृदय जागृत नहीं होता है। यह प्रचार करना कठिन है कि अिन जीवों के प्रति भी अमुक प्रकार का मानव धर्म विहित है।

[२]

अब रहे अैसे प्राणी जिनका सम्बन्ध मनुष्य-जीवन के साथ हमेशा के लिये बँध गया है। अुनमें भी जिन्हें पकड़कर मनुष्य अपना आश्रित नहीं बनाता या जिनसे सेवा नहीं लेता अुनकी रक्षा या पालन करने का धर्म अुसके सिर पर नहीं आता। अुन प्राणियों का जीवन तो प्रकृति के नियमों के अनुसार व्यतीत होता रहता है। कीडे, मकोड़े, जंगली कबूतर, जंगल के पशुपक्षी और पानी में रहने वाली मछलियाँ आदि का पालन-पोषण करना या प्रयत्नपूर्वक अुनकी रक्षा करना भी मनुष्य का धर्म-प्राप्त कर्तव्य नहीं है। अुन्हें पालने में अेक क़िस्म का शौक़ है, मनोविनोद है या अनावश्यक दयाधर्म का अंध अतिरेक है।

लेकिन मनुष्य के आहार के लिये आज जो प्राणियों की हत्या होती है अुसे अगर रोका जा सके तो बहुत अच्छा होगा। पर अुसके लिये रास्ता तो अेक ही है; मनुष्य हृदय को जाग्रत करना। अन्य कोअी मार्ग नहीं है। जहाँ भक्ष्य-भक्षक भाव जम गया है वहाँ दयाबुद्धि अुत्पन्न करना बहुत मुश्किल है। अैसी स्थिति में खास हत्या के लिये पशुपक्षी या मछलियाँ पाली जाती हैं; यह रिवाज तो अुनके शिकार से भी अधिक

गर्ह्य (घृणित) है। जिनका पालन हम करते हैं अुन्हीं का वध करना या जिन्हें हम खिलाते हैं अुन्हीं को खा जाना, अिसमें अुन-अुन जीवों की हिंसा तो है ही, साथ ही अुससे भी भयानक मनुष्य हृदय की हिंसा है।

अैसी स्थिति में जिनका पालन-पोषण हम करते हैं अुनकी हत्या करना जितना अनिष्ट है अुतना ही अनिष्ट अुनके वंश को बढ़ने देना भी है। वध या हत्या के हेतु से पाले जाने वाले जानवरों का वंशविस्तार बंद या मर्यादित करना अहिंसा की अेक सीढ़ी है।

जिन प्राणियों को पालकर हमने पूरी तरह अपना आश्रित बनाया है अुनके वंशविस्तार का सारा पाप हमारे सिर है। जिस वक्त अैसी हालत पैदा होगी कि हमें अुनका कोअी अुपयोग नहीं रहा, तब अुन्हें जंगल में ले जाकर छोड़ देना और फिर से वन्य बनने देना अेक मार्ग है। दूसरा मार्ग है अुनका वंश न बढ़ने देना। अनावश्यक प्राणियों के पालन का भार अुठाना मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है।

[४]

जो पशु हमें दूध वगैरह आहार देते हैं, या जिनसे श्रम रूपी सेवा हम लेते हैं वे हमारे कुटुंबी या परिवार के बन जाते हैं। अुनका वध करना या होने देना अत्यंत निंद्य है। गाय, बैल, भैंस, भैंसा, हाथी, घोड़ा, अूँट, गधा, खच्चर आदि पशु जब तक आश्रित दशा में हैं तब तक मनुष्य की तरफ से अुन्हें अभयदान मिलना चाहिये। यह अभयदान तभी दिया जा सकेगा जब अुन अुन प्राणियों का पालन-पोषण मनुष्य के लिये लाभकारी साबित होगा। कम से कम वह घाटे का या असह्य भाररूप तो नहीं बनना चाहिये।

अूपर के जानवरों में से हाथी, घोड़े और अूँट का सवाल हमारे यहाँ महत्त्व का नहीं है। अुनके जीवन को अभी किसी तरह का खतरा नहीं दिखाअी देता। गधों के लिये आदमी कुछ खर्च ही नहीं करता

यानी लगभग मुफ्त में ही वह अुससे सेवा लेता है। अतः अुसका सवाल भी चर्चा का विषय नहीं है।

अब सवाल रहता है गाय-बैल और भैंस-भैंसे का। अिनमें से गाय बैल जब तक जीते हैं तब तक अुनसे हमें अमर्याद सेवा मिलती है। अिसलिये अुनके पालन-पोषण और अुनके बुढ़ापे में अुन्हें सँभालने की जिम्मेदारी हम पर रहती है। अुसमें भी बैल की सेवा हमें अखंड-रूप से मिलती रहती है; अिसलिये अुसकी अुपयोगिता स्वयं सिद्ध है। अतः आमतौर पर कोअी अुसे कत्ल न करे। गाय की अुपयोगिता अुसके दूध की मात्रा में बढ़ती-घटती रहती है, और अिसीलिये अुसका जीवन संकट में आ पड़ा है। अगर बैल की तरह गाय से भी हमेशा मुनाफा मिलता रहे तो आमतौर पर अुसका भी वध कोअी नहीं करेगा।

गाय पर अेक और भी आफत आ पड़ी है। अुसकी अेक जबर्दस्त प्रतिस्पर्द्धिनी के तौर पर भैंस खड़ी हो गयी है। मनुष्य-धर्म से वफादार रहकर भैंस की औलाद का पालन-पोषण किया जाय और अुसके बुढ़ापे में अुसकी रक्षा की जाय तो भैंस कभी हमें मुनाफा नहीं दे सकती। गाय की अपेक्षा भैंस में दूध ज्यादा रहता है, अुसके दूध में चरबी की मात्रा अधिक होती है और अुसे पालना तथा अुसकी सार-सँभाल रखना ज्यादा आसान रहता है। अिन कारणों से वह गाय का स्थान छीन लेती है। लेकिन हमें अिस बात को नजर अन्दाज नहीं करना चाहिये कि अिसमें अिन्सानियत को भूल जाकर छोटे या बड़े पाड़ों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हत्या करने से ही भैंस का दूध सस्ता पड़ता है। भैंसा या पाड़ा स्वभाव से न श्रमसहिष्णु है और न बुद्धिमान ही। नम हवा में ही वह थोड़ा-बहुत काम दे सकता है। सामान्यतया वह तनिक भी मेहनत नहीं कर सकता। अुसके आहार की तुलना में अुसका अुपयोग बहुत कम है और अधिक श्रम करने से वह मर जाता है। अिसलिये भैंसे का निरर्थक बोझ अुठाने पर भैंस का दूध बहुत महँगा पड़ जायगा। वैद्यक की दृष्टि से भैंस का दूध गाय के दूध के जितना पथ्यकर नहीं है, अिस

बात का भी खयाल रखना चाहिये। अिसलिये भैंस मनुष्य की सेवा में फँस-कर अपने ही वंश पर तथा गाय पर आघात करती है। मनुष्य को तो भैंस पालनी ही नहीं चाहिये थी। जंगल में अुसका जो कुछ होता सो हो जाता। आज भी हमारा धर्म यही कहता है कि भैंस की सेवा और अुससे पैदा होने वाली ज़िम्मेदारी को छोड़ दो, और सिर्फ़ गाय-बैल से ही सेवा लेने में सन्तोष मानो। अुसी में धर्मपालन है।

भैंस की अधर्म्य स्पर्द्धा रोकने के अनेक मार्ग हैं। अुनमें से रामबाण अुपाय यह है कि भैंस के दूध तथा अुससे बनने वाली सभी चीज़ों का हम त्याग करें। अेक बार यह तै कर चुकने के बाद कि भैंस या भैंसे से सेवा नहीं लेनी है, हमें अिस बात से कोअी सरोकार नहीं रहता कि भैंस सस्ती पड़ती है या महँगी, अुसका दूध अधिक पुष्टिकर है या नहीं। गाय के साथ हमारा जो कुछ संबंध है वही क़ायम रहेगा।

गाय और अुसके वंश को अितना अभयदान देने के बाद अुसके दूध की मिक़दार बढ़ाने और अुसे सत्त्वपूर्ण बनाने की फ़िकर हम खुद बखुद करने लगेंगे। अुसका शास्त्र आज बहुत विकसित हुआ है। अुससे हमें पूरी तरह लाभ अुठाना चाहिये।

दूसरी बात यह कि गाय के बारे में आजतक हमने जो अन्याय किया है अुसे याद करके आदर्श गोपालन से होने वाला सारा मुनाफ़ा गाय और अुसके वंश की रक्षा में लगाया जाय। जिस तरह खादी कार्य का अन्तिम आधार संन्यस्त वृत्ति से रहने वाले, परोपकारी, त्यागी और निर्लोभ समाज-सेवकों पर रहता है अुसी तरह गौरक्षा का आधार भी संन्यस्त वृत्ति के गो-भक्त समाजसेवक स्त्री-पुरुषों पर ही रहेगा। यह स्थिति लाने के लिये सभी प्रयत्न होने चाहिये कि मनुष्य का बोझ गाय पर न पड़े और गाय का बोझ मनुष्य पर न पड़े। अगर गाय का दूध लोगों को अधिक से अधिक सस्ता मिलेगा और गाय की अुपयोगिता तथा क़ीमत अुतनी बढ़ जायगी, तो ही गाय निर्भय होगी। यह कितनी शर्म की बात है कि आज गाय को पालने की अपेक्षा अुसे मार डालना

अधिक लाभदायक होता है । अिस स्थिति को बदल डालना चाहिये और दुनिया को अैसा लगना चाहिये कि गाय जैसे क़ीमती जानवर को हलाल करने में आर्थिक दृष्टि से भी हानि ही है।

गाय की नस्ल को सुधारने के प्रयत्न होने चाहिये । अैसे अुपाय खोज निकालने चाहिये कि बछड़े देने की अुसकी शक्ति आखिर तक टिकी रहे । अैसी कोशिशें करनी चाहिये कि गाय के बिना दूध के, खाली दिन जहाँ तक हो सके कम हो जायँ । अिस बात का खास ध्यान रखना चाहिये कि गाय जब तक सूखी न हो जाय तब तक अुसका दूध कम न होने पाये । और अिस बात की भी फ़िक्र रहनी चाहिये कि जिन थोड़े से दिनों में गाय दूध न देगी अुन दिनों अुसका पोषण अच्छी तरह हो और खर्च भी कम आये ।

गाय के दूध के अलावा अुसका गोबर और पेशाब दोनों अुसकी अत्यंत अुपयोगी पैदावार हैं । हम हिन्दू लोग गोमय (गोबर) और गोमूत्र को बहुत पवित्र तो मानते हैं, मगर अुनकी अुपयोगिता को हमने ठीक-ठीक पहचाना नहीं है । खाद के तौर पर हम गोमूत्र का पर्याप्त अुपयोग नहीं करते जितना कि हमें करना चाहिये । गोबर को सुखाकर हम जला डालते हैं या अुसका अिस्तेमाल लीपने में करते हैं । अैसा करने में गोबर का दुरुपयोग और खेती का द्रोह है । खेती के लिये गोबर का अुपयोग करने की कला हमें सीखनी चाहिये ।

[गोबर से लीपी हुअी जगह को हम हिन्दू लोग पवित्र मानते हैं, लेकिन धर्मचुस्त मुसलमान अुसे अपवित्र या नापाक मानते हैं । गोबर से लीपी हुअी ज़मीन पर कट्टर मुसलमान कभी नमाज़ नहीं पढ़ेगा । लेकिन शुद्ध मिट्टी से लीपी हुअी ज़मीन को हम दोनों अेक-सा ही पवित्र मानते हैं—यह बात ध्यान में रखने लायक है ।]

गाय की कुदरती मौत हो जाने के बाद भी अुसका अधिक अुपयोग कर लेने की कला अुसे पालने वाले को आनी चाहिये । गाय की हत्या करना पाप है लेकिन स्वाभाविक या प्राकृतिक मृत्यु को प्राप्त हुअी गाय की

खाल, नाखून, सींग, हड्डियाँ, अँातें अौर गोश्त आदि सभी चीज़ों का कुछ न कुछ अिस्तेमाल करना हमें सीखना चाहिये। मरे हुअे जानवर का गोश्त कभी नहीं खाना चाहिये, क्योंकि अुससे शारीरिक अौर मानसिक स्वास्थ्य का नाश होता है। अुससे जुगुप्सा पैदा होती है, अुसमें कीड़े पड़े हुअे होते हैं अौर अुसके अनेक बीमारियों का घर बन जाने की संभावना रहती है।

स्वाभाविक मृत्यु से मरी हुअी गाय का मांस जमीन में गाड़ देने से अुससे बढ़िया किस्म का खाद बन सकता है। सींगों अौर खुरों से सरेस निकाला जा सकता है। सरेस निकाल लेने के बाद जो रेशे रह जाते हैं अुनसे अच्छे ब्रश बन सकते हैं। अिसी तरह मरी हुअी गाय की खाल को अत्यंत पवित्र मानकर अुसी का अिस्तेमाल करने का आग्रह रखना चाहिये। गाय की हड्डियों अौर खालों का व्यापार आज गो-भक्तों के हाथ में होने से गाय की हत्या बढ़ती जा रही है। यही व्यापार गोसेवकों के हाथ में आ जाने से वह अुतनी ही कम हो जायगी अौर अुस व्यापार से मिलने वाला मुनाफा गौसेवा में ही लगाया जा सकेगा। 'हत्या चर्म' कमाना आसान है, 'मृत चर्म' को कमाने में अधिक कला की जानकारी होना जरूरी है। गौसेवकों को चाहिये कि वे अिस कला को सीखकर अुसे बढ़ायें। सच्चे गौसेवकों को 'मृतचर्म' का ही अिस्तेमाल करने का व्रत लेना चाहिये। अौर अिस तरह हृदयबल, बुद्धिबल, विज्ञान-बल, द्रव्यबल, व्यापार बल, अौर संघबल के संयोग से धर्मनिष्ठ मनुष्य को मनुष्य कुटुम्ब में शामिल हुअे अिस असहाय प्राणी को—गाय तथा अुसकी नस्ल को रक्षण देकर अुसका पालन करना चाहिये।

यह धर्म सिर्फ हिन्दुअों का ही नहीं बल्कि अुन तमाम मनुष्यों का है जिनके गले यह अुतरा है। अिसमें अहिंसा-धर्म अौर मनुष्य-हृदय दोनों का विकास है अौर अिसलिये अुसपर अीश्वर का आशीर्वाद है।

अध्यात्मशास्त्र का यह कहना है कि जिसने अिस धर्म को समझ लिया है वह अगर अुसके लिये पर्याप्त तपस्या करे तो अुस तपस्या के प्रभाव से अिस गौरक्षा-धर्म का सर्वत्र प्रसार होगा।

[२७]

चंदा

हिन्दुस्तान जैसे देश में, जहाँ लोगों के हाथ में पैसा बहुत कम रहता है, जहाँ किसी भी प्रकार का वेतन न लेकर सिर्फ़ पेट भरने के लिये जो कुछ मिले अुतने से अच्छी सेवा करने की धार्मिक भावना हमारे पूर्वजों ने सिद्ध की है और जहाँ धर्मकार्य का वरण किये हुअे प्रत्येक मनुष्य के योग-क्षेम की चिन्ता करने का कर्तव्य समाज ने स्वीकार किया है, वहाँ जहाँ तक हो सके, बड़े-बड़े चंदे जमा करने की प्रवृत्ति टालनी चाहिये। गांधी जी ने अपने निजी अुदाहरण से यह बता दिया है कि स्थायी कोष (फंड) के बिना बड़ी-बड़ी संस्थाओं और विज्ञापन के बिना अखबारों का संचालन कैसे किया जाय। हरिजन-सेवा के लिये हरिजनों से ही सब मदद लेने के दिन अभी नहीं आये हैं, अुनके साथ अन्याय हुआ है, अुन्हें अपने पैरों पर खड़े रहने का मौक़ा नहीं मिला है; अिसलिये हरिजन-कार्य के लिये स्पृश्य समाज को ही मुक्त हस्त से सहायता देनी चाहिये। अैसे अपवाद के प्रसंग छोड़ दिये जायँ तो कहा जा सकता है कि धर्मतः जिन लोगों का सम्बन्ध जिस काम के साथ हो अुन्हीं को बहुतांश में अुस कार्य का खर्च चलाना चाहिये।

जिस तरह घर बनाते वक्त हवा और रोशनी का अच्छा प्रबन्ध करना चाहिये अुसी तरह चंदा जमा करना हो तो अुसके अुद्देश्य का स्पष्टीकरण, प्रचार तथा बिलकुल साफ़-साफ़ हिसाब-किताब—ये तीन बातें ज़रूरी हैं। यह हिसाब बारबार जाँचा जाय और छापा भी हो। फंड के मानी हैं; सार्वजनिक पैसा। वह अैसे खज़ान्ची के हाथ में होना चाहिये जो ग़फ़लत से पैसे में गड़बड़ी हो जाय तो भी, अपना निजी पैसा

लगा कर सार्वजनिक कार्य को नुक़सान न पहुँचने देगा। अैसा होने पर ही लोगों का विश्वास अक्षुण्ण रहेगा। तरुण स्वयंसेवकों को तो चाहिये कि जहाँ तक हो सके, वे अपनी ज़िम्मेदारी पर चंदा अिकट्ठा न करें।

पैसे का ग़बन न हो, दुरुपयोग न हो, अिसलिये अुसपर सूक्ष्म नज़र रखना ज़रूरी तो है, लेकिन कार्यकर्ता व्यवस्थित रूप से तथा किफ़ायत-शारी के साथ खर्च करे तो भी अुसपर बात-बात में दादागीरी चलाकर बिलकुल ही पैसा न छोड़ने की वृत्ति भी संस्था के वरिष्ठ लोगों को नहीं रखनी चाहिये। प्रामाणिकता, हिसाब रखने में नियमितता, किफ़ायतशारी, और दक्षता—अितने गुण रखने वाले सेवक को कभी अैसा नहीं लगने देना चाहिये कि अुसकी अपेक्षा पैसों की कीमत ज्यादा है। पैसे को जरूरत से ज्यादा अिज्जत देने की बनिस्बत यह बेहतर है कि बग़ैर पैसे के रहकर कठिनाअियों का अनुभव किया जाय। सेवक अगर हीनता का स्वीकार करके द्रव्य का संचय या काम का विस्तार बढ़ाये तो वह किसी काम का नहीं। चंदा अुपयुक्त बात तो अवश्य है, लेकिन अितना ध्यान में रखना चाहिये कि पैर का जूता पैर में ही शोभा देता है, अुसे सिर पर नहीं चढ़ाना चाहिये।

जिस तरह सास के बुरे बरताव से बहुअें बिगड़ती हैं, शिक्षक के अनाड़ीपन से विद्यार्थी बरबाद होते हैं, अुसी तरह चंदा जमा करने के शास्त्र का पालन न करने से दान देने वाले लोग बिगड़ते हैं। यह सही है कि अधिक से अधिक पैसा पाना चंदा-भिक्षा की फलश्रुति है, फिर भी अैसे ढंग से काम करना आना चाहिये कि सभी अच्छे कार्यों को तारतम्य के अनुसार आवश्यक सहायता हमेशा मिलती रहे। अिसलिये अिस बात में सावधानी रखनी चाहिये कि दान देने वाले वर्ग को हमारी प्रवृत्ति से अुचित शिक्षा और मार्ग मिले। हमें अपने कार्य का महत्त्व अुस कार्य के लिये दिये हुअे दान से होने वाला प्रत्यक्ष काम और कुल समाज की परिस्थिति आदि बातें दान देने वालों को अच्छी तरह समझा देनी चाहिये। दान देने वाले की खुशामद कभी नहीं करनी चाहिये।

दूसरे कामों की निंदा भी न करनी चाहिये। दान माँगने वालों के लिये यह अुचित नहीं है कि वे दाता को किसी भी तरह के अैहिक या पारलौकिक लाभ का लालच दिखायें और दाता कुछ भी न दें तो निराश होकर चिढ़ जायँ।

बहुत-सी संस्थाओं में मुख्य संचालकों को अपने समय का बड़ा हिस्सा चंदा अिकट्ठा करने में लगाना पड़ता है। अिस वजह से संस्था को सब से अुत्तम सेवकों के सारे समय का लाभ नहीं मिलता। मामूली आदमी चंदा लेने जाता है तो लोग अुसे पैसा नहीं देते—यह समाज का दोष ही है।

फिर संस्थाओं में प्रमुख व्यक्ति चाहे जो हो, और वह चाहे जितने परिश्रम करता हो तो भी जो आदमी संस्था के लिये पैसा ले आता है अुसी का महत्त्व संस्था में दिन-दिन बढ़ने लगता है; अुसी को खुश रखने की कोशिश की जाती है—ये दोनों दोष अेक-से ही खतरनाक हैं। अच्छी संस्थाओं को परिमित प्रचार करने पर ज़रूरी पैसा आसानी से मिल जाना चाहिये।

---

[२८]

स्वदेशी नवविचार

अेक ज़माना था जब विदेशियों की टीका-टिप्पणी से बेचैन होकर तथा यह समझकर कि पुराने ढंग के रहन-सहन के अनुसार चलने में राष्ट्र की हार या गौरवहानि है, मध्यवित्त श्रेणी के लोगों ने अपने जीवन में कुछ हेर-फेर करके बहुत कुछ सुभीता कर लिया और अुसे सुधारों का नाम दिया। सुधारकों के सुझाये हुअे कुछ सुधार सचमुच अिष्ट थे, लेकिन सनातनी या पुराने ढर्रे के समाज ने अुनका कसकर विरोध करने में अपनी बहुत-सी ताक़त व्यर्थ खर्च कर डाली। कोअी भी नयी चीज़ दिखाअी देते ही आशंकित होकर अुसका विरोध करना और अुस नयी शक्ति के साथ दो-चार दाँव-पेच खेलकर अुसका परिचय पाते ही, या अुसका नयापन जाते ही अुसे अपनाना—यह तो मानव-स्वभाव ही है। तत्त्वज्ञों ने यह तै किया है कि प्रथम संयोग, फिर विरोध और अन्त में अेकी-करण—यह जीवन-प्रगति का नियम है। फिर भी अिस बात की तरफ़ ध्यान देना चाहिये कि अिस नियम के कारण सामाजिक शक्ति और प्रजाकीय जीवन के काल का अपव्यय न हो।

पुराने ज़माने के सामान्य सुधारकों ने पुराने के स्थायी जीवन-पोषक तत्त्व नहीं देखे थे और नये के दोष अुनके सामने प्रकट नहीं हुअे थे, अिसलिये अुनमें वह वृत्ति दिखाअी देती थी कि जितना कुछ स्वदेशी है वह सब गँवार, फेंक देने लायक़ है और जितना कुछ विदेशी है अुतना ग्रहण करने योग्य।

पुराने सुधारकों की तीसरी त्रुटि यह थी कि अुनके सभी सुधार मध्य-वित्त वर्ग की सुख-सुविधा के लिये ही सीमित थे। न अुनकी समझ

में यह बात आयी थी, और न गले ही अुतरी थी कि समस्त जनसमाज की ज़िम्मेदारी अुनपर है। अिसलिये सुधार की हर मद के साथ दीर्घोद्योग का आन्दोलन चलना चाहिये, पिछड़े हुओं को आगे लाना चाहिये, समस्त जनता के सवालों को प्रधानता देनी चाहिये—आदि बातें अुनके ध्यान में नहीं आयी थीं।

अब यह युग बदल गया है, अब सुधारक और अुद्धारक का पुराना भेद नहीं रहा है। अब तो भारतीय जीवन-व्यापी तथा आर्य तत्त्वज्ञान का अनुसरण करने वाला सार्वभौम नवविचार देश में फैल गया है, अब विदेशी लोगों की आलोचना का जवाब नहीं देना है; बल्कि स्वकीय जीवन-क्रम के दोष जड़मूल से निकाल देने हैं; दुर्बलों और पराजितों की समाज नीति अलग होती है, और समर्थ स्वातंत्र्योन्मुख राष्ट्र की अलग। आज हमारे यहाँ अिस दूसरे प्रकार की समाज नीति चल रही है। अिसकी शक्ति अमोघ है। अिसका प्रचार अगर सर्वत्र अेक-सा न होगा तो पिछड़े हुअे भागों में दैन्य तथा दुर्बलता बनी रहेगी और हमारी प्रगति क्लेशकारक होगी। अिसलिये नया विचार और अुसका नवजीवन गाँवों के लोगों को नये ढंग से समझाना चाहिये।

हमारे आर्य तत्त्व-ज्ञान के कुछ अुदात्त तत्त्वों को हमारे पूर्वज व्यक्तिगत जीवन में तो लाये, लेकिन सामाजिक जीवन में अुन्हें न आने दिया। हमारा धर्म समानता का सूचक है; वह अेकता की ओर ले जाता है। लेकिन हमारी शास्त्रोक्त समाज-रचना असमानता को ही जीवनतत्त्व समझती है। अिस तत्त्व पर सारे समाज की अिमारत तो हमने खड़ी की, लेकिन जब तक हमने अुसे कृत्रिम रूप से टिकाये रखा तभी तक वह टिक सकी, अब वह चारों तरफ़ से टूटने लगी है। अपनी समाज-रचना में अपने धर्म का मुख्य तत्त्व अब हमें दाख़िल कर लेना चाहिये।

समाज-रचना और अर्थनीति का गठजोड़ा बहुत पुराना है। दुनिया की अिसके बाद की अर्थ-व्यवस्था समानता की नीति की ओर

जाने वाली है। यह परिवर्तन रूस की तरह ज़बर्दस्ती से अर्थात् राज्य-व्यवस्था के ज़ोर पर न करके जीवन परिवर्तन से, धर्म तेज के प्रताप से करना चाहिये। आज का सवाल पुराने रिवाजों को सम्हालने या क़ायम रखने का नहीं किन्तु जिससे हमारे धर्म के प्रधान तथा आर्य तत्त्वों को अमल में लाया जा सके अैसी शिक्षा और अुतना परिवर्तन समाज में दाखिल करने का है। तत्त्वदृष्टि से सोचने और आचरण में परिवर्तन करने की हिम्मत लोगों में लानी है।

अिस नये विचार में अिस नये शास्त्र पर अमल करना है कि सब धर्म समान हैं, सब जातियाँ समान हैं, सब वर्ग समान हैं, सब देवता समान हैं, सब के समय का मूल्य बाज़ार में समान है। ये सब बातें हमारे धर्म में मौजूद तो हैं परन्तु अब राष्ट्रीय जीवन में अुन्हें प्रत्यक्ष रूप से अमल में लाना है। अिन बातों का यथार्थ आकलन जिन्हें हुआ है अैसे लोग कितने हैं? अुनकी तादाद बढ़नी चाहिये, अुनकी शक्ति और निर्धार भी अब बढ़ना चाहिये।

---

[२६]

दो सवाल

सवाल पहला—गाँवों में जनसेवा करनी हो तो शुरू में कौन से काम हाथ में लेने की सलाह आप मुझ जैसे को देंगे ?

जवाब—(अ) गाँव में केरानी तथा दूसरी ज़रूरी चीज़ों की दूकान अच्छी तरह चलाकर लोगों की सेवा का प्रारंभ किया जा सकता है।

माल साफ़, सुथरा, अच्छा और सस्ता यानी ज्यादा मुनाफ़ा न लेकर बेचा जाय। अिस तरह ज़रूरी चीज़ें सन्तोषजनक रूप से मिलनी लगें तो सिर्फ़ अैश व आराम की चीज़ें खरीदने के लिये, अपना अेक दिन खराब करके, शहरों की ओर कौन जायेगा ? जो चीज़ें लोगों के स्वास्थ्य तथा नीति के लिये हानिकर हैं अुनकी खपत अिस तरह आहिस्ता आहिस्ता कम की जा सकेगी।

(आ) लोगों के खत-पत्र वगैरह लिख देने का काम ध्यानपूर्वक और मुफ्त में किया जाय तो अुस तरीके से भी लोगों के लिये अुपयोगी बना जा सकता है। लेकिन यह काम अेक सेवक के लिये पर्याप्त नहीं हो सकता।

(अि) गाँव के बीमारों की शुश्रूषा करने का अेक भी अवसर हाथ से न जाने दिया जाय।

(अी) लोगों को अुनके कपड़े—खास कर बिछाने तथा ओढ़ने के कपड़े—धूप में डालने का महत्त्व समझा दिया जाय।

यह याद रखना चाहिये कि जिस तरह गाँवों की सम्पत्ति और समृद्धि शहरों में चली जाती है, अुसी तरह अुसके पीछे-पीछे गाँवों की

बुद्धिमत्ता, कार्य-कुशलता, और अुसके कारण जिम्मेदारी का प्रवाह भी आप ही आप शहर की ओर ही मुड़ता है, और सिर्फ अज्ञान, आलस्य सुस्ती, संकुचितता और गरीबों की प्रगति रोकने वाली दुर्जनता—अिन्हीं बातों का कचरा गाँवों में रह जाता है। अिस तरह जीवन-कलह विकट और संकटमय होने से निर्दय धूर्तता और दास्यसहज निर्दयता के बलपर गाँवों की दलबन्दियाँ बढ़ जाती हैं। जब समाज दलबन्दियों के भँवरे में फँस जाता है तब अुसका आर्यत्व नष्ट हुआ ही समझना चाहिये।

सवाल दूसरा—सहयोगी पेढ़ियां (कोआपरेटिव सोसाअिटियों) के बारे में आपकी क्या राय है?

जवाब—साहूकार और कर्ज़ का विचार करने के बाद सहयोगी कोठियों के बारे में ज्यादा सोचने की ज़रूरत नहीं रहती। सहयोगी सोसाअिटी की आयोजना का खयाल अच्छा है; लेकिन वह सरकार की मदद से नहीं शुरू होनी चाहिये। लोक जीवन में से ही वह अुगनी चाहिये। अिस बात का ध्यान रखना चाहिये कि गाँवों की पूँजी गाँवों में ही रहे। शहरों की पूँजी गाँव में आकर वहाँ से व्याज लेकर वापस शहर चली जाती है। यह हालत खतरनाक है। यह जितना खराब है कि जमीन का मालिक हमेशा के लिये शहर वाला बन जाय, अुतना ही यह भी अनिष्ट है कि शहर की पूँजी पेड़ पर के बाँदे की तरह गाँवों के कारोबार पर पुष्ट हो जाय। गाँवों में प्रयुक्त होने वाली पूँजी अगर गाँवों में ही स्थायी हो जाय तो वह आशीर्वादरूप बनेगी।

सहयोगी सोसाअिटियाँ जीवन-सोसाअिटियाँ हों, अर्थात् व्यापक अुद्देश्य वाले किसान-संघ बनकर अुनमें जीवन-सम्बन्ध अुत्पन्न हो जाय तो ही परस्पर सहयोग का तत्त्व कामधेनु की तरह फल देगा। अिस वक्त सरकार की तरफ़ से जो मदद मिलती है वह वास्तव में देखा जाय तो सदस्यों की जीवन-शुद्धि, व्यवहार-शुद्धि और अुनके जीवन के ओतप्रोत-पन में से मिलनी चाहिये। अैसा न होगा तो दो साहूकारों में कम सूद पर पैसा देने वाले की पूँजी जिस तरह अचूक डूब जाती है वैसी ही

हालत अिन कोठियों की भी होगी और अिन सोसाअिटियों में लुच्चे लोग घुस जायेंगे। फिर पहले तो वहाँ वसीलेबाज़ी चलेगी और बाद में दग़ाबाज़ी। अिससे सरकारी मदद बेकार हो जायेगी और लोगों का व्यक्तिगत कारोबार खुशामदी लोगों के चंगुल में फँसेगा।

नौकरी या दूसरे कारण से जिनकी आमदनी और खर्च सरकार या वैसी ही किसी बलिष्ठ संस्था के हाथ में होते हैं अुनके लिये परस्पर सहयोग की सोसाअिटियों का नया तरीका सफल हुआ दिखाअी देता हो तो अुसमें कोअी ताज्जुब की बात नहीं।

---

[३०]

गांव और शहर

अगर पानी ज़मीन से आसमान में चला जाय और वहाँ से वापस ही न आये, तो धरती की क्या हालत होगी ? अगर राजा प्रजा से राजस्व (महसूल) ले और प्रजा के लाभ में अुसे प्रयुक्त न करे तो बड़ी से बड़ी अुद्योगी प्रजा भी कंगाल बन जाय तो क्या आश्चर्य ?

राजा और प्रजा, आकाश और धरती अेक-दूसरे पर आधार रखते हैं। शहर और गाँव का सम्बन्ध भी अैसा ही होता है। राष्ट्र का प्राण, राष्ट्र का रक्त देहातों में है। अुसे चलता-फिरता बनाये रखने का काम शहर करते हैं। गाँव नसें हैं और शहर हृदय। अगर हृदय सारा खून चूस ले तो नसें कहाँ तक चल सकेंगी ?

जब देश पर विदेशी हुकूमत चलती है तब अुसका निवास बंदरगाहों और शहरों में ही होता है। स्वाभाविक रूप से—या यूँ कहिये कि अस्वाभाविक रूप से—देश की सम्पत्ति और बुद्धि शहरों में जमा होती है। प्रत्येक विद्वान् और धनवान् मनुष्य शहर में जाकर बसता है और वहाँ बैठे-बैठे देहातों से अपनी आमदनी का पैसा खींच लाता है और अुसे विदेशी चीज़ें खरीदने में खर्च कर डालता है। फिर गाँवों और शहरों के भी अुद्योग-धंधे कैसे चलेंगे ?

होशियार और मालदार लोग जो गाँवों से जाकर शहरों में बसते हैं अुसके बदले में शहरों की तरफ से देहातों को क्या मिलता है ? गाँवों की कारीगरी को जो अुत्तेजन मिलना चाहिये वह तो विदेश को मिलता है। पढ़े-लिखे लोग देहातों को प्रायः अस्पृश्य समझते हैं। शहरों से देहातों में जाने वाले सिर्फ़ दो ही वर्ग होते हैं—विदेशी माल के व्यापारी

और विदेशी सरकार के अफ़सर । अिस हालत का नतीजा क्या हुआ है अिसे सब जानते हैं। जब शहर का आदमी देहात में जाता है तब वह अमीर बनकर जाता है। ग्रामीणों से सेवा लेने और अुनके दोप दिखाने का मानो हर शहर के आदमी को हक़ ही है।

जब से राष्ट्रीय सभा यानी कांग्रेस का आन्दोलन प्रजाकीय हुआ है तब से अिस हालत में कुछ तब्दीली हुअी है। राष्ट्रसभा के प्रचारक और स्वयंसेवक देहातों में जाकर वहाँ के लोगों का सुख-दुःख समझ लेने का प्रयत्न करते हैं, हो सके अुतनी अुनकी सेवा करने की वृत्ति रखते हैं और अुन्हें अिस बात की जानकारी प्रदान करते हैं कि देश की मौजूदा हालत क्या है और अुस हालत में अुनका क्या कर्तव्य है? देहात के लोग आदर के साथ बृहस्पति की तरह अुनका स्वागत करते हैं। अैसे अवसर पर देश-सेवकों को बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिये। शहर का खर्चीला रहन-सहन, गैर ज़रूरी चीज़ें अिस्तेमाल करने की लत, खोटा शिष्टाचार, विदेशी ढङ्ग के प्रति आदर तथा अमीरी वृत्ति लेकर देहातों में नहीं जाना चाहिये। वेगार करके थके हुअे और सहानुभूति के प्यासे, ग्रामवासियों को हमारी ओर से अभयदान मिलना चाहिये। हमारी सेवा करने में भी जहाँ-जहाँ वे अपना स्वाभिमान भूल जायेंगे वहाँ अुन्हें अुनके कर्तव्य का भान कराना चाहिये और अुनसे सीखने जैसा जो कुछ हो अुसे सीख लेने की अुत्सुकता भी दिखानी चाहिये। अिस तरीके से ही हम अुन्हें समानता का सबक सिखा सकेंगे और स्वराज्य का वायुमंडल पैदा कर सकेंगे।

शहरों ने गाँवों के विरुद्ध अब तक जो पाप किया है अुसे धो डालने का यह अेक ही अुपाय है। अुसे अमल में न लाया जाय तो या तो देहात मिट जायेंगे या शहर भूखों मरेंगे; या फिर प्रकृति माता निर्दय बनकर अपने प्राकृतिक अिलाजों से काम लेगी और जिन पापों को अपने पसीने से धोने में हम चूके अुन्हें खून की नदियों से धोना पड़ेगा।

———

[३१]

ग्राम-सेवा किसलिये ?*

गुजरात विद्यापीठ की तरफ से सम्पन्न होने वाले आज के ग्राम-सेवा सम्मेलन में आप सज्जनों का स्वागत करते हुअे मुझे खुशी होती है। यह अिच्छा आज सफल हुआी है कि राष्ट्रीय शिक्षा गाँवों की सेवा का काम हाथ में ले। अितना ही नहीं बल्कि अिस बात से विशेष आनन्द होता है कि गाँवों की सेवा ठोस तरीके से कैसे की जाय अिस बात की चर्चा करने के लिये गुजरात के अनेक सेवकों को अेक जगह लाने का सुअवसर आज प्राप्त हुआ है।

विद्यापीठ की यह प्रतिज्ञा है कि गाँवों की सेवा को, खासकर गाँवों की शिक्षा को अधिकाधिक महत्त्व दिया जाय। अिसलिये अिस तरह के सम्मेलन हम बार-बार करेंगे और अुनमें तरह-तरह की चर्चाअें करेंगे। हर साल ज्यादा गहराअी में पैठेंगे और चर्चा के बाद कुछ न कुछ अमली कार्रवाअी भी करेंगे। आज तो अिसी बात का थोड़ा-सा वर्णन करना चाहता हूँ कि देहात के साथ मेरा गठबंधन कैसे हुआ।

मैं शहर में पैदा हुआ, शिक्षा भी मैंने शहर की पायी और आज भी शहर में ही रहता हूँ। फिर भला गाँवों की सेवा का अितना आग्रह मैं क्यों रखता हूँ? अिसी का कुछ विस्तृत-सा कारण यहाँ पेश करना चाहता हूँ।

शहर में रहने वालों के कुछ रिश्तेदार तो गाँवों में होते ही हैं।

---

* ता० ११ अप्रैल १९३१ ई० को ग्राम-सेवा सम्मेलन के अवसर पर दिया हुआ अभिभाषण।

हम चाहे जितने शहरी हों तो भी हमारी जड़ें कहीं न कहीं देहातों में पहुँची हुअी होती ही हैं। अिसलिये साल दो साल में देहात में जाने का मौका हम सबको मिलता ही है। वहाँ अनुभव होता है कि गाँवों का रहन-सहन जुदा है और शहरों का जुदा। शहर में चालाकी ज्यादा होती है, जब कि देहातों में कहीं भी देखिये, भोलापन ही दिखाअी देता है। प्रथम दर्शन में तो अैसा खयाल होता है कि शहर के लोग अधिक अुद्योगी होते हैं और गाँवों के लोगों के पास फिजूल में खर्च करने के लिये चाहे जितना समय रहता है।

स्वयं मुझे देहात का जो प्रथम स्मरण है अुसमें मुख्य बात यह आती है कि गाँवों में फल मुफ्त खाने को मिलते हैं, मुफ्त में गाड़ी में बैठकर जाया जा सकता है, शाम को ढोर दौड़ते हुअे आते हैं और धूल के बादल चारों ओर फैला देते हैं, रात को लोग अलाव के पास बैठकर घास-फूस जलाते तथा हुक्का पीते हैं। हमारे गाँव में अेक तरफ़ कालेश्वर का टूटा-फूटा मन्दिर था। अुसके सामने बरगद का अेक पुराना, बूढ़ा किन्तु विस्तीर्ण वृक्ष था। अुस वृक्ष के नीचे शिव जी के कअी लिंग, नाग खुदे हुअे पत्थर और अिसी तरह के दूसरे देवता धूल खाते हुअे पड़े थे। शिवरात्रि के दिन हम जाकर कालेश्वर की पूजा करते और मन्दिर के बाहर पड़े हुअे देवताओं पर भी थोड़ा-थोड़ा जल डाल कर अक्षत चढ़ाते थे।

अिस तरह के दृश्यों के काव्यों का तो मैंने बहुत अनुभव किया है। छुट्टी के दिनों में प्रेमल रिश्तेदारों की मेहमानदारी का अनुभव करने के लिये गाँवों में जाने का दिल भी होता, लेकिन गाँवों के प्रति भक्ति तो कभी पैदा न हुअी थी। अेक बार स्वामी विवेकानन्द जी की अेक अुक्ति देखने में आयी 'दि नेशन लिव्ज़ अिन दि कॉटेज' यानी 'राष्ट्र तो झोंपड़ों में रहता है।' और तुरन्त ही सारी दृष्टि में परिवर्तन हो गया। पहले तो शक हुआ कि क्या सचमुच ही देश की बड़ी आबादी देहातों में ही रहती है? मर्दुमशुमारी के आँकड़े देखने की बात नहीं

सूझी; लेकिन निजी अनुभव से जवाब मिला कि हाँ, देश में शहरों की अपेक्षा देहात ही अधिक हैं। जब हम रेल की लम्बी मुसाफरी करते हैं अुस वक्त अेक के बाद अेक छोटे-बड़े अनेक गांव नज़र के सामने से गुज़रते जाते हैं तब कभी जाकर अेकाध शहर दिखाअी देता है। फिर हमारे शहर भी तो बहुत बड़े नहीं हुआ करते।

रेल की मुसाफरी शुरू होने से पहले की बैलगाड़ी की मुसाफरी याद आयी। अुसमें भी दिन-रात जब कअी देहात पार करते हैं तब किसी दिन कोअी शहर नज़र आता। शहर में तरह-तरह की चीजें ख़रीदने की सहूलियत जरूर ज्यादा रहती है, लेकिन रहने-सहने और आदमियों की मदद हासिल करने की सहूलियत तो सिर्फ देहातों में ही मिल सकती है। अिसलिये बैलगाड़ी की मुसाफरी से धुँधले तौर पर कुछ अैसा ख़याल बन गया था कि गाँवों का वातावरण घर-जैसा है, जब कि शहर का बाज़ार-जैसा है। अेक बार जब एक साधु ने मुझसे यह कहावत कही कि 'आ पड़े क़हर तो भी छोड़ना नहीं शहर' तब अुस साधु के प्रति और वह कहावत बनाने वाले के प्रति मेरे मन में कुछ समभाव पैदा नहीं हुआ। मन में विचार आया, 'शहर की सुविधाओं में अितनी दिलचस्पी लेने वाला यह आदमी साधु बना ही किसलिये? जहाँ वैद्य नहीं है, वहाँ न रहना, जहाँ बाज़ार न हो वहाँ न रहना, जहां बातें करने के लिये पंडित लोग न हों वहाँ न रहना, कुग्रामवास से तो मौत अच्छी, आदि अुक्तियाँ शहर के हिमायतियों ने कअी बार कही हैं, फिर भी हम लोगों ने अन्त में देहात की संस्कृति को ही पसन्द किया है। दरबारी कवि कालिदास को भी लोगों की शहर के प्रति नफ़रत का ख़याल था। अिसी लिये अुसने कण्व के शिष्यों के मुँह से अिस प्रकार राजधानी का वर्णन कराया है कि जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव।

और दूसरे शिष्य के मुँह से भोग-विलासी शहरियों के प्रति की घृणा को बहुत ही कठोर शब्दों में प्रकट कराया है : मुक्त मनुष्य कैदियों की ओर जिस तरह देखता है, जागने वाला सोने वालों को जिस तरह देखता है,

साफ़-सुथरा आदमी गंदे आदमी के बारे में जो खयाल रखता है, या नहाया-धोया हुआ सज्जन तेल से सने हुअे कपड़े और शरीर वाले आदमी के पास आने से जिस नफ़रत का अनुभव करता है, वैसी ही हालत अिन विलासी शहरियों को देखकर मेरी हुअी है।'

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध अिव सुप्तम्
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसंगिनमवैमि ॥

राजधानियों में तो गुणीजन रहते हैं। गाना-बजाना, नाच-तमाशा आदि सब चलता है। मेघदूत में कालिदास ने अुज्जयिनी का जो वर्णन दिया है वह चाहे जितना काव्यमय क्यों न हो, लेकिन हम तो अुस तरह की समाज-स्थिति नहीं चाह सकते।

अिस तरह धीरे-धीरे गाँवों और शहरों में मन ही मन तुलना होने लगी। अितने में पश्चिमी अर्थशास्त्र मदद के लिये आया। अुसने बताया कि देहात और शहर दोनों आवश्यक हैं। अेक दूसरे के पोषक हैं, पूरक हैं। अुसमें भी शिक्षा, सम्मान-शिष्टाचार, कला और हुनर तथा सेना व धन की दृष्टि से शहरों की सामर्थ्य के प्रति आदरभाव बढ़ने लगा। महत्त्वाकांक्षा की दृष्टि से यह स्थिति अिष्ट मालूम होने लगी कि पाटलीपुत्र जैसी अेक राजधानी सारा साम्राज्य चलाये, दिल्ली के हाथों में देशविदेश का भाग्य खेलता रहे। पेट्रिक गेडिस जैसे संस्कृति के अभ्यास के अिस पक्षपात को दृढ़ करने लगे; लेकिन फिर यह शक पैदा हुआ कि साम्राज्यों को अच्छा ही किसलिये समझा जाय? यह सही है कि साम्राज्य शक्तिशाली होते हैं, अितिहास में शोभा देते हैं, साहित्यिक अुनके गुण गाते हैं, विदेश के लोग अुनके डर से काँप अुठते हैं और वैभव तथा विलास की संस्कृति साम्राज्यों के साये में ही फलती-फूलती है, लेकिन अिस बात का यकीन कौन दिला सकता है कि साम्राज्यों में जनता सुखी, निर्भय, नीतिमान और धार्मिक होती ही है? स्वराज्य और साम्राज्य परस्पर-विरोधी आदर्श हैं। मन में यह धारणा जम गयी कि जनता को सुखी बनाना हो तो साम्राज्यों का नाश करना ही चाहिये

हमारे साहित्य में साम्राज्यों के बखान आते तो जरूर हैं, लेकिन अगर हम अपने अितिहास की जाँच करें तो हजारों बरस के हमारे राष्ट्र-जीवन में सभी साम्राज्यों ने कुल मिलाकर बड़ी मुश्किल से छः सौ से हजार बरस का काल-विभाग व्याप्त किया है। यह देखकर यह विश्वास बढ़ गया कि हमारी प्रजा की हड्डियों में साम्राज्य नहीं बल्कि स्वराज्य है। देहात की संस्कृति के अिस देश में यह ठीक भी है। जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे राजा राज्य करते हैं और प्रजा का रंजन करके सन्तोष मानते हैं। जातक कथा के राजा देखिये या पंचतंत्र के। गाड़ी में बैठकर घूमते हैं। गाड़ी किसी तंग गली में आ जाती है तो सारथी वाद-प्रतिवाद करने लगते हैं। राजा जब दान देते हैं तो करोड़ कौड़ियाँ देते हैं। हमारे यहाँ के नम्बरदार, मुखिये, मालगुज़ार, जमीनदार आदि लोगों की तरह ये राजा जब अीर्ष्या से भर जाते हैं तब आपस में लड़ते हैं, और नहीं तो आमतौर पर शिकार खेलते और मज़े में दिन बिताते हैं। प्रजा को राजनैतिक जीवन की तो पड़ी ही न थी। कभी कभी कोअी महत्वाकांक्षी राजा जाग अुठता है तो घोड़ा (यज्ञ का अश्व) छोड़ता है और सम्राट बन जाता है।

अैसे साम्राज्य की कल्पना भी कहाँ से आयी? अेक ने लिखा है कि जब परशुराम ने ब्राह्मणों के स्वाभाविक संगठन के बलपर क्षत्रियों को अिक्कीस बार हरा दिया तब क्षत्रियों को लगा कि चलो, हम अपना संगठन करें। अेक को सम्राट बनायें और बाकी सब मांडलिक बनें।

तो फिर अैसे बड़े राज्य अच्छे या छोटे अच्छे? अिसका जवाब सम्राट नेपोलियन के अेक वाक्य में मिलता है। 'वी युनाअिट टु स्ट्राअिक अेंड सेपरेट टु लिव' यानी जहाँ चढ़ाअी की नीति अख्तियार करनी हो वहाँ बड़े-बड़े संगठन बनाओ और जहाँ केवल जीने का सवाल हो वहाँ अलग-अलग रहो। जिन्दा रहने के लिये बड़े संगठनों की आवश्यकता नहीं है, अिकट्ठा होने की जरूरत नहीं है, जितने फैल जायँ अुतने सुरक्षित हैं। अिस बात का अनुभव हमारे मराठों के अितिहास

में मिलेगा। हमारे 'गनिमी कावा' यानी असंगठित लड़ाओी (गुरिल्ला वारफेअर) की रचना अिन्हीं तत्त्वों पर हुआी है। जब हमला करना हो तब जमा हो जाओ, जब जान बचानी हो तो तब तितर-बितर हो जाओ।

अिस पर से हम अहिंसा का यह सिद्धान्त निकाल सकते हैं कि हिंसा का रास्ता लेना हो तो ही बड़े-बड़े संगठन करने पड़ते हैं। मनुष्य स्वभाव अैसा है कि जब बहुत से लोग जमा हो जाते हैं तभी अेक दूसरे को देखकर शक्ति का अनुभव करते हैं। लेकिन अिसके मूल में कायरता है। शिकारी लोग अपने-अपने खेतों में दूर-दूर रहते हैं और अपनी रक्षा स्वयं ही करते हैं। लेकिन नगर-संस्कृति में आस पास के पहाड़ों और दीवालों से रक्षा की अपेक्षा रहती है। नगर शब्द का अर्थ मैं अिस तरह करता हूँ: नगैः पर्वतैः रक्षितम्। अिस बात की बढ़िया मिसाल यह है कि मगध देश की राजधानी गिरिव्रज से बदलकर राजगृह हो गयी। हम आज तो डराने की अिच्छा रखनेवाली भयभीत संस्कृति के आदी बन रहे हैं। हमारा यह स्वभाव बन गया है कि क्या शहर, क्या गाँव, क्या गलियाँ, क्या कूचे, सभी ज़गह हम भीड़ में रहते हैं, झुण्ड बनाकर चलते हैं। देहातों की यह संस्कृति सच्ची नहीं है। आदर्श स्थिति तो यह समझी जायेगी कि साम्राज्य केवल धर्म के हों, कल्पना के हों, आदर्श के हों, सामाजिक मान्यताओं के हों; लेकिन दुन्यवी अंकुश तो हरगिज़ अितना व्यापक नहीं होना चाहिये। मनुष्य जहाँ-तहाँ अपना अिन्तजाम कर ले। राज्य हों ही किसलिये ? म्युनसिपालिटियाँ काफी होनी चाहिये। और वे भी छोटी-छोटी, अेक ही जगह काम करने वाली। जब कोओी बड़ा पुरुषार्थ करना हो तब फेडरेशन बनाओ, संघ कायम करो। जितना हृदय विशाल होगा, जितनी हृदय की अेकता होगी अुतना ही संगठन अच्छा है। अिससे बड़ा संगठन करने जाते हैं तो स्वतंत्रता खत्म होती है, जोहुक्मी या तानाशाही आ जाती है। अिस तरह के बड़े साम्राज्य भारतवर्ष में प्रस्थापित हुअे तो

सही, लेकिन जनता का सहयोग न मिलने से वे टूट भी गये। हमारी जनता स्वराज्यवादी है, न कि साम्राज्यवादी, भारतवर्ष विशाल है, भारतीयों का हृदय विशाल है, ग्रुनकी दृष्टि परलोक तक पहुँचने वाली है। हमने संस्कृति के, धर्म के साम्राज्य की स्थापना की। ग्रितना ही नहीं बल्कि ग्रुसे बहुत ही मजबूत बनाया। लोग खुशी से आर्थ कल्पना के, धार्मिक आदर्श के वशीभूत होते आये हैं। लोक-हृदय को भाने वाली वह वस्तु है। हृदय का सहयोग मिलने से धर्म के साम्राज्य दृढ़-मूल हो गये। राजनैतिक साम्राज्य तो तभी टिके हैं जब ग्रुनके पीछे किसी बड़े पुरुषार्थ की कल्पना होती थी। लेकिन जनता को केवल साम्राज्य पसन्द नहीं आये। हमारी ग्रामीण संस्कृति स्वराज्य चाहती है, स्वतंत्रता चाहती है, साम्राज्य नहीं चाहती। यह अहिंसा का खास लक्षण है।

—२—

जब मैं कालिज में पढ़ता था तब बंगभंग की जागृति के दिन थे। नरम-गरम आदि सभी दलों की चर्चा हम करते थे। कालिज के दिनों में सामाजिक ग्रुत्तरदायित्व कम से कम रहता है और ग्रिधर चर्चा का सर्वज्ञपन आया हुआ होता है। अतः वहाँ हिन्दुस्तान के ग्रुद्धार का मार्ग निश्चित किये बिना कैसे चल सकता है? हम में से बहुतों को बम का रास्ता ग्रुचित लगता था। आकर्षक तो वह होता ही है। ग्रिसलिये हमेशा ग्रुसकी हिमायत करने वाली ही बातें हम किया करते। षड्यंत्र रचना, शिवाजी की तरह सरकारी खजाने लूटना, लोगों को जंगल में जमा करके वहाँ ग्रुन्हें कवायद सिखाना, विदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर शस्त्र प्राप्त करना और अनुकूल समय आते ही अंग्रेजों का राज्य ग्रुखाड़कर फेंक देना आदि विचार और आयोजनाग्रें हमारे सामने आतीं। गाँव वालों में स्वतंत्रता की ग्रिच्छा स्वाभाविक होती है। हम यह मानकर चलते थे कि ग्रुन्हें ग्रुनकी स्थिति का ज्ञान न करा दिया जाय तो वे आसानी

से बगावत करने के लिये तैयार हो जायेंगे। अेक दिन महाराष्ट्र से बाहर के अेक मेहमान हमारे यहाँ आये थे। हमने अुनके साथ चर्चा करना शुरू किया। वे सज्जन बड़े चालाक थे। हमारे साथ शाम को घूमने निकले। रास्ते पर कुछ देहातियों को देखकर अुन्होंने कहा, 'अिन देहातियों को अपने खयालात समझाअिये और अुन्हें अपने पक्ष में कीजिये, तो मैं मानूँगा कि आपका रास्ता सही है।' हमने देश की गुलामी, स्वतंत्रता लक्ष्मी का वैभव, अंग्रेज़ों के छलकपट आदि कअी बातें अुनसे कहीं। वे देहाती लोग शिष्टाचार के लिये सिर हिलाते तो जाते थे, लेकिन अुनकी समझ में न आता था कि अेकाअेक हम अुनसे वह सब क्या कह रहे थे। अुनके मुँह से यही भाव झलकता था कि मानो वे अितना जानना चाहते थे कि 'आखिर आप कहना क्या चाहते हैं? आप हमसे किस बात की अपेक्षा रखते है?'

अुस दिन मालूम हुआ कि गाँवों के लोगों और हमारे बीच बड़ा समुद्र-सा पड़ा हुआ है। अेक प्रान्त के होने के कारण हम अेक भाषा तो बोलते थे, लेकिन अुतने से अपने हृदय की बात अुन्हें समझाने की शक्ति हम में नहीं थी। अिसका क्या अिलाज? बहुत से व्याख्यान सुना देते तो वे लोग हमारी बात ज़रूर समझ जाते, लेकिन सिर्फ़ समझ जाने से कोअी मरने को तैयार नहीं होता। अुसके लिये अुच्च चरित्र की ज़रूरत है। सिर्फ़ बुद्धिवाद से लोग तैयार होने वाले नहीं हैं। ग्रामीण लोगों के हृदय तक हम पहुंचे ही नहीं हैं। यह विश्वास हो गया कि हृदय प्रवेश तो सेवा से ही हो सकता है न कि दलीलों से और लोक-जागृति किये बिना राजनैतिक क्रान्ति की आशा रखना तो मृगजल के पीछे दौड़ने के समान है। सच्ची तैयारी तो जनहृदय की है। जनता की अखण्ड सेवा से ही यह हृदय-कमल विकसित किया जा सकता है। दूसरा कोअी रास्ता नहीं है।

यानी अिस रास्ते से भी आखिर हम गाँवों की सेवा की तरफ़ ही आ पहुँचे। लेकिन वह हो किस तरह? अिस बात का खयाल तो था

कि देहातों का अर्थशास्त्र अलग होता है। लेकिन गाँवों के लोगों के लिये कौन सी शिक्षा जीवित समझी जाय ? हमारी यह परेशानी किसी तरह कम न हुआी कि अुन लोगों को यह किस तरह समझाया जाय कि हिन्दुस्तान का अितिहास अुनका ही अितिहास है। यह तो तभी हो सकता था जब हम गाँवों में जाकर रहें और वहाँ के लोगों के सुख-दुख के साथ हिलमिल जायँ। लेकिन गाँवों में जाया कैसे जाय ? शहरी बातों का मोह कैसे छूटे ? अखबारों के बग़ैर तो हमारा नहीं चल सकता। पुस्तकालय (लािअब्रेरियाँ) और डिबेटिंग क्लब तो चाहिये ही। अिस तरह के कअी खयाल परेशान करते थे। जहाँ-जहाँ अनुकूल क्षेत्र मालूम हुआ वहाँ-वहाँ जाकर हमने राष्ट्रीय शिक्षा के प्रयोग किये और ग़रीबों की आह का सन्देश पहुँचाया। लेकिन राष्ट्रीय शिक्षा से लाभ अुठाने वाले लोगों में प्रतिष्ठा और आजीविका का सवाल ही प्रधान दिखाअी दिया। ग़रीबों की सेवा के लिये तैयार होने को कोअी राज़ी न था। ग़रीब लोगों से हमें लड़ाअी में काम लेना था, मगर अुन्हें तालीम देने का रास्ता हमारे पास न था। नीग्रों के नायक बुकर टी. वाशिंग्टन की जीवनी पढ़ी थी, अिसलिये तरह तरह के विचार तो मन में आते थे लेकिन ठीक-ठीक रास्ता नहीं सूझता था। मुझे अिस बात से तो बड़ा दुख हुआ कि राष्ट्रीय विद्यालय में शिक्षा पाये हुअे विद्यार्थियों में से भी देहातों में जाकर रहने के लिये कोअी तैयार न होता था। आखिर अिन सब बातों का मन में विवेचन तथा चिन्तन करने के लिये हिमालय का रास्ता पकड़ा। वहाँ के छोटे-मोटे देहातों में भिक्षा माँगकर जीविका चलायी। लेकिन भाषा के अभाव में प्रचार कार्य अधिक न हो सका। फिर भी देश की स्थिति को अच्छी तरह समझ लेने का मौक़ा तो ज़रूर मिला। दिन में दो बार अलग-अलग जगह ग़रीबों की रोटी खानी पड़ती थी, अिसलिये मन में यह संकल्प दृढ़ हुआ कि असंख्य ग़रीबों के पसीने की रोटी पर अिस देह का निबाह हुआ है, यह ग़रीबों की सेवा में ही काम आनी चाहिये। ग़रीबों के वैभव से हमारा वैभव अलग नहीं होना चाहिये।

लेकिन यह शक्ति कहाँ से आये ? जब किसी तरह का भान न था, तब सुख, सुविधा और ऐश्वर्य में दिन गुज़र गये, और जब भान हो गया तब जन समुदाय से अलिप्त रहने का शोक लग गया। अिसलिये जिसकी भक्ति मन में प्रस्फुरित हुई थी अुस ग़रीब-वर्ग के हृदय तक पहुँचने की कला तो थी नहीं, अन्त में वापस आकर ग़रीबों में रहने का प्रथम प्रयास गुजरात में ही किया। शहरी गुजराती भी ठीक तरह से नहीं आती थी तो फिर देहात की जनता की भाषा कैसे आ सकती थी ? महज़ व्यवहार जितनी भाषा आ जाय तो भला वह किस काम की ? जहाँ जीवन-परिवर्तन कराना हो, सामाजिक रिवाजों की शुद्धि करनी हो, अितिहास या राजनैतिक स्थिति समझानी हो वहाँ सिविल सर्विस के लोगों के जितना देशी भाषाओं का ज्ञान कहाँ तक चल सकता है ? बड़ौदे के पास सयाजीपुरे में देहात में रहने का प्रयोग करके देखा। लेकिन अनुभव हुआ कि लोगों के हृदय तक पहुँचना मेरे लिये आसान नहीं है। वहाँ मेरे साथ जुगतराम भाअी थे। अुन्होंने तो तुलसी-रामायण खोली और अपना वायुमंडल जमाया। मैंने देखा कि जो काम मुझसे नहीं होता वह मुझे अपने साथियों या विद्यार्थियों द्वारा कराना होगा। जिस तरह दुन्यवी आदमी 'आत्मा वै पुत्र नामासि' के न्याय से अपनी सभी अिच्छाओं अपने पुत्रों द्वारा पूरी हुई देखना चाहता है अुस तरह प्रत्येक समाज-सेवक अपना काम अपने जवान साथियों को सौंप देता है। फिर अध्यापक के लिये तो पुत्ररूप कअी विद्यार्थी होते हैं। सयाजीपुरे में जो अनुभव हुआ अुसपर से यह तै किया कि अब देहात के सेवक तैयार करने का स्कूल खोलना चाहिये। मेरे अेक मित्र ने बुकर टी. वाशिंग्टन की किताब 'माअि लार्जर अेडयुकेशन' का अनुवाद किया था। अुसने मुझसे अुसके लिये प्रस्तावना माँगी। मैंने अुत्साह में आकर सारी पुस्तक के लिये अेक भूमिका और अुसके अलावा प्रत्येक अध्याय के लिये अलग-अलग प्रस्तावनाओं लिख दीं। अुससे ग्राम सेवा की कल्पना अधिक स्पष्ट हुई। साथ ही असन्तोष भी जाग अुठा कि 'मैं

प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी नहीं करता।' ग्राम संगठन की दृष्टि से 'ग्राम देवता' नाम का अेक लेख अुससे पहले लिखा था। वह लेख भी बीच-बीच में अुलहना देता था कि 'अभी तूने कुछ भी नहीं किया।' अन्त में गांधी जी ने आश्रम के अन्तर्गत अेक राष्ट्रीय शाला चलाने का निश्चय किया और मुझे अुसमें बुलाकर काम करने का मौक़ा दिया। मैंने गांधी जी से कहा, 'देहात के सेवक तैयार करने हों तो ही मैं आअूँगा।' गांधी जी ने हँसकर कहा, 'अिसीलिये तो मेरा सारा प्रयास है।' आश्रम में स्कूल खोलकर हम राष्ट्रीय शिक्षा की चर्चा करने लगे। फिर भी अिस बात का स्पष्ट कार्यक्रम नज़र के सामने न था कि देहातों को किस चीज़ की ख़ास ज़रूरत है।

अेक बार गांधी जी का सन्देशा लेकर दरबार गोपालदास जी के ढसा गाँव की अंत्यज-परिषद में अुपस्थित होने का मौका मिला। वहाँ तो अैसा वायुमंडल दिखाअी दिया मानो वह जमुना जी के किनारे बसा हुआ नन्द जी का गोकुल ही हो। अितना प्रजावत्सल राजपुरुष शायद ही देखने को मिलेगा। यह विश्वास हो गया कि गाँव के लोगों में हिल-मिल जाने का यही मार्ग है। दूसरी तरफ़ आबू पहाड़ी की मुसाफ़री पैदल करते वक्त देहातों के जो दर्शन हुअे वह दुःखद थे। लोगों में न सफ़ाअी थी न शिक्षा थी, न किसी तरह की व्यवस्था। सिर्फ परंपरागत जातपाँत के प्रपंच का सर्वत्र साम्राज्य था। लेकिन अिससे भी अेक खास बात मैंने यह देखी कि लोगों में सच्चे धर्म पर विश्वास ही नहीं रहा है, सज्जनता पर का विश्वास कम हो गया है; मानवजाति अुकता गयी है; अगर अुसका अिलाज न होगा तो वह अुत्तेजित होने वाली है।

अिसके बाद महाविद्यालय की स्थापना हुअी और विद्यापीठ बना। मैंने अिस बात की बहुत कोशिश की कि अुसमें ग्रामीण शिक्षा को प्रधानता मिले, औद्योगिक शिक्षा को कुछ स्थान मिले और जनसेवा के लिये ज़रूरी जानपद भाषा का विकास करने के प्रयत्न हों। फिर भी मेरा ध्यान तो साहित्य, संगीत और कला की ओर ही अधिक था। मुझसे

मेरे विद्यार्थी अधिक अच्छे निकले क्योंकि श्री परीक्षित लाल जैसे तो हरिजनों की सेवा में लग गये। मेरे पुराने साथी श्री मामा फड़के की मिसाल मेरे सामने थी ही। लेकिन ग्राम सेवा का असली रहस्य तो श्री रविशंकर व्यास ही जानते थे। अनसे परिचय होते ही अनकी शक्ति का खयाल आ गया। वह सब अच्छा तो लगता था, लेकिन शहर के संस्कार, शहरी सुविधाअें और शहरी प्रवृत्तियाँ दिमाग़ के बड़े हिस्से को रोके रखती थीं। ग्राम सेवा को शाब्दिक महत्त्व तो खूब दिया जाता था, लेकिन अससे गाँवों का दुख दूर होने वाला नहीं था।

शहरी प्रवृत्ति का अेकाअेक त्याग करके देहात में जा बसने वाले शिक्षाशास्त्री हैं हमारे जुगतराम भाअी। वेडछी का अनका काम देखते ही मैंने अनके विद्यार्थियों को लिख दिया कि सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा तो आज वेडछी में ही दी जाती है। फिर तो यही लगन लग गयी कि अैसे सेवक किस तरह तैयार किये जायँ। विद्यापीठ के विद्यार्थी पढ़ाअी के बाद सेवा और आजीविका के मार्ग तो खोजते ही हैं। किसी खानगी कंपनी में अन्हें नौकरी दिलवा देने या अपनी विविध सार्वजनिक प्रवृत्तियों में अन्हें चाहे जहाँ खपा लेने के बजाय ग्राम सेवा की ही अेक संपूर्ण योजना यहाँ क्यों न बनायी जाय?—अिस तरह के विचार दिमाग़ में चक्कर काटने लगे।

सन् १९२२ अीसवी में आणन्द में राजनैतिक परिषद हुअी थी। असके साथ अेक शिक्षा-सम्मेलन भी हुआ था। वहाँ मैंने ग्रामीण शिक्षा की बहुत हिमायत की। सरदार वल्लभ भाअी ने अपने स्वभाव के अनु-सार असपर यह आलोचना की कि 'विद्यापीठ को ही देहातों में ले जाअिये।' अनके परिहास ने मुझपर अुलटा ही असर किया। मुझे लगा कि वल्लभ भाअी की बात सही है, विद्यापीठ को देहातों की यात्रा करानी चाहिये। अगर अध्यापक और विद्यार्थी गाँवों में घूमेंगे तो अन्हें नया-नया अनुभव मिलेगा। देहातों के सवाल अनके सामने प्रत्यक्ष होंगे, अनकी पढ़ाअी ज़िन्दा होगी। गाँवों की सेवा के लिये शहर के नौजवानों

को खींचने के हेतु शहर में रहना पड़े तो अुसमें कोअी हर्ज नहीं; लेकिन विद्यापीठ की प्रवृत्तियाँ तो ज्यादातर युवकों को देहातों की ओर भेजने की ही होनी चाहिये। आज हुआ यह है कि श्री वल्लभ भाअी तो गाँवों में जाकर बैठे हैं और मैं अभी शहर में ही हूँ।

देहातों का आयोजन मस्तिष्क में पक्का होने लगा था कि अितने में दानवीर नगीनदास अमुलखराय अेक लाख रुपियों की भेंट ले आये और अिस तरह मैं ग्राम सेवा मन्दिर की कल्पना को मूर्त-स्वरूप दे सका।

अब आप देख सकते हैं कि अेक कल्पना को पकते हुअे कितनी देर लगती है। अभी हम विभिन्न देशों और प्रान्तों के अनुभवों की किताबें पढ़ने और अुसपर से अपनी दिशा निश्चित करने की स्थिति में हैं। अभी कितना ही कार्य बाकी है, आज तो सिर्फ प्रारंभ हुआ है। अैसे अवसर पर विचारों का आदान-प्रदान हो, अनुभव और दिक्कतें पेश की जावँ, अिसलिये अिस सम्मेलन का आयोजन किया गया है। स्वय यही अेक अभिनन्दन की बात है कि अिस तरह के सम्मेलन का आयोजन हो सका है।

अब हम देख सके हैं कि भारतवर्ष का अुद्धार अुसके साढ़े सात लाख देहातों के जिन्दा होने पर आधार रखता है। ये छोटे-छोटे गाँव ही भारतवर्ष की सच्ची संस्कृति है। अेक सामान्य प्राण से प्राणित होकर स्वतंत्र रूप से देहात चलते हैं; अुसके लिये किसी खास संगठन या आर्गनाअिज़ेशन की ज़रूरत नहीं है। आज का यह सबसे बड़ा मोह है कि हर संस्था को बड़ी व्यापक बुनियाद पर चलाया जाय। अैसे आर्गना-अिज़ेशन के खिलाफ आवाज़ बलन्द करने वाले अेक कृष्णमूर्ति ही निकले हैं। अुन्होने सारी दुनिया में फैली हुअी अेक बड़ी संस्था को, जिसके मातहत तीन विश्वविद्यालय (युनिवर्सिटियाँ) चलते थे, अेक दिन में तोड़ डाला।

दुन्यवी कार्यों में संगठन भले ही किया जाय, लेकिन आध्यात्मिक सिद्धान्तों को जीवन में अुतारने के लिये संगठन की कोअी ज़रूरत नहीं

है। बड़े-बड़े सङ्गठन बग़ैर हिंसा के चल ही नहीं सकते। हम तो अहिंसा के मार्ग पर चलना चाहते हैं। हमें बड़े-बड़े सङ्गठन बनाने ही नहीं चाहिये।

आज की यह प्रधान आवश्यकता है कि सद्बुद्धि से प्रेरित सारी दुनिया के लोग अेक ही दिशा में काम करें। लेकिन अुसके लिये सबको अेक तंत्र के नीचे लाने की ज़रूरत नहीं है। हमें यह समझ लेना चाहिये कि विशाल तंत्र के नीचे आत्मिक विकास कुचल जाता है। जीवन जितना अेक रूप होगा अुतना संगठन धर्म्य है। आज दुनिया में शोषण या अेक्स्प्लाअिटेशन की दृष्टि से संगठन किये जाते हैं। अिसका विरोध होना चाहिए। अिस तरह की साफ़ कल्पना होगी तो हम गाँवों की सच्ची सेवा कर सकते हैं। पहले दिशा निश्चित हो जाय तो अुसके बाद ही हम ब्यौरे के बारे में सोच सकेंगे। अैसे व्यापक तत्त्वों की चर्चा करने जितनी फ़ुरसत हमारे पास भले ही न हो, लेकिन अुन पर समय समय पर सोच-विचार तो करना ही चाहिए।

अब हिन्दुस्तान में चारों तरफ़ ग्राम सङ्गठन की बातें चलने लगी हैं। यह अेक ख़ास फैशन-सा बन गया है। अुसके साथ गहरी चर्चा और ठोस कार्य न होगा तो वह चीज़ घटोत्कच के माया बाज़ार-जैसी साबित होगी और गाँवों की जनता फिर अेक बार निराशा में डूब जायगी। गाँवों का सवाल हमने छेड़ा है; अब तो अुसे हल करना ही होगा।

---

[३२]

गांवों के पुनर्जीवन का सवाल

[देहातों के पुनरुज्जीवन के सवाल पर विस्तृत निबन्धमाला लिखनी थी; मगर अुतनी फ़ुरसत न मिल सकी। अिसलिये यहाँ अुन बातों का सूचक अेक नोट देकर ही सन्तोष मानना पड़ता है। यह नोट तैयार करने में मेरे मित्र श्री नरहरि परीख, जिनके साथ मैंने लोक-जीवन के अंग प्रत्यंग की अहर्निश चर्चा की है, का अेक कामचलाअू नोट मेरे हाथ में था, अुसीका अुपयोग किया गया है।]

१. गरीबी

कारण: (१) पूँजी और सार-सम्हाल के अभाव में खेती की अुपज बिलकुल कम हो गयी है।

(क) खराब औज़ार।

(ख) जानवरों की कमज़ोरी।

(ग) ज़रूरत से कम खाद।

(घ) अच्छे बीजों के चुनाव का अभाव।

(ङ) सालहों साल अेक ही चीज़ की खेती करना।

(च) ज़रूरत के मुताबिक़ पानी न मिलने की वजह से हेर-फेर करके यानी अेक के बाद दूसरी चीज़ बोने के बारे में लापरवाही।

(छ) पास में हमेशा पैसे न होने और ब्याज पर अुधार रुपया मिलने की ठीक व्यवस्था न होने के कारण खेती के महत्वपूर्ण और आवश्यक काम अुचित समय न होना।

(२) अितने छोटे-छोटे खेत कि जिनमें मुनाफ़ा रहना सम्भव ही न हो। (नफ़ा होने जितनी खेती की व्याख्या यह है कि सामान्य कुटुम्ब

का भरण-पोषण अुससे चले तथा बैलों की अेक जोड़ी को साल-भर के लिये काम मिल सके। अैसे खेतों को लाभप्रद खेत या 'अेकानामिक होल्डिंग' समझना चाहिये।)

(३) कुटुम्ब में हिस्से करने से या अैसे ही दूसरे कारणों से खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाना। अैसे टुकड़ों से समय बरबाद होता है और जिस तरह फूटे हुअे बरतन में से बहुत सा पानी निकल जाता है अुसी तरह बहुत सी मज़दूरी बेकार चली जाती है।

(४) खेती की ज़मीन का बहुत ज्यादा हिस्सा अैसे अुच्च वर्ग के लोगों के हाथ में होना जो खुद खेती नहीं करते।

(५) अैसी ज़मीन की तरफ़ आमतौर पर ध्यान नहीं रहता। अैसी ज़मीन को जोतने वाले किसान को अुस पर अपना स्वामित्व महसूस न होने से अुसकी अच्छी तरह देख भाल करने का अुत्साह अुसमें शायद ही रहता है।

अूपर बतलाये हुये कारणों से खेती का खर्च बढ़ता हैं और अिस लिये खेती के धंधे में मुनाफ़ा नहीं रहता।

अिसका अुपाय है अूपर बताये हुअे कारणों को दूर करना।

२. क़र्ज़

किसानों का क़र्ज़ आमतौर पर जितना मालूम पड़ता है अुससे कहीं ज्यादा है। ब्रिटिश हिन्दुस्तान (यानी रियासतों को छोड़कर) के किसानों का क़र्ज़ छै सौ करोड़ से अेक हज़ार करोड़ तक होने का अन्दाज़ा है। अिस प्रकार कर्ज़ का बोझ प्रति ऐकड़ ३० से ४० रुपये तक पड़ता है।

अिस के कारण :—

(१) सामान्य कुटुम्ब में आय-व्यय का मेल नहीं खाना; यानी खर्च के जितनी आमदनी नहीं होती।

(२) गाँवों में चलने वाले अुद्योग-धन्धों का नाश, जिससे—

(क) साल के चार-पाँच महीने किसान को मजबूरन् बेकार रहना

पड़ता है। अिसका मतलब यह नहीं कि चार-पाँच महीने बिलकुल काम ही नहीं होता। लेकिन सात महीनों में हो सके अितना काम आहिस्ता आहिस्ता चलकर साल भर में पूरा हो जाता है। बेकारी के दिन कम या ज़्यादा सारे साल में बँट जाते हैं। अैसा न होता तो किसान मज़दूरी के लिये चार-पाँच महीने क़स्बे या शहर में हो आता। पर आज जो स्थिति है अुसमें किसान को खेती में पूरा काम नहीं रहता और वह खेती को छोड़ भी नहीं सकता, अैसी कठिन स्थिति हो गयी है।

(ख) पूरा काम न होने से किसान शहर के और विदेशी पूँजी-पतियों के चंगुल में फँस जाता है। हमेशा से दबा हुआ होने के कारण अुसे अुनकी लादी हुअी सभी शर्तें माननी पड़ती हैं; और अिस तरह अुसका शोषण किया जाता है।

(ग) बेकारों की संख्या बढ़ने से अुन सबका बोझ ज़मीन पर चढ़ता है।

(३) सरकारी महसूल की मात्रा हद से ज़्यादा होती है और अुसे वसूल करने का ढङ्ग कठोर और निर्दय है। फिर खेती की पैदावार घर में पहुँचने से पहले ही महसूल अदा करने की तारीख़ रखी जाती है।

(४) तम्बाकू, अफ़ीम, गाँजा, ताड़ी, शराब आदि व्यसन।

(५) मुक़दमेबाज़ी

(६) साहूकारों के व्याज की भारी दर और अुनका झूठा व्यवहार। दर भारी होने के कारण तीन हैं।

(क) क़र्ज़ दी हुअी रक़म डूबने का डर।

(ख) गांवों की बहुत-कुछ पूँजी का शहरों में चला जाना।

(ग) हिन्दुस्तान के धन का स्राव (Drain)

अिस विषय में नीचे लिखी बातों पर ध्यान देने की ज़रूरत है:—

(१) किसानों की रक्षा के लिये बनाये हुअे सब सरकारी क़ानून असफल रहे हैं। अितना ही नहीं बल्कि अिन कानूनों से किसानों की हालत अुलटे बदतर हो गयी है।

(२) सरकार की तरफ से किसानों को दी जानेवाली।

(३) सहयोगी समितियों (कोआपरेटिव् सोसाअिटियों) का कारोबार और असके नतीजे।

(४) अिज्जतदार और प्रामाणिक साहूकारों का गाँवों में अभाव। अच्छे साहूकार या तो गाँव छोड़कर शहरों में चले गये हैं या सच्चे महाजन-धर्म का त्याग करके पैसा जमा करने वाले सूदखोर बन गये हैं।

अिसके साथ ही महाजनी की स्थानिक स्वदेशी पेढ़ियों यानी कोठियों और सच्ची साहूकारी के पुनर्जीवन की संभावना के बारे में सोचना चाहिये। 'रूरल बैंक्स' यानी जमीन गिरवी रखने वाले बैंकों की स्थापना होने से किसानों को कितना लाभ होने की सम्भावना है अिस पर भी विचार करना चाहिये।

(७) रुपये-पैसे के मामले में कुटुंब को गढ़े में डालने वाले सामाजिक रीति-रिवाज।

शादी-ब्याहों में होने वाला दहेज और दूसरा खर्च, मरणोत्तर ओसर-मोसर, औरत खरीदना आदि बारे में किया जानेवाला खर्च परिवार की पुरानी या काल्पनिक प्रतिष्ठा के अनुसार होता है। लेकिन आज की आर्थिक स्थिति अिसका भार नहीं अुठा सकती। अिसलिये कितने ही परिवार क़र्ज़दार बनकर मिट्टी में मिल गये हैं।

(८) शीत-ज्वर (मलेरिया) और अैसी ही दूसरी बीमारियों में कुटुम्ब के कितने ही आदमी मर जाते हैं और अिस संख्या के दस गुना लोग मर न भी जाते हों तो कम से कम खेती के काम के लिये बेकार जरूर हो जाते हैं।

अिलाज:—

(१) खेती को सुधारा जाय।

(२) गाँवों के व्यवसायों का पुनर्जीवन हो।

(३) किसानों को अुनकी परिस्थिति और खासकर अुनकी आर्थिक

परिस्थिति की जानकारी प्रत्यक्ष अंकों से सबूत दिखलाकर यथार्थ रूप से दी जाय।

आम तौर पर अूपर बताये हुअे कारणों को दूर करना चाहिये।

(४) साथ ही किसानों पर आज जो क़र्ज़ है अुसे छूट देकर और किस्तें बाँधकर बेबाक़ करना चाहिये।

(५) अिस बात की जाँच होनी चाहिये कि खेती न करने वाले अुच्च वर्ग के खातेदारों और जमीनदारों का असल में जमीन पर कितना अधिकार है, और फिर अिस अधिकार पर भारी अंकुश लगना चाहिये, ज़मीन के मालिकों पर अुसके स्वामित्व के अधिकार के साथ अुचित जिम्मेदारी भी डालनी चाहिये।

३. देहातों के अुद्योग-धंधे

(१) *खादी* :—अनिवार्य बेकारी को दूर करने का सार्वभौम और अकसीर अिलाज।

(२) *पशुओं की देख-रेख और सार-सम्हाल* :—किसानों ने यह व्यवसाय लगभग छोड़ ही दिया है। भैंस रखने का रिवाज बढ़ जाने से दूध-घी तो ज़रूर मिलते हैं लेकिन खेती-बाड़ी के कामों के लिये ज़रूरी बैल घर पर पैदा नहीं होते। पाँड़ों का बहुत उपयोग न होने से अुनका बहुत ध्यान नहीं रखा जाता और वे बचपन में ही मर जाते या मार डाले जाते हैं। भैंस के बदले अच्छी गायें पाली जायँ तो घर में दूध-घी मिलने के अलावा घर पर ही बैल पैदा होंगे। आज-कल बैल अधिकाधिक महँगे होते जा रहे हैं, अिसलिये अच्छे बैल खरीदना मामूली किसान के बूते से बाहर हो गया है।

(३) *कुम्हार का धंधा* :—टिन की चादरें विदेशों से आने लगने की वजह से घर के छप्पर और घर में अनाज वगैरह माल रखने के साधन अुसके बनाये जाते हैं। अिसके फलस्वरूप कुम्हार का धन्धा बैठ गया है और अुन लोगों को आजीविका के लिये खेती के धन्धे में

लग जाना पड़ा है। अिस तरह ज़मीन पर का बोझ बढ़ गया है।

(४) *चमड़े की कमाअी का धंधा* :—अिस धन्धे में बहुत सुधार करने की ज़रूरत है, ये सुधार हो जायँ तो गाँवों में मोची चमार आदि का जीवन सुधरे, गौरक्षा को मदद मिले और अुससे किसानों का भी लाभ हो।

(५) *कपास से बिनौले लोढ़ने और तेलहनों से तेल निकालने का धन्धा* : कारख़ाने (जिन) क़ायम होने के बाद से देहातों के यह धन्धे नष्ट होने लगे हैं।

अगर हर किसान के लिये तेल की घानी अपने घर पर रखना मुमकिन न हो तो बहुत से किसानों को अेक सम्मिलित घानी रखनी चाहिए। अपने घर के बैल या पाड़े के द्वारा अुसे चलाना चाहिये और घर के तिलहनों का तेल तथा खली घर पर ही निकालनी चाहिये। घर की ज़रूरतें पूरी होने के बाद जो माल बचे अुसे बेच दिया जाय। अिस तरह यह काम मिलों की बनिस्बत सस्ता पड़ेगा, क्योंकि कच्चा माल, साधन, मज़दूरी, देख-रेख सब कुछ घर का ही होगा।

(६) *कुटाअी-पिसाअी* : चावल कूटने और आटा पीसने की मिलें शुरू होने से कूट-पीसकर पेट भरने वाली स्त्रियों के मुँह का कौर छिन गया है और अिस धन्धे की जगह अुन्हें दूसरा धन्धा न मिलने से मौत की राह दिखाने जैसी हालत हो गयी है।

(७) *खेती और माल का आवागमन* : पानी निकालने के पम्प, ज़मीन जोतने के ट्रैक्टरों और मोटरों के ट्रकों (खटारों) के कारण गाँव का माल लादकर ले जाने का धन्धा मिट गया है, और अिससे खेती के लिये रखे हुअे बैलों का ख़ाली दिनों का खर्च भी खेती पर ही पड़ता है। खेत में मज़दूरी करने वाले किसान और बैल दोनों पर अनिवार्य बेकारी आ पड़ने से खेती के धन्धे में ज़रा भी मुनाफ़ा नहीं रहा है। बल्कि यह धन्धा अैसा हो गया है जिसमें अुलटे अपनी जेब से निकाल कर पूर्त्ति करनी पड़ती है।

कृत्रिम छत्तों से शहद निकालने, बाँस के काम, रेशम की अुत्पत्ति, कसीदा, जरी का काम आदि घरों में हो सकने वाले कितने ही धन्धों का भी विचार हो सकता है।

४. सफाओी और स्वास्थ्य

(१) घर और कुओं-तालाब के आस-पास की गन्दगी और कीचड़ हटा देनी चाहिये।

आज की हालत तो यह है कि हम खुली जगह में टट्टी जाकर मल को मिट्टी से नहीं ढँकते, अिसलिये वह हवा और पानी दोनों को दूषित करता है। अिस स्थिति में सुधार करने से सफ़ाओी और स्वास्थ्य दोनों सुधरेंगे। अिसके अलावा बहुत कीमती खाद मिलेगा सो अलग!

(२) दीये के लिये मिट्टी के तेल वाली डिबियाँ (चिमनियाँ) अिस्तेमाल करने से तेल बहुत ज्यादा खर्च होता है, कपड़े खराब होते हैं, धुआँ पेट में जाने से स्वास्थ्य बिगड़ता है, कभी-कभी आग भी लग जाती है और सबसे बड़ा नुकसान यह है कि अुससे आँखें खराब हो जाती हैं। लेकिन आज तक किसी ने अिस तरफ़ ध्यान नहीं दिया है, बल्कि अिसके बरखिलाफ़ लोग कहते हैं कि 'आजतक किसी का नुकसान न हुआ, सो अब ही कहाँ से होने लगा?'

(३) घरों में साफ़ हवा, पानी और काफ़ी रोशनी का कोओी अिन्तज़ाम नहीं होता, अिसलिये प्रजा दिन-दिन क्षीण-सत्त्व होने लगी है। लोगों के फेफड़े कमज़ोर होते जा रहे हैं। कहीं कहीं तो अैसे दम घुटने वाले घरों में ढोर और आदमी अेक ही जगह सोते हैं।

(४) गाँवों में जगह-जगह गढ़ों में पानी भरा रहने की वजह से मच्छरों और शीत-ज्वर की तकलीफें बढ़ी हैं। अिन पानी के गढ़ों को पूर देना चाहिये। अस्थायी अिलाज यह है कि गढ़ों में पानी के अूपर खूब मिट्टी का तेल छिड़क दिया जाय। जमे हुअे स्थिर पानी पर

प्राक्कथन ल
चि० द्वा० दे
उपकु
दिल्ली विश्ववि

मच्छरों के जो अण्डे रहते हैं, मिट्टी के तेल से वे मर जाते हैं।

(५) हाथों में, पैरों में और नाक कान में हमेशा गहने पहने रहने से वहाँ मैल जम जाता है और फिर गन्दे रहने की आदत पड़ जाती है।

(६) ओढ़ने-बिछाने के कपड़े, घर का सामान, घरबार आदि साफ़-सुथरा रखा जाय। शरीर की सफ़ाई की तरफ़ भी ध्यान दिया जाय।

५. ग्राम पंचायत

आइन्दा हिन्दुस्तान का जो भी शासन या राज्य-व्यवस्था हो, उसमें गाँव को ही शासन की मूल इकाई (यूनिट) समझा जाना चाहिये। साथ ही गाँव को उसका अपना कारोबार खुद ही चलाने की आज़ादी रहनी चाहिये। इसमें कोई शक नहीं कि प्रान्तों का पुनर्निर्माण भाषा-क्रम से ही होगा। आज के ज़िले और ताल्लुके तो मनमाने बनाये गये हैं। उनके बनाने में किसी मौलिक सिद्धान्त से काम नहीं लिया गया है। लेकिन भविष्य में प्रान्तों के विभाग हवा, पानी और ज़मीन की समानता के लिहाज़ से किये जाने चाहिये। ये प्रादेशिक विभाग अपने खर्च के लिये अपनी कमाई में से पचहत्तर फ़ीसदी अपने पास रखकर प्रान्तिक सरकारों को पचीस फ़ीसदी यानी रुपये में चार आने देंगे। इन प्रादेशिक विभागों का व्यवस्थातंत्र कैसा हो और उनके क्या क्या काम रहें इसकी चर्चा का यह स्थान नहीं है। यहाँ तो सिर्फ़ ग्राम-पंचायतों का ही काम बताया जायगा।

(१) न्याय-विभाग पंचायत को सौंप दिया जाय। पेचीदा मामलों में विभागीय सरकार की मदद लेने में हर्ज नहीं, लेकिन अमूमन गाँवों के सब मुल्की न्याय पर पंचायत की पूरी हुकूमत रहे। फ़ौजदारी मामलों के लिये खास मैजिस्ट्रेट नियुक्त करने में हर्ज नहीं, किन्तु उन्हें भी ग्रामपंचायत की मदद लेनी होगी।

(२) गाँव के चौकी-पहरे और पुलिस का बन्दोबस्त ग्रामपंचायतों के ही अधीन हो।

(३) गाँवों के लड़के-लड़कियों के स्कूल ग्राम पंचायत के अधीन हों। हरेक स्कूल के साथ अखाड़ा तो होना ही चाहिये।

साक्षरता और संस्कारिता का प्रचार लोगों में होना चाहिये, आजकल तो ऐसा दिखाई देता है कि जिस मात्रा में अक्षरज्ञान बढ़ता है उसी मात्रा में संस्कारिता उलटे संकुचित होती जाती है। इसके बजाय जन-शिक्षा यानी संस्कारिता बहुत विशाल और व्यापक होनी चाहिये।

अन्य विविध प्रश्न

(१) अस्पृश्यता-निवारण।

(२) स्त्रियों का दर्जा बढ़ाना।

(३) किसान-मज़दूरों की हालत आज लगभग आश्रितों—अर्ध गुलामों (Serf) जैसी है, उसे बदल कर उन्हें आर्थिक और सामाजिक सामर्थ्य दिलाना चाहिये।

(४) बालविवाह। खाली कानून से काम न चलेगा, इसके लिये लोकमत को शिक्षित करना चाहिये।

(५) धर्मसंस्करण—भ्रामक मिथ्याविश्वासों (वहमों) और धर्मान्धता आदि धार्मिक पागलपनों को दूर करके धार्मिक आदर्श, धार्मिक संस्था, संस्कार और रिवाज आदि सब का संस्करण यानी पवित्रीकरण होना चाहिये।

---

[३३]

गांवों में जाकर हम क्या करें ?

—१—

सवालः—हमने असहयोग तो कर दिया, अब हमें देहातों में काम करने के लिये कब भेजेंगे ?

जवाबः—आप गाँवों में जाने के लिये जितने अुत्सुक हैं अुससे कहीं अधिक आपके नेता आपको वहाँ भेजने के लिये अुत्सुक हैं। लेकिन गाँवों में भेजकर आप से जो काम लेना है अुसके महत्त्व और गंभीरता को वे अच्छी तरह पहचानते हैं, अिसीलिये आपको अुस खास काम की तालीम देने का वे आग्रह रखते हैं।

सवालः—देहातों में जाकर हमें क्या क्या करना पड़ेगा ?

जवाबः—क्या करना चाहिये वह तो थोड़ी देर बाद कहेंगे, लेकिन पहले यह जान लीजिये कि आपको वहाँ क्या नहीं करना चाहिये।

सवालः—खैर वही कहिये। हमें क्या नहीं करना चाहिये ? हम खुद ही कह देते हैं कि आपको यह डर रखने की ज़रूरत नहीं है कि गाँवों में जाकर हम लेक्चरबाज़ी करेंगे। भाषण सुनसुन कर हम अितने बेज़ार हो गये हैं कि हमारी अुत्तेजन शक्ति भी लगभग भुथरी होने आयी है। हमने यह भी देखा है कि नेता भाषण देते हैं अिसलिये जो भी आता है वह भाषण ही देने लगता है। सुना है कि नेता लिखने लगने हैं तो लोग भी अखबारों में ढेरों लेख भेज देते हैं। नेता कहते हैं कि 'अब भाषण देने का वक्त नहीं रहा है, तो लेक्चरबाज़ भी कहने लगते हैं कि 'अब बातें करने का वक्त नहीं रहा है; अुठकर काम करने का

समय आ पहुँचा है।' लेकिन असली काम तो बीच में ही लटकता रहता है।

जवाब:—आपका निरीक्षण सही है। अैसा तो होता ही है। यह देखकर कि आप देहातों में जाकर दो-चार भाषण देकर दो दिन में मशहूर नेता बनना नहीं चाहते, सच्चे नेताओं की आधी फिक्र कम होगी।

सवाल:—तो क्या आप यह समझ बैठे थे कि हमने अपनी जो पढ़ाई छोड़दी वह जनता के पैसों से भाषण देते हुअे घूमने के लिये? असहयोग की पवित्रता हममें भी कुछ आ गयी है, हम भी आत्मशुद्धि की ओर मुड़े हैं। अगर आप कहें तो हम सिर्फ़ स्वराज्य फंड यानी चंदा जमा करने का ही काम करेंगे।

जवाब:—आपको यह जान लेना चाहिये कि यह काम बड़ा नाज़ुक है। बगैर जान-पहचान के लोग पैसे देने में हिचकिचाते हैं, पुराने चन्दों में पैसे का गोलमाल होने की मिसालें पेश करते हैं। अिस तरह की झंझटें पैदा हो जायँ तो वह स्थिति विशेष स्पृहणीय नहीं होती।

सवाल:—तो फिर हमें क्या करना चाहिये?

जवाब:—नेताओं ने जो चन्दे शुरू किये हों और जिनका काम आप पर सौंप दिया गया हो अुतना ही आपको करना चाहिये। दूसरे कोअी सज्जन आपके सामने कोअी बढ़िया विचार पेश करें और अुसके लिये चन्दा देने को तैयार हो जायँ या चन्दा जमा करने की सिफ़ारिश करें तो आपको चाहिये कि आप वह विचार अपने नायकों के सामने रखें या अुन सज्जन को नायकों के पास जाने को कहें। फ़िलहाल तो अितना ही काम है कि कांग्रेस की समितियों में लोगों के नाम दर्ज करना यानी अुन्हें काँग्रेस के मेम्बर बनाना और अुन्हें बाकायदा रसीद देना। यह काम अेक मामूली क्लर्क भी कर सकता है, फिर भी वह काम आपको सौंपने में नेताओं का खास अुद्देश्य है। जिस व्यक्ति को आप सदस्य बनायेंगे अुसे कांग्रेस का अुद्देश्य और विधान समझाने का कार्य आपको करना होगा। आप जो काम अच्छी तरह कर सकते हैं अुसमें

लोगों पर छाप डालने के लिये आपको जिस विषय के बारे में काफ़ी या बिलकुल ज्ञान न हो अुसके बारे में चाहे जो बातें नहीं बनानी चाहिये। लोगों की चित्तवृत्ति को अुत्तेजित करने का काम आपका नहीं है। आपको तो अपनी स्पष्टता और विचारों की प्रामाणिकता का ही असर लोगों पर करना है।

सवालः—लोगों को देशस्थिति की जानकारी देते समय दिमाग को ठण्डा रखना तो कुछ मुश्किल-सा है। फिर भी मुझे अैसा लगता है कि आप के अितना कहने के बाद हम अितना संयम ज़रूर रख सकेंगे। अिससे ज्यादा तो कुछ नहीं है न?

जवाबः—है, हमारी प्रवृत्ति आत्मशुद्धि की है, प्रायश्चित्त की है, अिसलिये सिर्फ़ सरकार के दोष और पाप ही लोगों को बतलाना काफ़ी नहीं है। देश की दुर्दशा में हमारा अपना भी कितना हिस्सा है अुसका भी खयाल लोगों को दिलाना चाहिये—फिर वह लोगों को अच्छा लगे या न लगे। यह काम बहुत ही सावधानी और नरमी से होना चाहिये वरना स्वराज्य का काम अेक तरफ़ रहकर समाज में झगड़े पैदा होंगे। निर्वैर हुअे बिना, रागद्वेष पर काबू किये बिना अिस काम को हाथ में लेना खतरनाक है। सरकार के दोष भी सचमुच अुचित और अचूक भाषा में हम तभी कह सकेंगे जब हम निर्वैर हो जायेंगे। हमारी भाषा में जोश भले ही हो, मगर रोष नहीं होना चाहिये।

सवालः—यह तो भाषा और भाषणों के बारे में हुआ, लेकिन काम करते समय क्या क्या नहीं करना चाहिये?

जवाबः—आप जवान हैं, फिर भी शिक्षित तो हैं ही; अतः अुन बहुत सी बातों के बारे में, जो कि नहीं करनी चाहिये, आप जानते ही हैं। लेकिन अेक बात खास कहने लायक है। देश में अन्याय और जुल्म अितना और अितने प्रकार का है कि आप जहाँ भी जायेंगे, लोग आपके पास अपनी स्थानीय या व्यक्तिगत शिकायतें ले आयेंगे और आपसे सलाह या मदद माँगेंगे। अैसे समय यह डर अवास्तविक नहीं

है कि आपका पुण्य प्रकोप जागृत होगा और आप स्वयं ही न्याय देने बैठ जायेंगे, तथा अहिंसा के स्वरूप अेवं सार्वजनिक जीवन के तत्त्वों व मर्यादाओं को भूलकर गलत सलाह देंगे। हो सकता है कि अपनी शक्ति, अपनी बुद्धि और अपने अधिकारों के बारे में आपका अन्दाज़ा ठीक न हो। यह भी संभव है कि आप कअी बार दयाभाव से सहायता देने जायेंगे और स्थानिक झगड़े-फिसादों और प्रपंचों में अुलझ जायेंगे या जात-पांत की तकरारों में फँस जायेंगे। यह भी ध्यान में लेना चाहिये कि जात-पाँत की तकरारों में बातों से झुंझला अुठें या चिढ़ जायँ और आपकी स्वराज्य-निष्ठा कम हो जाय तो आपका कितना नुक़सान होगा।

सवाल:—तो फिर अैसे मौक़ों पर हमें क्या करना चाहिये? अैसे मौके तो गाँवों में आयेंगे ही।

जवाब:—आपको चाहिये कि अिस तरह के झगड़े आप वहाँ के स्थानीय नेताओं के पास भेज दें। और अुतनी जल्दी से, जितना कि आप चाहते हैं, अगर वे कुछ कार्रवाअी न करें तो आपको बेताब नहीं होना चाहिये, या तुरन्त ही अश्रद्धा के शिकार बनकर अैसे निर्णय पर नहीं पहुँचना चाहिये कि वे नेता कुछ भी नहीं करते; वे नालायक़, स्वार्थी, पक्षपाती या भावनाशून्य हैं। आप अितना याद रखें तो काफ़ी है कि नेता चाहे जैसे हों, लेकिन अुस समय आप नेता नहीं हैं। आपके दिल को अितनी तसल्ली काफ़ी होनी चाहिये कि आपने अपना फ़र्ज़ अदा किया। अिस मर्यादा का अुल्लंघन करना अेक तरह की अंधाधुंध है।

सवाल:—अब मैं समझ गया। अब तक यह सब हमारे ध्यान में नहीं आता था। अब अितना तो हम समझ गये हैं कि बहरहाल सिपाही की तरह बताया हुआ काम ही अपनी बुद्धि-शक्ति का अुपयोग करके हमें करना चाहिये; दूसरी बातों में हम अपना दिमाग़ न खपायें। अब यह बताअिये कि गाँवों में जाकर हमें क्या करना चाहिये।

जवाब:—हाँ, लेकिन आज तो अब सूत कातने का वक्त हो गया है। कल अिसी समय अिस सवाल की चर्चा आगे चलायेंगे।

—२—

सवाल:—आज आप यह कहेंगे न कि देहातों में जाकर हमें क्या करना चाहिये ?

जवाब:—क्या वह देहातों की हालत को समझे बिना निश्चित हो सकता है ? और निश्चित किया भी जाय, तो भी क्या अुसपर अमल किया जा सकता है ? गाँवों की स्थिति, जैसा कि आप समझते हैं, काव्य-मय नहीं होती, लगभग सौ बरस से अच्छे-अच्छे लोग देहातों से शहरों में जाकर बस रहे हैं और गाँवों का अनाज तथा दूसरी पैदावार शहरों में जाकर बिकने लगी है। अुसके पैसे भी शायद ही पूरे-पूरे देहातों में जाते हैं। अिसलिये देहातों से बुद्धि और सम्पत्ति का जो स्राव अब तक चला है अुससे देहात टूटते जा रहे हैं और लोगों के स्वभाव पर भी अुसका बुरा असर हुआ है।

सवाल:—अिसके मानी मैं नहीं समझा। आप क्या कहना चाहते हैं ?

जवाब:—बात यह है कि पुराने जमाने में प्रायः सभी जमीनदार गाँवों में ही रहते थे। फ़िलहाल देहात की ज़मीनों के मालिक ज्यादातर शहरों में रहते हैं। अुनके लड़के शहरों में ही पढ़ते हैं। अपने लिये ज़रूरी चीजें वे शहरों में ही ख़रीदते हैं। ये चीजें ज्यादातर विदेशी होती हैं। गाँवों का पैसा, जो कि गाँवों में ख़र्च होना चाहिये, और अिससे पहले खर्च होता भी था, वह अब शहरों में खर्च होता है। और वह भी असल में शहरों की मारफ़त विदेशों में ही चला जाता है, वही अगर देहातों में ख़र्च हो जाय तो वहाँ कअी अुद्योग-धन्धे चल सकते हैं। अैसा होने से गाँवों के होशियार लोग गाँव छोड़कर शहरों की ओर बढ़ते जाते हैं। पहले तो अपने गाँव के ज़मीनदारों के घरों में नौकर की हैसियत से और बाद में मिलों में।

सवाल:—हाँ, यह बताअिये कि मिलों का देहातों पर क्या असर होता है ?

जवाबः—वह तो कहूँगा, लेकिन पहले मुझे यह बात खत्म करने दीजिये। देहातों से ज़मीनदार, होशियार लोग, और गाँव का धन अिस तरह हर साल शहरों की ओर खिंचा जाता है। अिसलिये आज देहातों को पांडु रोग या क्षय रोग लग गया है। और अिसलिये जिस तरह बीमार आदमी चिड़चिड़ा और ओछे मन का बन जाता है अुस तरह गाँवों के लोग अनुदार और संगदिल बनते जा रहे हैं।

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥

सवालः—आप तो दरिद्रता की स्तुति करते हैं। ग़रीबी में आपको स्वर्ग दिखाअी देता है। क्या वह यही स्वर्ग है ?

जवाबः—यह बिलकुल सही है कि वह ग़रीबी जिसका स्वीकार जान बूझकर, स्वेच्छा से, किया गया है स्वर्ग के समान है, मोक्ष की सीढ़ी है। और यह तो आ पड़ी हुअी अेवं अमर्याद दरिद्रता है। यह तो नरक के समान है। अकाल में भूखे रहने से अेकादशी का व्रत रखने या अुपवास का पुण्य थोड़ा ही मिल सकता है ?

अब आप मिलों का सवाल ले लें। यह बहुत बड़ा है। किसी दिन विस्तार के साथ अिसकी चर्चा करेंगे। आज अितना ही कह देता हूँ कि गाँवों के लोग मिल मज़दूर होकर शहर का थोड़ा सा धन देहातों में ज़रूर ले जा सकते हैं; लेकिन ज्यादातर मिल मज़दूर देहातों में वापस जाते ही नहीं, मिल-मालिक यही चाहते हैं कि अुनके मज़दूर 'मुल्क' या 'देस' न जाकर हमेशा मिलों के पास ही रहें। बम्बअी के मराठा मज़दूर बरस में अेक बार कोंकण जाते हैं। अिसकी भी शिकायत वहाँ के मिल-मालिक करते हैं। लेकिन मज़दूर देहातों में जितना धन ले जाते हैं अुससे ज्यादा तो शहर की गंदी बातें ही ले जाते हैं। दिवान बहादुर अंबालालने 'शान्तिदास' नाम की अेक छोटी सी कहानी लिखी है। क्या आपने वह पढ़ी है ? न पढ़ी हो तो अुसे पढ़ जाने की मैं आपसे सिफ़ारिश करता हूँ।

सवालः—यह सब तो समझ में आ गया। अब यह बताअिये कि देहात के लोगों के स्वभाव में जो यह परिवर्तन हुआ है अुसकी वजह से हम जो स्वराज्य का काम देहातों में करना चाहते हैं अुसपर कैसा असर होने की सम्भावना है?

जवाबः—शराबी और क़ानूनों आदि के अज्ञान के कारण देहात का आदमी हमेशा भयभीत दशा में रहता है, और अिसलिये डरकर अुसके अधीन रहता है जिसके हाथ में कुछ भी सत्ता होती है। यह देखने की अपेक्षा कि अपना हितकर्त्ता कौन है, वह यह देखता है कि अैसा कौन है जो अुसका नुक़सान कर सके, और फिर वह अुसीकी पनाह लेता है। सरकार की नीति यह है कि गाँवों के किसानों को वहाँ के साहूकारों और बनियों के हाथों से छुड़ाकर अपने ही चंगुल में फँसा लिया जाय। अतः सरकार ने अेक के बाद अेक अैसे क़ानून बनाये हैं जिससे देहात के बनियों को लोगों के साथ सीधा व्यवहार या लेन-लेन चलाना ही मुश्किल हो जाता है, फिर भी अिस तरीक़े से तो बनियों को देहातों से नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि अुनके बग़ैर देहातों का काम नहीं चल सकता। जैसा कि सरकारी अफ़सर बताते हैं, ये बनिये कोअी शैतान या 'शाअिलॉक' नहीं हैं, और अगर वे वैसे बन भी गये हों तो वह वर्तमान की बुराअियों के कारण बने हैं। आज बनिया सरकारी अफ़सर को खुश रखता है और लोगों से तरह-तरह के दस्तावेज़ लिखा-कर अपने धंधे की जड़ें मज़बूत बनाता है। अिसलिये जब आप देहातों में जायेंगे तब आपका भाषण सुनने के बाद वहाँ के लोग तुरन्त ही यह जानने को अुत्सुक होंगे कि आपके पास सत्ता या वसीला कितना है। वे यह नहीं देखेंगे कि आप में भलाअी या देश के प्रति लगन कितनी है। सरकारी अधिकारियों के साथ या अदालतों में वसीलेबाज़ी करने का जिनका धंधा है अैसे लोगों की दृष्टि से तो आप अुनके रास्ते में अेक नया रोड़ा बन जायेंगे। अुनके प्रपंच में, अखाड़े में अुतरने जितना भी मोह अगर आपको हुआ तो आप में चाहे जितनी सदिच्छा और

सेवा भाव हो तो भी आपके हाथों देहात का तनिक भी भला होने वाला नहीं है। अैसे प्रपंची और विघ्न-सन्तोषी लोग आपके खिलाफ ही जंग छेड़ देंगे और आप हमेशा अपनी हिफ़ाज़त करते-करते परेशान हो जायेंगे। अिसलिये आपको किसी भी तरह की सत्ता के साथ सहयोग न करने की नीति पर हमेशा दृढ़ रहना चाहिये।

सवाल:—तो फिर हम अुनको सेवा और मदद किस तरह करें ?

जवाब:—स्वयं अपने से जितनी मदद हो सके अुतने से ही आपको सन्तोष मानना चाहिये, सरकारी अधिकारियों से न्याय पाने के लिये भी आपको किसी तरह का वसीला नहीं बाँधना चाहिये। और आज की हालत में सरकारी अधिकारियों के मामूली अन्यायों के खिलाफ फौरन् लोगों को भड़काना भी नहीं चाहिये।

सवाल:—अगर अुन्हें सिर्फ देश की स्थिति ही समझाने का काम हम करें तो कैसा होगा ?

जवाब:—अैसा नहीं लगता कि वह आसानी से अुनके गले अुतरेगा। मिल मज़दूरों का अुपयोग करने की अिच्छा से आजकल अनेक पक्षों के लोग अुनमें रहकर काम करने को अुत्सुक दिखाअी देते हैं। यही हाल गाँवों का भी होगा। प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्षों की निन्दा करके देहात के ग़रीब लोगों को अपनी ही ओर खींचना चाहेगा। अिस तरह ग़रीब लोगों का बुद्धि-भेद होता है और शहर के झगड़े नाहक गाँवों में पहुँच जाने से राष्ट्रीय शक्ति का फ़िज़ूल अपव्यय होने का डर रहता है।

सवाल:—तो अिसे रोकने के लिये क्या करना चाहिये ?

जवाब:—कांग्रेस की रचना, अुसका विधान, वह क्या कर सकती है, क्या करना चाहती है आदि सब बातें आप लोगों को समझायें और साथ ही अुनकी शिक्षा तथा स्वास्थ्य की ओर ध्यान दें। आप अुनकी सामाजिक सेवा करेंगे तो वे आपको राजनैतिक मदद देंगे। अतः जनता की सामाजिक सेवा करके आप अुसका सन्तोष और विश्वास प्राप्त

कीजिये; अुसके कोर में वृद्धि कीजिये, अुसके घरेलू या पड़ोसियों के साथ के झगड़े कम करने की कोशिश कीजिये; बीमारों की टहल-सेवा कीजिये, और अितना सब करते हुअे भी कमल के पत्ते की तरह अलिप्त रहिये। हर रोज़ रात को कथा-कीर्तन द्वारा अुन्हें थोड़ा-थोड़ा समझाते रहिये। रात को जब बड़ी अुम्र के लोग अिकट्ठे होंगे तब और जगह क्या-क्या चलता है, दूसरे प्रान्तों या देशों के किसान किस तरह रहते सहते हैं आदि बातें आप अुन्हें बतायें। धर्म की चर्चा करें। अुसमें भी आत्मा-अनात्मा के जंगल में पैठने से काम नहीं चलेगा। अुन्हें यह समझाना होगा कि मनुष्य का कर्तव्य धर्मानुरूप कैसे हो सकेगा। किसानों को यह समझा देना चाहिये कि अुनका माल किसे, किस तरह और कब बेचने से अुन्हें अधिक से अधिक लाभ होगा और देश को नुक़सान न पहुँचेगा। अिसमें भी वे मुश्किलें, जिनका ज़िक्र मैंने अभी-अभी किया है, नहीं आयेंगी अैसा तो नहीं है, लेकिन वे अेकाअेक नहीं आयेंगी।

सवाल:—यह काम तो अेक जगह स्थिर रहकर ही हो सकता है। हम तो गाँवों में घूमने वाले हैं; अैसी हालत में यह सब कैसे हो सकेगा?

जवाब:—गाँव-गाँव घूमना तो मैं पसन्द नहीं करता। यह गिनती करके कि गुजरात में अितने गाँव हैं और अितने काम करने वाले हैं और अिसलिये 'हरेक आदमी के ज़िम्मे अितने गाँव आते हैं' अिस तरह का हिसाब लगाने से काम न चलेगा। काम करने वाले कम हों तो सीमित क्षेत्र में ही काम शुरू किया जाय। चार अेकड़ ज़मीन है और बोने के लिये तीन सेर बीज है, अिसलिये हर बीज अितने फ़ासले पर बोया जाय अिस तरह का हिसाब गँवार आदमी भी नहीं करता। अगर हम ठोस बुनियाद पर काम शुरू करेंगे तो थोड़े ही दिनों में अितने सेवक तैयार हो जायेंगे जो सारे प्रान्त के लिये पर्याप्त हों। तब तक अपने शुरू किये हुअे सीमित क्षेत्र में ही अपना कर्तव्य करके सन्तोष मानना चाहिये।

मतलब यह कि आपको किसी अेक गाँव में जाकर रहना चाहिये।

अौर अास-पास के दो-तीन मील के अन्दर जितनी अाबादी हो अुतनी की ही सेवा करके सन्तोष मानना चाहिये। अिस प्रकार जब आपकी तपस्या बढ़ेगी तब आपके हाथ में आप ही आप बड़ा क्षेत्र आ जायगा और बड़े पैमाने पर ठोस काम करने की शक्ति आपमें आयेगी।

—३—

सवाल:—जैसे-जैसे आप देहातों में काम करने की कठिनाअियाँ बताते जाते हैं वैसे-वैसे अुस काम के बारे में ज्यादा दिलचस्पी पैदा होती जा रही है। सचमुच, राष्ट्रीय शिक्षा तो गाँवों में काम करने से ही मिल सकेगी। क्या यह सही है या नहीं?

जवाब:—शहरों में लोग जितने अेक-दूसरे से अलग पड़े हुअे होते हैं अुतने देहातों में नहीं होते। शहरों की अपेक्षा देहातों का जीवन अधिक संयुक्त, अधिक सामाजिक होता है और अिसीलिये वहाँ पर सामाजिक प्रश्नों का अध्ययन अच्छी तरह हो सकता है।

सवाल:—लेकिन शहरों की बनिस्बत देहातों में फूट ज्यादा होती है, झगड़े बहुत होते हैं। तो फिर यह कैसे कहा जाय कि वहाँ का जीवन अधिक संयुक्त और सामाजिक होता है?

जवाब:—गांवों के मुकाबले में शहरों में अधिक शान्ति तो होती है, लेकिन अुसे सामाजिक शान्ति नहीं कहा जा सकता, वह तो अेकता के अुच्च आदर्श को छोड़कर नीचे अुतर कर प्राप्त की हुअी शान्ति होती है। जब पति पत्नी में अेक-दूसरे के साथ नहीं बनती तब वे तलाक देकर शान्ति प्राप्त करते हैं। शहर की शान्ति अिस तरह की होती है। जातियों में दलबन्दियां होती हैं अिसलिये ज्ञाति-विधान ही तोड़ देने से जो शान्ति मिलती है अुस किस्म की यह शान्ति होती है। भाअी-भाअियों में न बनती हो तो अेक परिवार के दो परिवार बनाने से जो शान्ति पायी जाती है वैसी ही यह शान्ति है। अिस बात से मैं अिन्कार नहीं करता कि अुच्च आदर्श को छोड़कर नीचे अुतर आने से थोड़े दिनों के

लिये आसानी से शान्ति या राहत मिलती है, लड़ाओी में दस-बीस मील पीछे हट जाने से भी अेक तरह की राहत मिलती है, लेकिन क्या वह वांछनीय है ?

सवालः—यह सवाल तो बहुत महत्त्व का मालूम होता है, लेकिन अिसका स्वराज्य के साथ क्या सम्बन्ध है ?

जवाबः—क्या यह समझ में नहीं आता ? ज़रा सोचिये तो सही कि देहातों में जाकर वहां के झगड़े देखकर आप लोगों को क्या सलाह देंगे ? क्या यह डर अुचित नहीं है कि जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अलग अलग रहता है और जहाँ सारा प्रबन्ध पराये लोगों के हाथों में रहता है या कुछ प्रतिनिधियों के हाथ में होता है अैसे शहरों के वायु मंडल में पले हुअे आप देहातों में भी अुसी वायुमंडल को दाखिल करने की भूल करेंगे ? गाँवों के लोगों को अधिक स्वावलंबी, अधिक स्वतंत्र, अधिक स्वराज्य-भोगी बनाने के बदले आप शान्ति के नाम से जो अच्छा या बुरा स्वराज्य अथवा सार्वजनिक जीवन आज मौजूद है अुसे तोड़ डालेंगे। पश्चिमी ढंग की प्रतिनिधि-प्रणाली आपको अत्यंत स्वाभाविक लगती है और अुसी को आप देहातों में जारी करेंगे। आपकी कांग्रेस का विधान भी अिसी तरह का है। लेकिन अिस प्रणाली की बुनियाद में यह मान लेने की वृत्ति होती है कि प्रतिनिधि का वचन हमारा वचन है और प्रतिनिधि का निर्णय हमारा निर्णय है। अगर यह वृत्ति लोगों में न हो तो मुझे अैसा नहीं लगता कि प्रतिनिधि-प्रणाली से देहातों का कुछ अधिक फ़ायदा होगा।

सवालः—तो फिर कांग्रेस ने अिसका फैसला क्यों न किया ? हमें तो कांग्रेस से वफ़ादार रहकर ही काम करना है।

जवाबः—आपकी बात सही है। कांग्रेस को अब तक सरकार से भीख मांगकर स्वराज्य लेना था, अिसलिये अुसने अैसे स्वराज्य की कल्पना की जो सरकार की समझ में आ सके। फिर कांग्रेस में शामिल होने वाले हमारे सारे प्रतिनिधि अंग्रेजी पढ़े-लिखे थे। देश की स्थिति

की अपेक्षा किताबों के विचारों के साथ ही अुनका परिचय अधिक था। अिसलिये अुन्हें और बात सूझती ही कैसे ? तो भी जैसा कि आप कहते हैं आपको कांग्रेस के विधान को स्वीकार करके ही काम करना चाहिये। मैं यह नहीं कहता कि फ़िलहाल अुसमें कुछ नुकसान है। मुझे तो सिर्फ़ अितनी ही चेतावनी देनी थी कि गाँवों में जो समाज-बन्धन हैं वे आपके हाथों जाने अनजाने भी टूटने न पायें।

सवालः—क्या ब्रिटिश कान्स्टिट्यूशन (विधान) की तरह हमारे यहाँ कोअी अपना पुराना विधान था ? हमारे अितिहास में तो कान्स्टिट्यूशन का नाम तक नहीं है। फिर वेदों या आपके कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में से कुछ निकले तो अलग बात है।

जवाबः—पहले यह सोचिये कि ब्रिटिश कान्स्टिट्यूशन के मानी क्या हैं ? कान्स्टिट्यूशन का अर्थ है स्वभाव या प्रकृति। चाहे जिस डाक्टर से कान्स्टिट्यूशन का अर्थ पूछिये। कुछ लोग कहते हैं कि 'रात को बड़ी देर तक जागते रहना मेरे कान्स्टिट्यूशन को अनुकूल नहीं आता।' अिसी तरह हर समाज का भी स्वभाव होता है, अुसकी प्रकृति होती है, और वह स्थायी होती है। जब कानून नहीं होते, राज्यतंत्र टूट पड़ता है, तब भी कान्स्टिट्यूशन तो होता ही है, क्योंकि वह समाज की प्रकृति है। अिस सामाजिक प्रकृति के विरुद्ध जालिम राजा भी नहीं जा सकता। लोक सभा को चाहे जैसे कानून बनाने का हक भले ही हो, लेकिन समाज की अिस प्रकृति या कान्स्टिट्यूशन के अधीन रहकर ही अुसे कानून बनाने पड़ते हैं। अिस कान्स्टिट्यूशन के खिलाफ़ जाने वाले कानून टूट जाते हैं। कोअी किसी को कान्स्टिट्यूशन नहीं देता। अेक प्रजा दूसरी प्रजा का कान्स्टिट्यूशन नहीं बना सकती। कान्स्टिट्यूशन गढ़ना तो होता ही नहीं। जो कामयाबी हासिल करना चाहता हो अुसे अिससे वाक़िफ़ भर होना चाहिये। आप जिस तरह का बरताव घोड़े के साथ करते हैं अुस तरह का बरताव गधों के साथ नहीं करते, जिस तरह कुत्ते के साथ पेश आते हैं, अुस तरह बिल्ली के साथ नहीं आते; क्योंकि

हर अेक का कान्स्टिट्य्‌शन, हर अेक की प्रकृति भिन्न है। कुत्ता लवण-निष्ठ है जब कि बिल्ली आत्मनिष्ठ।

सवाल:—तो फिर हिन्दुस्तान का भी अैसा ही कुछ न कुछ कान्स्टिट्य्‌शन होना चाहिये; हिन्दुस्तान की भी प्रकृति होनी चाहिये। वह क्यों नहीं मिलती?

जवाब:—बीमार आदमी अगर किसी नीम-हकीम या झूठे वैद्य के हाथ में पड़ जाय तो वह वैद्य बीमार के कान्स्टिट्य्‌शन की तरफ क्यों ध्यान देने लगा? बेचारा मरीज़ ही डर के मारे अुलटे अुस वैद्य का कान्स्टिट्य्‌शन (प्रकृति) देख देखकर बरताव करता है। बहू के कान्स्टिट्य्‌शन का खयाल किये बिना ही सास घर का अधिराज्य चलाती है; अिससे क्या बहू का स्वतंत्र कान्स्टिट्य्‌शन नहीं होता? अेक तरह से देखा जाय तो अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान के कान्स्टिट्य्‌शन को समझकर और अुसे प्रतिष्ठा प्रदान करके ही अबतक अितना राज जमाया है, धर्म के नाम पर या क्षुद्र धार्मिक मतभेद के कारण अेक दूसरे को जिन्दा जला डालनेवाली यह गोरी जनता हमारे यहां खुले आम धार्मिक बातों में हस्तक्षेप नहीं करती, अिसका कारण कोअी अुसकी अुदारता नहीं बल्कि हमारा कान्स्टिट्य्‌शन है। जब मुसलमानों ने अिस कान्स्टिट्य्‌शन को जान लिया तभी देश में शान्ति स्थापित हुअी। जिस तरह कोअी भी जीव अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ सकता अुस तरह कोअी भी समाज अपना स्वभाव, अपना कान्स्टिट्य्‌शन नहीं छोड़ सकता। अुसे बदलने की कोशिश करेंगे तो समाज विकृत होगा।

सवाल:—तो फिर हमें हिन्दुस्तान की अिस प्रकृति की खोज करनी है। क्या गाँवों में जाकर हम यह खोज-बीन करते रहें? हे भगवान! हम गाँवों के लोगों को राजनीतिक सबक पढ़ाने चले हैं तो आपने हिन्दुस्तान की प्रकृति की खोज-बीन लाकर हमारे सिर पर डाल दी।

जवाब:—कौन कहता है कि आप प्रकृति की खोज करें? मैं तो अितना ही कह रहा हूँ कि मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।

बीमार आदमी बिस्तर पर से अुठ जाता है तो अुसकी प्रकृति आप ही आप काम करने लगती है । मैं तो अितना ही कह रहा हूँ कि आप अुसके बीच में न पड़ें, अुसे विकृत न बनायें। समाज-सुधारक बनकर या पश्चिमी राजनैतिक विचारों के दास बनकर सामाजिक आदर्शों पर अत्याचार न करें।

सवाल:—अब अिस बात का कुछ खयाल आ गया कि देहातों में जाकर क्या नहीं करना चाहिये। अैसा लगता है कि आपकी सूचनायें मेरा समझ में कुछ-कुछ आ जायेंगी। अब जो कुछ कहूँगा, सामाजिक प्रकृति को पहले समझ लेकर ही कहूँगा।

जवाब:—मैंने कल आपसे कहा ही था कि गाँवों में जाकर आपको लोगों का विश्वास प्राप्त करना चाहिये और अुनकी शुद्ध सेवा करनी चाहिये। आप शुरू में स्वास्थ्य और सफाअी का काम हाथ में ले सकते हैं। हमारे लोग घर का पानी और पानी के बरतन साफ रखते हैं। अुसके पीछे किसी समाज-सुधारक या धार्मिक पुरुष की महान तपस्या ज़रूर है। अब तो वह लोगों की प्रकृति बन गयी है। नहाने के बारे में भी बहुत से लोग बहुत ही साफ-सुथरे रहते हैं। लेकिन कपड़ों के बारे में वैसा नहीं होता। हम लोग पहले से ही बहुत कम कपड़े पहनते हैं। जहाँ कपड़ों की परवाह नहीं है वहाँ कपड़ों की सफाअी की ओर कौन ध्यान दे? कपड़ों का शौक तो अभी-अभी बढ़ गया है। अुस विषय में आप समाज में अेकदम से आन्दोलन नहीं कर सकते, लेकिन देहातों के मदरसों में आप यह आग्रह जरूर दाखिल कर सकते हैं कि जहाँ तक हो सके, कम कपड़े पहने जायँ और पहनने के कपड़े साफ रखे जायँ। यह खयाल निकाल देना चाहिये कि ज्यादा कपड़ों में ज्यादा सभ्यता है। दूसरी सफाअी है घर के ओढ़नों और बिछौनों की। शहरों में आप गद्दों और तकियों के गिलाफ धोने के लिये धोबी को देते हैं। गाँव के लोगों को अगर आप यही सलाह देंगे तो आपका कहना कोअी न मानेगा। अगर आप अुन्हें सारी गुदड़ियाँ धूप में डालना सिखायेंगे तो आरोग्य की दृष्टि से बहुत काम होगा।

गर्मियों के दिनों में हर कमरे के अूपर के थोड़े-थोड़े खपरैल निकाल कर रखने की सिफारिश आप करेंगे तो अुसे भी वे समझ सकेंगे। पानी की सफाअी के बारे में मैंने अूपर कहा है, लेकिन गाँवों में सार्वजनिक कुअें और कुओं के आस-पास की जगह बहुत ही कीचड़-मच्छड़ वाली होती है। लोग चाहे जैसे बरतन कुओं में डुबोते हैं, कुओं के आस-पास रसोअी के बरतन माँजते हैं; ढोर भी वहीं आकर पानी पीते हैं और आस-पास कीचड़ की गंदगी रहती है। कअी जगह पानी बरसाता भी है।

सवालः—घर की सफाअी के बारे में तो लोगों को अुपदेश दे सकेंगे; लेकिन कुअें साफ करने का काम तो अैसा होता है कि वह सबका अर्थात् 'किसी का भी नहीं' है। अुसके बारे में क्या किया जाय?

जवाबः—वहीं तो आपकी जरूरत है। देहातों में सार्वजनिक काम होते ही नहीं। कोअी करने जाय तो दूसरे लोग अुसकी मदद नहीं करते। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अेक जगह लिखा है कि 'गाँवों में अगर कोअी आदमी अगुआ बनकर कुआँ खुदवाता है तो दूसरे लोग कहते हैं कि 'यह पुण्य कमाना चाहता है। अतः अगर वह चाहे तो अपने ही पैसों से काम करे। हम अपने पैसों से अुसे क्यों पुण्य प्राप्त करने दें?' अिस तरह आज-कल तो कहीं भी सार्वजनिक काम होते ही नहीं। अगर होते हैं तो वह सरकार की ओर से यानी पैसे किसी अुदार व्यक्ति के और प्रबन्ध सरकार का रहता है।

सवालः—लेकिन अिसे किस तरह रोका जाय?

जवाबः—अक्सर अितनी हिम्मत तो आपको दिखानी ही चाहिये। आप अेक बार लोगों से कुओं की सफ़ाअी के बारे में कह दें। यह तो साफ ही है कि वे सुनी-अनसुनी करेंगे। दूसरे दिन सवेरे अुठकर आप कुओं के आस पास की सफाअी शुरू कर दें। आप यह विचार तक अपने मन में न आने दें कि 'मैं अकेला क्या करूँगा?' आपकी साफ की हुअी जगह को दूसरे लोग आकर गंदा कर जायँ तो भी आपको चिढ़ना नहीं चाहिये। अिस तपस्या के दिनों में लोगों में अपने कार्य का

बिलकुल विज्ञापन नहीं करना चाहिये। धीरे-धीरे लोग समझते जायेंगे। हमारे सामाजिक दोष अैसे नहीं हैं जो पानी से या शब्दों से धोये जा सकें। अपने पसीने से ही हमें अुन्हें धोना पड़ेगा। और अगर आज हम वैसा न करेंगे तो कल हमें अपने या अपने बाल-बच्चों के खून से धोना पड़ेगा। आप मूक सेवा करते जायेंगे तो लोग आप ही आप समझते जायेंगे। युवक वर्ग आपकी मदद के लिये दौड़ आयेगा और बुजुर्ग बैठे-बैठे आपकी कद्र करने लगेंगे। जहाँ तक हो सके, पैसों से सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। मेहनत से ही जितना काम हो सके अुतना किया जाय। अैसा तो नहीं है कि सार्वजनिक काम के लिये कोअी स्वयं ही पैसा देने आये तो अुसे न लिया जाय. लेकिन शुरू में माँगने नहीं जाना चाहिये और पूरी नम्रता रखनी चाहिये। अितना करने पर आपको अपने काम में जरूर कामयाबी हासिल होगी। अिस काम में सफल हो जाने के बाद आपको रास्ते के अिर्द-गिर्द की गंदगी दूर करने का काम हाथ में लेना चाहिये। पेशाब कहां करना और टट्टी कहां जाना अिस विषय में देहातों में बिलकुल सोच-विचार या विधि-निषेध नहीं होता, और अीश्वर ने जिस देहात को स्वर्ग के प्रति-स्पर्द्धा के तौर पर पैदा किया है अुसे लोग नरक बना देते हैं। फिर भी अिस गंदगी का सवाल शहरों में जितना पेचीदा है अुतना गांवों में नहीं होता। पुराणों में लिखा है कि शीतला देवी का आयुध बुहारी-झाड़ू है। ग्राम-देवता का आयुध फावड़ा कहा गया है। सवेरे अुठकर आदमी मल-त्याग करने जाय तो अुसके पास लकड़ी या लोहे का अेक फावड़ा होना ही चाहिये। मनुष्य खेत में चला जाय तो अुस फावड़े से वहां अेक गढ़ा बनाये, भूमि माता से क्षमा माँगकर अुसका अिस्तेमाल करे और मल पर मिट्टी डालकर घर वापस आये। अैसा करने से खेत को अच्छा खाद मिलेगा और आस-पास कहीं भी गंदगी नहीं होगी। हर घर के अहाते में अैसे ही गढ़े होने चाहिये। अिस कार्य का प्रारंभ भी स्कूलों के जरिये ही हो सकता है।

सवालः—अब हम समझ गये। गांवों का मदरसा सिर्फ वर्णमाला सिखाने का मदरसा नहीं बल्कि लोगों के जीवन में क्रान्ति करने का ओक आसान किन्तु प्रभावकारी साधन है। औसा ही है न?

जवाबः—बात सही है। गांवों के स्कूल सिर्फ हरफ पढ़ाने के स्कूल नहीं बल्कि जनता को अपना जीवन ठीक करना सिखाने के स्कूल हैं और वास्तव में सामाजिक जीवन में क्रान्ति करके ही अुन्हें चलाया जा सकता है।

सवालः—क्या आप देहातों के स्कूल के बारे में अपने विचार थोड़े में बतायेंगे?

जवाबः—अिसके बारे में हम कल चर्चा करेंगे।

—४—

सवालः—आज अिस बात की चर्चा करनी है कि गांवों में स्कूल खोलने की क्या जरूरत है और अुनके द्वारा क्या-क्या काम हो सकते हैं। लेकिन अुससे पहले हमारे जो ये मित्र हमारे साथ आये हैं अुन्हें कुछ शंकाअें पूछनी हैं। क्या आप अुनका निवारण पहले करेंगे?

जवाबः—खुशी से! लेकिन अेक बात कह दूँ। क्या शंका दूर हो जाने पर अुसके मुताबिक काम में लग जाने की श्रद्धा आपके मित्र में है? वरना कअी बार शंका अेक तरह की कंडु या खुजली होती है। अेक शंका का निरसन होते ही दूसरी शंका पैदा हो जाती है; अगर पैदा न हुअी हो तो अुसे खोज निकाले को जी चाहता है। और अिस तरह शंकाओं की कतार चलती रहती है। अन्त में जब, अेक भी शंका नहीं रहती तब भी आदमी यह नहीं कहता कि नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा, स्थितोऽस्मि गतसन्देहः सज्जोऽहं धर्मपालने। वह अितना ही कहता है कि शंका निकालने की मेरी शक्ति कुंठित हो गयी है अिसलिये मैं रुकता हूँ; फिर जब शंका निकाल सकूँगा तब देखा जायगा।

मित्रः—ना, अिस तरह के कुतर्क लेकर मैं नहीं आया हूँ। असहयोग

करके ही मैं आया हूँ । मुझे शंका अितनी ही है कि अगर हमें गांवों में जाकर काम करना है तो आप हमसे आज ही हिन्दी सीखने को क्यों कहते हैं? गुजरात के गांवों में आज हिन्दी के बिना काम कहां रुकता है?

जवाबः—मालूम होता है कि आप अिस आन्दोलन का मतलब नहीं समझे हैं। यह आन्दोलन जितना प्रायश्चित्त का है अुतना ही हृदय-परिवर्तन का भी है । यो यच्छ्रद्धः स अेव सः । आज स्वराज्य की श्रद्धा लोगों के हृदयों पर जमानी है। हिन्दी अुसकी दीक्षा है । अंग्रेजी को आप राज भाषा कहते हैं। स्वराज्यवादियों की दृष्टि से हिन्दी राज भाषा—राज्य भाषा—राष्ट्रभाषा है। अिस दृष्टि से यह समझा जायगा कि जिसे हिन्दी का संस्कार हुआ है वह स्वराज्यवादियों की जाति में आ गया। आज आपको लगता है कि गाँवों में कम से कम अेक दो लड़के भी अंग्रेज़ीदाँ हों तो कितना अच्छा! कांगरेस का तंत्र जब पूरे जोश में चलने लगेगा तब वह हिन्दी में ही चलेगा और हर देहात के आदमी में अुस राष्ट्रीय साहित्य और राष्ट्रीय प्रस्तावों को जान लेने की अुत्कंठा तो होगी ही । अतः अुसके लिये हिन्दी जानना ज़रूरी होगा। जब हमारी लड़ाअी पूरी तरह अुभड़ आयेगी तब राष्ट्र सभा के प्रस्तावों और आदेशों के तर्जुमे जुदी-जुदी भाषाओं में करके अुन्हें छपवाकर अुनका प्रसार करने के लिये पर्याप्त समय भी शायद ही मिलेगा।

सवालः—अब समझ गये। अब दूसरा सवाल लीजिये।

जवाबः—जी नहीं, हिन्दी के बारे में कहना अभी बाक़ी है। आप जानते ही हैं कि काम करनेवाले सच्चे लोग हमेशा कम ही हुआ करते हैं। अुसमें भी अपने कार्य का रहस्य समझकर कुशलता के साथ काम करने वाले तो अुससे भी कम होते हैं। अैसे लोगों का यह काम रहता है कि वे देश भर में घूम कर लोगों को समझाते रहें। ये लोग कौन-कौन सी भाषाअें सीखें? अगर अेक ही सार्वजनिक राष्ट्र-भाषा होगी तो काम कितना आसान होगा? फ़र्ज़ कीजिये कि पंजाब या युक्तप्रांत में कुछ गड़बड़ी

हो गयी है और वहाँ के सब नेता जेल चले गये हैं। अैसे समय पर लोगों को समझाने के लिये अगर आपको ही वहाँ जाना पड़े तो वहाँ के देहातों में आप किस भाषा में बोलेंगे? अगर हिन्दुस्तान के हर देहात विद्यार्थियों को आज से ही हिन्दी सिखाने लगेंगे तो चाहे जो आदमी चाहे जिस वक्त चाहे जिस प्रान्त में जाकर काम कर सकेगा। अब अपना दूसरा सवाल पूछिये।

सवालः—यह तो आपने बड़े ही महत्व की बात कही। अिसमें तो उर्दू लिपि का भी सवाल आ गया है।

जवाबः—वह दलील तो आज ही अुर्दू लिपि जान लेने के पक्ष में है; लेकिन अुर्दू सीखने के दूसरे भी बहुत से स्थायी और महत्व के कारण हैं।

सवालः—तो अुनका दिग्दर्शन ज़रूर कीजियेगा। आप से वह सुनने को मैं बहुत अुत्सुक हूँ। गाँवों में मुझे वह समझाना होगा।

जवाबः—हिन्दू मुस्लिम अित्तेहाद का महत्व आप जानते हैं। यह अेकता अेक दूसरे के विषय में अेक-से ही अज्ञान पर टिकने वाली नहीं है। आप बाअिबल के बारे में जितना जानते हैं अुतना भगवद्गीता के बारे में भी नहीं जानते; फिर क़ुरान शरीफ़ के बारे में पूछना हो क्या? जिस देश में मुग़ल शहनशाह अुपनिषद् के अनुवाद कराते थे अुस देश में आज तुलसी के रामचरित मानस जैसे विश्ववंदनीय ग्रंथों से कितने मुसलमान परिचित होंगे? अेक दूसरे के विषय में अिस अज्ञान को निकाल ही देना चाहिये; वरना विदेशी लोग चाहे जब हिन्दू-मुस्लिम अेकता में विघ्न डाल सकेंगे। अिसके अलावा हिन्दुस्तान में हिन्दू और मुस्लिम धर्म की शुद्धता को बनाये रखकर अेक नयी संस्कृति खड़ी करनी है। वह अितनी अुदार और व्यापक होनी चाहिये कि बीसवीं सदी में वह फलफूल सके और अपने में सब तरह के लोगों का समावेश कर सके। दो चार विद्वान् पंडित शास्त्रकार या महात्मा अुसकी रचना नहीं कर सकते। वे अमुक दिशा में अुसे गति जरूर दे सकते हैं। लेकिन संस्कृति

का निर्माण तो सारा राष्ट्र अेकत्र प्रयत्न से ही कर सकता है। अिसके लिये संस्कृत साहित्य के अध्ययन की जितनी जरूरत है अुतनी ही जरूरत कुरान और फारसी साहित्य के अध्ययन की भी है। चुनांचे शिक्षित वर्ग को देवनागरी तथा फारसी दोनों लिपियों में लिखे हुअे साहित्य के साथ परिचय प्राप्त करने की कुंजी हथियानी चाहिये। लेकिन आप जिस हिन्दी का निर्माण करेंगे वह किसी अेक ही पक्ष का आग्रह रखनेवाली नहीं होनी चाहिये।

सवाल :—आप हिन्दी के निर्माण की क्या बात कर रहे हैं? मेरी तो समझ में कुछ नहीं आया।

जवाब :—देश में जब नयी चेतना प्रस्फुटित होती है, समाज में जब नया प्राण संचार करता है तब भाषा भी नया लिबास पहनती है। राष्ट्रीय भाषा के तौर हिन्दी को स्वीकार करने के बाद आपको उसे सच्चा राष्ट्रीय स्वरूप देना ही चाहिये। अर्थात् हिन्दी को आप अैसी बनाइये जो भारत के किसी भी प्रान्त को परायी न लगे और सभी लोग अेक सी ही आजादी के साथ अुसका अिस्तेमाल कर सकें। अिस तरह हिन्दी का संगठन करने का कार्य सभी प्रान्तों को मिलकर करना चाहिये। प्रत्येक प्रान्त को चाहिये कि वे अिस सम्राज्ञी को अपनी भाषा के विचारों, भाषाशैली और वाक् प्रचार का राजस्व या कर दे। तभी अुसका राजकोष समृद्ध होगा। अिसमें आपका अपना स्वार्थ भी है। जैसे-जैसे आप हिन्दी की अधिक सेवा करेंगे वैसे-वैसे खुद आपके लिये भी वह अनुकूल बनती जायेगी और नदी-गर्भ में अपने घाट के पास ही नहर खुदवाने से जिस तरह नदी आपके घाट के नजदीक आ जाती है अुस तरह हिन्दी का प्रवाह आपकी भाषा के लिये अधिक जीवनदायी ही साबित होगा। सभी प्रान्तों में आप घूम सकेंगे, आपके विचार आसानी से फैल सकेंगे और राष्ट्र के साथ आपकी भी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। लेकिन अिस विषय में अितना काफी होगा। ग्राम शिक्षा की चर्चा में अितना विवेचन शायद विषयान्तर समझा जायेगा।

सवाल :—विषयान्तर भले ही हो.लेकिन अब मुझमें हिन्दी के विषय में श्रद्धा अुत्पन्न हुअी है। अिससे गाँवों में जाकर मैं अधिक अुत्साह से हिन्दी का प्रचार करूँगा और अुर्दू सीखने से भी जी न चुराअूँगा। अपना दूसरा सवाल मैं अब आज न पूछूँगा; क्योंकि मुझे सूत कातने का वर्ग चलाना है। कल ज़रूर आअूँगा।

जवाब :—ज़रूर आअिये। कल मुझे देहातों के स्कूल के बारे में बातें करनी हैं।

—५—

सवाल :—गाँवों के स्कूलों के बारे में आपने अितनी आतुरता पैदा की है कि अब अगर आप अुसमें बहुत देर करेंगे तो अुसकी दिलचस्पी जाती रहेगी।

जवाब :—'गाँवों में जाकर क्या करें?' का जवाब मुझे सिर्फ़ अितना ही नहीं देना था कि 'स्कूल खोलो।' फिर विषय को लम्बाने के लिये तो हम दोनों समानरूप से ज़िम्मेदार हैं। आप यह न समझें कि गाँवों में जाकर काम करने का अेक ही रास्ता है। गाँवों में करने का काम जीवनव्यापी है। हमारा स्वराज्य का काम भी अुतना ही विशाल है। स्वराज्य का सवाल सिर्फ़ सियासी नहीं है, फौजी नहीं है, या सिर्फ़ आर्थिक भी नहीं है। वह जनता की जागृति का सवाल है। जिस तरह बगैर खाये-पीये आदमी का नहीं चल सकता अुसी तरह जनता के लिये स्वराज्य के बिना जीना ही असम्भव हो जाना चाहिये। जिस तरह मनुष्य अपनी जीने की योग्यता सिद्ध करने के बाद ही जीने की कोशिश नहीं करता, वह तो प्रत्यक्ष जी के ही दिखाता है, अुसी तरह स्वराज्य की योग्यता साबित करने की बात पैदा ही नहीं होनी चाहिये। जिस तरह ढोर-मवेशी तैरना सीखने की कोशिश नहीं करते, निःशंक होकर अपने को पानी में झोंक देते हैं अुसी तरह हमें स्वराज्य में प्रवेश करना चाहिये। भूखा बालक जिस तरह यह बिना सोचे कि खाया हुआ हज़म

होगा या नहीं, खाना शुरू ही कर देता है, अुसी तरह जनता को स्वराज्य पर अधिकार करना चाहिये। यह बात है तो आसान, लेकिन हमारे लोगों को पुरानी लकीर से निकल बाहर आना चाहिये। वर्तमान स्थिति के विषय में जनता में असन्तोष तो पैदा हुआ ही है, लेकिन अुनमें अितना आत्मविश्वास आ जाना चाहिये कि अिस स्थिति को बदला जा सकता है। सिर्फ अुपदेश देने से वह नहीं हो सकता। अुनके साथ हिल-मिल जाने से आप अपनी श्रद्धा अुनमें ला सकेंगे। भगवान ने बड़ों की अपेक्षा युवकों में अधिक श्रद्धाबल डाला है। अुसका अुपयोग करना हो, अुसे विकसित करना हो तो अुसके लिये देहातों में स्कूल खोलने जैसा दूसरा कौन सा साधन हो सकता है? गाँवों के लोगों के हृदयों पर अधिकार जमाने का वह सब से सीधा अुपाय है। कहते हैं कि अिंग्लैंड में अेक अुम्मीदवार ने अपने मतदाताओं के लड़कों-लड़कियों को प्यार करके अेक पाओ भी खर्च किये बगैर सभी मान प्राप्त किये थे। दूसरे तरीके से भी गाँवों में काम हो सकता है। कुछ लोग अेक जगह अपना केन्द्र रखकर आसपास के बीस पच्चीस गाँवों में घूमते रहेंगे तो कुछ अेक ही गाँव पकड़कर बैठ जायेंगे। दोनों की सेवा अेक-सी ही होगी। कुछ लोग देहातियों की आर्थिक अुन्नति के उपाय बतायेंगे तो कुछ सात्विक वृत्ति के और आडंबररहित स्वयसेवक धार्मिकता का वायुमंडल फैलाकर स्वराज्य की बुनियाद चुनेंगे। कुछ लोग कांग्रेस का विधान समझाने का काम अपने सिरपर लेंगे तो कुछ शराबबंदी का काम करेंगे। कुछ अकालपीड़ितों की सहायता के लिये अपने को खपा देंगे तो कुछ जनता को सत्याग्रह का सबक सिखायेंगे। लेकिन सबसे ज्यादा सेवा तो कृषक-शिक्षक की ही है।

सवाल :—कृषक-शिक्षक के क्या मानी ?

जवाब :—जो आदमी शिक्षक होता हुआ भी खेती का काम करता है और गाँव के किसानों की खेती के सुभीते का खयाल रखकर फुरसत के समय में अुन्हें और अुनके लड़कों को पढ़ाता है असे कृषक-शिक्षक

कहा जा सकता है। अैसा शिक्षक जनता का स्वाभाविक नेता बन जाता है। वह स्वयं खेती करता है अिसलिये किसानों के सुख-दुःखों को वह आसानी से समझ सकता है। वह शिक्षित होता है अिसलिये बहुत-सी बातों में अुसे आपत्तियों में ही अुपाय सूझते हैं। अगर वह सात्विक वृत्ति वाला और निःस्पृह हो तो बहुत-से झगड़ों का फैसला वह खुद ही कर सकता है। चंपारण में काम करनेवाले अेक स्वयंसेवक ने लोगों पर अितना अच्छा असर डाला था कि जिनके घर में दो-तीन हाथी रहा करते थे अैसे परिवार के लोग भी भाअी-भाअियों के बीच के झगड़ों का फैसला कराने के लिये अुनके पास जाते थे।

सवालः—यह काम मुश्किल तो है, फिर भी समझ में आ सकता है। आपके मत से देहातों में कौन-कौन से विषय पढ़ाने चाहिये? क्या 'थ्री आर्स' (लिखना, पढ़ना और हिसाब लगाना) से कुछ ज्यादा पढ़ाने की जरूरत है?

जवाबः—थ्री आर्स जैसे अंग्रेजी सूत्रों का प्रयोग करने की आपकी आदत देहातों में नहीं चलेगी। जिस तरह अच्छे गाँवों में शुद्ध स्वदेशी कपड़ा होना चाहिये अुसी तरह भाषा भी शुद्ध देशी ही होनी चाहिये। 'थ्री आर्स' के मानी 'लिखना, पढ़ना और हिसाब' ही हैं न? तो फिर अुसे मुन्शियाना तालीम क्यों नहीं कहते? पुराने लोग अुसे 'अंकलिपि की शिक्षा' कहते थे। अुसमें आपके 'थ्री आर्स' का अन्तर्भाव पूरी तरह होता है। मगर अितनी शिक्षा गाँवों के काम की नहीं। बेशक लोगों को लिखना, पढ़ना और हिसाब लगाना आना चाहिये, लेकिन अुसे शिक्षा नहीं कहा जा सकता। जिस तरह मनुष्य को भोजन करना या कपड़े पहनना आना चाहिये अुसी तरह लिखना, पढ़ना और हिसाब लगाना भी आना चाहिये। ये तीनों बातें शिक्षा के साधन हैं न कि शिक्षा; क्योंकि अिन तीन बातों से जीवन के रहस्य का अुद्घाटन नहीं होता, अिन्द्रियों का कौशल विकसित नहीं होता।

सवालः—तो आप कौन से विषय सुझाते हैं? हेड, हैंड और हार्ट

अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और भावनाओं की शिक्षा से तो आपका मतलब नहीं है न ?

जवाब:—जी नहीं, मैं तो अत्यंत व्यावहारिक और कम से कम विषय सुझाना चाहता हूँ। हमारे लोगों में आधुनिकता लाने के लिये निम्न विषय जरूरी हैं :—

(१) स्वभाषा की कविता (२) दुनिया का भूगोल (३) अर्थशास्त्र (४) स्वधर्म का ज्ञान, और कुछ बरसों तक (५) व्यक्तिगत और सामाजिक स्वास्थ्य (अिसके साथ ग्रामीण जीवन और अुद्योग-धंधों के लिये आवश्यक विज्ञान भी पढ़ाना चाहिये।)

स्वास्थ्य या आरोग्य को मैं हमेशा का विषय नहीं समझता, क्योंकि पशुओं की तरह मनुष्य के लिये भी वह स्वभाव-सिद्ध होना चाहिये। आज स्वास्थ्य के पाठ पढ़ाने पड़ते हैं; अिसका कारण हमारे जीवन की कृत्रिमता और वृत्ति की जड़ता है। अिस बात से हमारी दुर्दशा का सूचन होता है कि बिल्लियों, बंदरों या मधुमक्खियों में जिस स्वच्छता का ज्ञान जन्म के साथ ही स्वाभाविक होता है अुसकी शिक्षा मनुष्य को लेनी पड़ती है।

सवाल:—मैं नहीं जानता कि मधुमक्खियों में क्या खासियत है।

जवाब:—मधुमक्खियों में सामाजिक स्वास्थ्य के नियमों का पालन बड़ी सख्ती से किया जाता है। मधुमक्खी बीमार या घायल हो तो वह मलावरोध करके मर जायगी, मगर छत्ते को खराब नहीं करेगी।

सवाल:—यह तो कुछ अजीब-सा लगता है कि आप प्राथमिक शिक्षा में और सो भी देहाती शिक्षा में अर्थशास्त्र को स्थान देते हैं। हम तो कालेज में अर्थशास्त्र पढ़ते हैं।

जवाब:—मैं समझता हूँ कि जो भी सिक्के या मुद्रा का अिस्तेमाल जानता हो अुसे अर्थशास्त्र आना चाहिये। अुसके लिये बहुत गहरे अध्ययन की ज़रूरत नहीं है; लेकिन हमारे लोगों को अर्थशास्त्र की दृष्टि से विचार करना सीखना चाहिये। अुसके बिना वे वर्तमान स्थिति

को अच्छी तरह न समझ सकेंगे । किसान स्वाभाविक रूप से अितना तो जानते हैं कि 'हम जितनी मेहनत करते हैं अुसके अनुपात में हमें धन नहीं मिलता । दिन-ब-दिन महँगी होती जाती है । मेहनत-मज़दूरी करने वाले को भर पेट खाने को नहीं मिलता और सुस्त सेठिये अैश व अिशरत की ज़िन्दगी बसर करते हैं । पहले की अपेक्षा हमारी पैदावार के भाव अच्छे आते हैं, फिर भी पहले जैसा सुख अब नहीं रहा है ।' अैसी हालत में अिस शक से कि अपने को कोअी ठगता होगा, मनुष्य मनुष्य-द्वेष्टा बन जाता है या सारा दोष किस्मत के मत्थे थोपकर निराशावादी और हतोत्साह बनता है । अैसे किसानों को अगर हम सच्चा आर्थिक ज्ञान न दें तो वह स्फोटक द्रव्य की तरह समाज के लिये भयंकर बन जाता है ।

सवाल:—लेकिन अर्थशास्त्र पढ़ा हुआ आदमी बहुत ही स्वार्थी, लालची और निर्दय बन जाता है । कहा जाता है कि यूरप का महासमर अैसे अर्थ-शास्त्रियों ने ही छेड़ा और लड़ाया था । अिस बारे में आपका क्या कहना है ?

जवाब:—अिसीलिये तो अर्थशास्त्र के साथ धर्मशास्त्र रखा गया है । धर्मशास्त्र में अेकादशी का अुपवास, ब्राह्मणों को दान, तीर्थ में स्नान, और रात को भजन आदि बातें हमें नहीं सिखानी हैं । अुसमें तो यह बताना होगा कि सामाजिक कल्याण की व्यवस्था धर्म ने किस तरह की है ।

सवाल:—यह समझ में आ गया । अिससे अधिक आप ही आप ध्यान में आता जायगा । लेकिन कविता का शौक अिस स्वराज्य की लड़ाअी के समय किस काम का ?

जवाब:—अजी, कविता तो जनता का जीवन है । लड़ाअी जब पूरे जोश में चलती रहती है, तब भी सैनिक अपनी खाअियों में कविताअें या गीत गाते हैं । हम अिसीलिये तो निष्प्राण हो गये हैं कि हमने कविता का त्याग किया । भूगोल के विषय में आज किसी के मन में तनिक भी श्रद्धा नहीं है । शिक्षित लोग भी अिस विषय की अुपेक्षा करते हैं ।

लेकिन भूगोल का ठोस ज्ञान होगा तो ही आदमी अद्यतन—अप्-टु-डेट समझा जायेगा। सबसे अधिक अद्यतन विद्वान कहते हैं कि 'देश, धंधा और समाज ये तीन मनुष्य की प्रतिष्ठा हैं।'

सवालः—आपके पाठ्यक्रम में कुछ व्यवस्थित आयोजना तो मैं देखता हूँ; लेकिन अुसमें अितिहास क्यों नहीं है ? मैं अिसकी शिकायत नहीं करता कि अुसमें अुच्च गणित भी नहीं है, लेकिन अितिहास के बिना देशाभिमान कैसे जाग्रत हो ?

जवाबः—अितिहास देशाभिमान को जाग्रत करने के लिये होना ही नहीं चाहिये। अगर वैसा हो तो अुसे शराब के समान समझा जायगा। अितिहास के द्वारा हमें मनुष्य स्वभाव और अपने राष्ट्र की प्रकृति को समझ लेना चाहिये। अुस तरह का हिन्दुस्तान का अितिहास कहाँ लिखा हुआ है ? आज जो अितिहास हम पढ़ते हैं वह तो पुराने झगड़ों के गड़े मुर्दे अुखाड़ देता है और समाज में गंदगी फैलाता है। अैसा अितिहास न पढ़ें तो क्या बुरा है ? सच्चा अितिहास तो हज़म किये हुअे अन्न की तरह जनता के खून में संचार करता ही रहता है। अगर आप अितिहास ठीक तरह पढ़ा सकें तो वह संजीवनी विद्या है। लेकिन विदेशी लोगों द्वारा गलत दृष्टि से लिखा हुआ अितिहास जनता रूपी शरीर में खराबी पैदा करने वाला जहर है।

सवालः—आज चर्चा तो बहुत हुअी है; अब अेक ही सवाल पूछता हूँ। क्या किसानों को कानून का ज्ञान देने की जरूरत नहीं है ?

जवाबः—आप तो ग्रीक और रोमन लोगों के मानसिक चेले बन गये हैं। अिसलिये आपको क़ानून का अितना महत्त्व लगता है। पंचों द्वारा झगड़े मिटाने वाली जनता क़ानून के झंझट में क्यों पड़े ? फिर भी अगर आप कानून के जाल में फँस ही गये हैं तो भले ही कानून पढ़ाअिये। लेकिन मानवी कानूनों को अीश्वरी कानूनों से अधिक पवित्र समझने की वृत्ति न रखिये। धर्म के सामने, अन्तःकरण की शुद्ध वृत्ति के सामने कानून की कुछ भी बिसात नहीं। भगवान की दी हुअी और

मनुष्य-हृदय की अपनायी हुई सद्बुद्धि पर दृढ़ रहने में ही कल्याण है। वकील की तरह दाँव-पेंच करने की वृत्ति अेक बार पैदा हो जाती है तो आदमी लोभी, लुच्चा और डरपोक हो ही जाता है। फिर भी अिस न्याय से कि काँटे से काँटा निकालना चाहिये, लोगों को कानून की मामूली जानकारी शौक से दीजिये। असी तरह लगान का कानून, लैंड रेवेन्यु प्रोसीजर आदि जितने कानून किसानों के लिये आवश्यक हैं अुतने जरूर पढ़ाअिये, लेकिन किसानों को परावलंबी या कानूनावलंबी बनाने का पाप अपने सिर पर न लीजिये। आपका प्रधान कार्य तो गाँवों में जाकर समाज सेवा करना और नौजवानों में समाज सेवा की वृत्ति पैदा करना है। यह काम सात महीनों का नहीं है, सात बरस का भी नहीं वह सारी जिन्दगी का काम है। किसानों से आपको जीवन मिलता है, आप अुन्हें ज्ञान और प्राण प्रदान करें। यह महान यज्ञ-चक्र जब तक चलता रहेगा तभी तक समाज सुस्थिर रह सकेगा। धर्म का यह सनातन सिद्धान्त है कि जहाँ यह चक्र घूमता रहता है वहाँ पाप और परराज्य (गुलामी) सिर अुठाकर देख तक नहीं सकते। अितिहास का अनुभव भी अैसा ही है।

सवाल:—हमारी अिस बातचीत में मुझे बहुत सी सूचनाअें मिली हैं, अुन्हें मैंने लिख लिया है। अुन्हें बारबार पढ़ता रहूँगा तो, अैसा लगता है कि ठीक दिशा सूझेगी। अब आपके आशीर्वाद हैं न?

जवाब:—अेक महत्त्व की बात रह गयी है, लेकिन अुसकी काफी चर्चा 'नवजीवन' में हो चुकी है, अिसीलिये मैंने अुसका जिक्र नहीं किया। वह है सूत कातने का चर्खा। चर्खा तो स्वराज्य की मूर्ति है, स्वधर्म का सुदर्शन है। अुसके धर्म का तो आपने स्वीकार किया ही होगा।

सवाल:—जी हाँ! चर्खा धर्म की दीक्षा तो ली ही है। फिर भी अुसके बारे में अभी कुछ बातें जान लेने की अिच्छा है। लेकिन अुसके विषय में आगे कभी देखा जायगा। आज तो नमस्ते।

जवाब:—नमस्ते!

[३४]

ग्रामसेवक की कार्य-पद्धति

यह भी शुभ चिह्न है कि बारह-बारह बरस तक देहात में जाने की चर्चा करने के बाद अब कुछ समाज-सेवक देहातों में जाने को तैयार हो गये हैं। अैसे समय किस ढंग से रहना और किस तरह की प्रवृत्तियाँ चलाना आदि के बारे में ग्रामसेवक को कुछ प्राथमिक सूचनाअें मिलें तो वे अुनके लिये अुपयोगी साबित होंगी। गाँवों में जाने को तत्पर कुछ युवक अैसी सूचनाअें चाहते भी हैं। अिसलिये अुनके वास्ते निम्न-लिखित टिप्पणी तैयार की है। धीरे-धीरे अपने अनुभवों से वे अुसमें संशोधन और परिवर्द्धन करेंगे तथा अिस क्षेत्र की अुपयोगी चर्चा भी करेंगे।

(१) सेवक की स्वच्छता गाँवों की स्वच्छता से बहुत अूँची होनी चाहिये। शरीर, कपड़े, पानी, खाने की चीजें, घर के साज-सामान की रचना, आँगन, आदि सबको आदर्श स्वच्छता तक पहुँचाने का प्रयत्न वह करेगा। और यह सब फिनाअिल जैसी चीजों का अिस्तेमाल करके नहीं बल्कि अपने शरीर-श्रम से और मिट्टी, पानी, धूप, हवा आदि प्राकृतिक शक्तिओं का प्रयोग करके ही करना है।

(२) पेशाब और टट्टी के बारे में हमें अपनी आदतें सुधारने की बहुत जरूरत है। लोगों को अैसा लगना चाहिये कि अिस विषय में जो सफाअी न रखे वह असंस्कारी और अधार्मिक है। गांधीजी ने अिस विषय में बहुत-कुछ लिखा ही है। सेवकों को संकोच या शर्म न रखकर पहले से ही लोगों को अिसका वस्तुपाठ—अमली तालीम—देना चाहिये।

(३) भाषा के बारे में गाँवों की नीति बहुत हलकी होती है।

गालियों का अिस्तेमाल लगभग सार्वत्रिक है। हरिजनों, मजदूरों, दस्तकारों और नारी जाति के प्रति भाषा में तुच्छता ही रूढ़ है। अुसे दूर करने का सौम्य किन्तु दृढ़ प्रयत्न वह सतत करता रहता है।

(४) गाँवों के लोगों के मन में अुनकी धार्मिक धारणाओं, रिवाज तथा वहम मजबूती से जड़ पकड़े हुओ हैं। अुन्हें धर्म का शुद्ध, मंगलमय और जीवन-व्यापी स्वरूप समझाने की जरूरत है। अिस सम्बन्ध में सेवक अपने ही जीवन में धार्मिक और सामाजिक सुधारों का आचरण करता होगा। लेकिन यह देखना चाहिये कि अुससे लोग अुसे अधार्मिक न समझ बैठें। धार्मिक ग्रंथों का पाठ, विवरण, दो वक्त की प्रार्थना आहार-शुद्धि, जीवदया और संयम के विषय में सेवक को सतत जागरूक रहना चाहिये।

(५) अिस तरह की बातों में गाँवों के वायुमंडल और लोगों से सेवक कुछ जुदा-सा पड़ जायगा, लेकिन आम जीवन में अुसके रहन-सहन देहात के लायक़ ही होना चाहिये।

(६) सामाजिक सुधार का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। अनगिनत तरीक़ों से समाज की अुन्नति करने की ज़रूरत है। समाज जिस चीज़ को बिलकुल ही न अुठा सके, अुसके बारे में सेवक अगर अधिक आग्रह न रखे तो कोअी हर्ज नहीं है। लेकिन अुसके निजी जीवन और वायुमंडल में मिलावट, ढीलापन या ग़फ़लत हरगिज़ नहीं होनी चाहिये। ख़ास करके अस्पृश्यता-निवारण, स्वच्छ नैतिक सम्बन्ध, सामाजिक रस्मोरिवाज, किफ़ायतशारी, मनुष्य मनुष्य के बीच की समानता आदि बातों में अपना आचरण आदर्श रखने का वह प्रयत्न करेगा।

(७) गाँवों में कठिनाअियाँ और तंगी होने पर भी लोग सुस्ती में वक्त बरबाद करते हैं। सेवकों को चाहिये कि वे अिस वायुमंडल से मुक्त रहकर अपने हर क्षण का अुपयोग करके बतायें।

(८) बढ़अी, लुहार, राज आदि कारीगरों के औज़ार अिस्तेमाल करने की कला हर अेक को आनी चाहिये। अितनी कुशलता अगर

प्रजाव्यापी न हो तो जीवन दिन प्रति-दिन मुश्किल हो जायगा। सेवक स्वयं अिसका नमूना बन के अिसे शुरू करेगा।

(९) जबसे मटर बस का आक्रमण शुरू हो गया है तबसे आदमियों को मील-दो मील चलना भी दूभर मालूम होने लगा है। घंटों बस की राह देखेंगे और थोड़े से फ़ासले के लिये भी पैसा खर्च करेंगे। लोगों के अुद्योग-धंधे नहीं बढ़े हैं, आमदनी घटती जाती है, फिर भी लोग पैसा खर्च करने के मौक़े बढ़ाते जाते हैं। अिसके खिलाफ़ वस्तुपाठ देने की ज़रूरत है। बहुत जल्दी न हो और पाँच-सात ही मील जाना हो तो सेवक को पैदल ही जाना चाहिये। स्वास्थ्य की भी रक्षा होगी और लोगों के लिये अेक अमली सबक़ भी पेश किया जायगा।

(१०) सेवक का व्यक्तिगत जीवन भी अैसा होना चाहिये जिससे देहातों को शहरी चीज़ों, रंग-ढंगों और हालतों की बला न छूने पाये।

(११) देहातों में चाय, लेमोनेड और मिठाअी आदि बनी-बनायी चीज़ें जबतब खाने की लत बढ़ती जा रही है। वह बहुत सी बीमारियों की जड़ है। सेवक अपने आहार में सादगी और नियमितता रखें, मिर्च-मसाले, मिठाअी आदि की मात्रा कम करें; साफ़, ताज़े पौष्टिक आहार का आग्रह हर जगह रखें और लोगों को शुद्ध आहार का महत्त्व समझायें।

(१२) हर गाँव में दलबन्दियाँ तो होती हैं। सेवक को अुस वायु-मंडल से बिलकुल अलिप्त रहना चाहिये। शिष्टाचार के लिये 'मैं तो सब का हूँ।' कहने की अपेक्षा 'मैं किसी का नहीं हूँ, मैं तो अपने मिशन का हूं' अैसा ही लोगों को साफ़-साफ़ कह दिया जाय तो अच्छा।

(१३) पंचायत या कमेटी का काम कानून के ज्ञान पर या व्यवहार-कुशलता पर नहीं बल्कि निर्णय देनेवाले की सर्वोच्च नैतिक प्रतिष्ठा पर निर्भर रहता है। अिसलिये सेवक को बहुत समय तक पंचायत के झंझट में पड़ना ही नहीं चाहिये। लोग अदालत में जाते हों, बरबाद होते हों, तो दोनों पक्षों को मामूली सलाह या अुपदेश देकर सन्तोष मानना चाहिये। फिर भले ही शुरू में अुसका कुछ असर न हो।

(१४) गाँवों को हर रोज़ का अनुभव आदत के कारण मामूली मालूम होता है लेकिन अैसा अनुभव अेकत्र करने से कीमती अनुमान लगाये जाते हैं और बड़े-बड़े सिद्धान्त रचे जाते हैं। अिसलिये हर सेवक को प्रतिदिन अपनी वासरी (डायरी) लिख रखनी चाहिये। अुसमें लम्बे-लम्बे वर्णन और भावुकता की लहरें न हों, अुसमें तो मय आँकड़ों के निश्चित ब्यौरे होने चाहिये।

(१५) सेवाकार्य में लोकशिक्षा, आवरणवर्ग, गाँव की सफ़ाअी, पेशाब व संडास का प्रबन्ध, स्वास्थ्य की रक्षा तथा संवर्धन, अखाड़े, धार्मिक तथा राष्ट्रीय अुत्सव, स्थापत्य, रास्ते आदि सार्वजनिक सुविधाअें, पुस्तकालय, वाचनालय, वस्त्रस्वावलंबन, तथा गाँवों के छोटे-छोटे अुद्योगों का पुनरुद्धार, किसान का हिसाब रखने का काम, अस्पृश्यता-निवारण, वहमों का नाश, समाज-सुधार आदि लोक-शिक्षा की प्रवृत्तियाँ चलानी होंगी।

नोट :—ग्रामसेवा की कल्पना गांधीजी ने 'ग्रामदीठ के सेवादीठ' और 'ग्रामसेवा तथा ग्रामसेवक' अिन दो लेखों में दी है। अुस आदर्श को दृष्टि के सामने रखकर सेवक को काम करना है। अुसी तरह 'गाँवों की मदद में' लेखमाला भी दिशासूचक समझनी चाहिये।

---

[३५]

सवाल-जवाब

सवालः—देहात के लोगों के दिल कोरे कागज़ के समान होते हैं। अुनके सामने अैसी कौन सी बात पहले रखी जाय जो अुनके दिल को अपील करे और हमारा सब काम आसान बन जाय?

जवाबः—हमारी जनता के मन में बुढ़ापा आ गया है। अुनके सामने आप चाहे जो काम रखिये, वे आपको आम तौर पर अैसा ही जवाब देंगे कि, 'अिससे कुछ भी नहीं हो सकता।' यह कहकर कि 'अिसमें फलाँ आपत्ति आयेगी, अमुक कठिनाअी आयेगी' वे अपनी निराशा ही व्यक्त करते हैं। लेकिन अिसमें शक नहीं कि अुन्हें फिर से जवान बनाया जा सकता है। पर अुसके लिये हमें खास प्रयत्न करने चाहिये। जनता को कुछ नया चाहिये। पुराना हो तो भी अुसे अुसके सामने नये ढंग से रखना चाहिये। हम देखते हैं कि अेक मामूली मंडल चलाना हो तो कितनी दिक्कतें पेश आती हैं। कोअी अिकट्ठे ही नहीं होते। लेकिन अेक थिआसाफिस्ट आता है और अपना अेक अलग मंडल बनाने की बात करता है तो कअी कालेज के विद्यार्थी अुसके पास जमा हो जाते हैं। फिर वे अंग्रेजी समझते हों या न समझते हों, या आधा-कच्चा समझते हों तो शायद अुसका महत्त्व अधिक माना जाता है। अिस तरह कुछ नयी बात आती है तो वहाँ सब में अुत्साह पैदा होता है। हम अुनकी नकल न करें, लेकिन अुससे सबक तो जरूर सीख सकते हैं। हम बालक वृत्ति पैदा कर सकते हैं—लोगों में अुत्साह आने जैसा हम कुछ करें तो लोग हमारा कहना झट मान जायेंगे। लोगों को शुरू में कुछ नयी बात दे देनी चाहिये। यह तो मैं अभी न

कह सकूँगा कि वह बात कौन सी हो। स्थल और समय के अनुसार असकी कल्पना अलग-अलग ही होगी। लेकिन अितना कहा जा सकता है कि गाँवों में काम करने के लिये जाने वाले लोगों में हँसने, खेल खेलने और बच्चों में प्रिय हो जाने की सामर्थ्य तथा कला होनी चाहिये। अुसे देखकर लोगों को अगर अैसा लगे कि यह तो जीता-जागता आदमी है, तो ज़रूर कुछ न कुछ किया जा सकेगा।

सवाल:—अगर हम हरिजनों को छूते हैं तो गाँव के बड़े-बूढ़े बिगड़ अुठते हैं और अगर नहीं छूते हैं तो हरिजन हमें झूठा समझते हैं। अैसी हालत में हम हरिजनों के पक्ष में रहें या गाँव के दूसरे लोगों के पक्ष में?

श्रीकिशोर लाल मशरूवाला:—दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह के सिलसिले में गांधी जी को अिंग्लैंड जाना पड़ा। वहाँ अुन्हें अेक गोरा स्वयंसेवक मिल गया। गांधी जी ने अुससे पूछा, 'आप कितना समय दे सकेंगे?' स्वयंसेवक ने कहा, 'जितना आप चाहें। अिस काम में मैं कोअी पारिश्रमिक के लिये नहीं पड़ता। मैं तो अिसीलिये अिसमें भाग लेता हूँ कि आपका पक्ष दलितों का, निर्बलों का है।' हमें भी अिसी तरह दलितों-दुर्बलों का पक्ष लेना चाहिये। अिससे काम में विघ्न आयेंगे, काम कम होगा; फिर भी सिवाय अिसके अेक भी धर्म-मार्ग अैसी स्थितियों में मैं नहीं देखता।

सवाल:—अैसा करने से अगर गाँव में रहने के लिये मकान न मिले तो?

कि. म. :—तो हरिजनों की बस्ती में जाकर रहें; वहाँ न रहा जाय तो दूसरे गांव चले जायँ; लेकिन धर्म-मार्ग तो यही है।

सवाल:—देहातियों की सेवा करने के लिये गाँवों में जायँ और वहाँ अैसा कर बैठें तो फिर देहातियों की सेवा दूर रहेगी और हमें सिर्फ हरिजन-सेवक ही बनना पड़ेगा।

कि. म. :—जब आन्दोलन चल रहा था तब भी तो हम अछूतों

को छूते थे। अुस वक्त देहातियों को जरूरत थी, अिसलिये वे अुसे चला लेते थे। अब अगर वे फिर से अपनी आदत पर जाना चाहें तो अुस कारण हम अछूतों से थोड़े ही दूर रह सकते हैं? जिन्हें परवाह है अुनकी मदद कीजिये तो काफी है।

सवाल:—परवाह तो किसी को भी नहीं होती; अुसे तो पैदा करना होता है।

कि. म.:—अगर अैसा हो तो हम भले ही पहले हरिजन सेवक बन जायँ। जब गांधी जी अहमदाबाद रहने गये तब अुनकी भी अैसी ही हालत हुआी थी। अुस वक्त अुन्होंने लोगों से कह दिया था कि 'मैं अपनी सेवा अपनी शर्त्त पर ही दे सकूँगा।' अेक बार अैसा किया जाता है तो धीरे-धीरे लोग तैयार हो जाते हैं। लेकिन फर्ज कीजिये कि अैसा नहीं होता; तो भी हरिजन-सेवा का तिरस्कारपूर्वक त्याग करके औरों की सेवा की ही नहीं जा सकती।

सवाल:—कहीं-कहीं हम अगर अछूतों को छूते हैं तो लोगों को अुसमें आपत्ति नहीं होती। कुछ युवक भी हमारे साथ हरिजनों के पास बैठने के लिये तैयार हो जाते हैं, अैसी हालत में जो बड़े-बूढ़ों का वर्ग अछूतों को छूना न चाहता हो वह अगर अलग बैठे तो कैसा रहेगा?

जवाब:—कुछ हर्ज नहीं, बूढ़े अगर बहिष्कृत रहना चाहें तो अुन्हें रहने दिया जाय।

सवाल:—हम अछूतों को छूते हैं और अुन्हें अैसा लगता है कि अिसमें अिन लोगों का कुछ स्वार्थ तो नहीं होगा? अैसी हालत पैदा हो जाय कि कोआी मुँह ही न दिखाये तो हम क्या करें?

जवाब:—जब अैसी स्थिति पैदा हो जाती है तब सेवक की सच्ची कसौटी होती है, सेवक मान-अपमान, आदर-अनादर सब कुछ अेक-सा समझने लगे और अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ शून्यवत् बनकर रहे।

सवाल:—आन्दोलन के समय गाँवों में जाने के बाद सिर्फ

आन्दोलन ही प्रधान अुद्देश्य रहे या स्थायी ग्राम सेवा ? आन्दोलन चलाना ही प्रधान अुद्देश्य हो तो क्या करना चाहिये ?

जवाबः—खूब धीरज रखा जाय। अिसमें कोअी आश्चर्य नहीं कि लोग पहले विरोध करेंगे। आश्चर्य की बात तो यह है कि लोग शुरू में विरोध करते हैं मगर आखिर में मान जाते हैं।

सवालः—अिस वक्त क्या किया जाय ?

जवाबः—विदेशी कपड़े का बहिष्कार, नशाबंदी, विदेशी नमक का बहिष्कार आदि काम हमें जारी रखने हैं। साम्प्रदायिक मनमुटाव को ज़रूर मिटा देना है। फिर खादी का काम तो है ही।

सवालः—धोती, गजी, सल्लम आदि सफेद कपड़ा स्वदेशी लेने को कहें तो लोग लेते हैं मगर गाँव के लोग जब औरतों के लिये, साफे के लिये और शादी-ब्याह वगैरह खास मौकों के लिये जो रंगीन कपड़े चाहते हैं वे विलायती ही होते हैं। अतः हमें अुस तरह का रंगीन कपड़ा तैयार करने की कोशिश करनी चाहिये या लोगों को अपनी आदतें छोड़कर बाज़ार में मिल सके अैसे चाहे जिस तरह के कपड़े से ही काम चलाना सिखाना चाहिये ? पिकेटिंग या धरने के अनुभव से मेरा यह सवाल पैदा हुआ है।

फिर गाँव के लोगों को समझाने से आम तौर पर वे विदेशी कपड़ों का आग्रह छोड़कर वापस चले जाते हैं; लेकिन शहर के मुसलमान लोग नहीं मानते। गाँवों के मुस्लिमों के बारे में भी वही दिक्कत पेश आती है। अुन्हें समझाने के लिये क्या किया जाय ?

रिवाजों को बदल डालने का काम तो बहुत मुश्किल लगता है।

जवाबः—जिसे आप मुश्किल समझते हैं वह मुझे आसान लगता है। जब तक हम पिकेटिंग के लिये खड़े हैं तब तक हमारा धर्म यही है कि बाजार में जो देशी कपड़ा मिले अुसी से काम चला लेने के बारे में हम ग्राहकों को समझायें। जो लोग कपड़े की अुत्पत्ति में लगे हुअे हैं वे यह देख लेंगे कि लोगों में कैसे कपड़े के प्रति मोह है। यह काम

अुनका है कि लोगों की अिच्छा के अनुसार विविध प्रकार और रंग का कपड़ा बाज़ार में लाया जाय। वह हमारा काम नहीं है। अगर हम लोगों की शर्त पर सेवा करने जायँ तो हमें तबाह ही हुअे समझिये। हम जैसे प्रचारकों को वह न पुसायेगा। हमें तो अिस तरह विचारना होगा कि लोगों में व्याह के समय अमुक प्रकार का ही कपड़ा चाहिये—आदि जो रिवाज पड़ गये हैं अुन रिवाजों का निर्माण भी तो किसी आदमी ने ही किया होगा; तो फिर हम भी अुसी की तरह नये निर्माता क्यों न बनें? हमें यह कला प्राप्त करनी ही चाहिये।

अिस सिलसिले में मैं अेक मिसाल आपके सामने पेश करता हूँ। स्वामी-नारायण सम्प्रदाय का अेक साधु था। अुसने अेक खास व्यक्ति को स्वामी नारायण पंथ में शामिल करा लेने का निश्चय किया था। लेकिन वह व्यक्ति साधु के चाहे जितनी कोशिश करने पर भी अुसकी बात को मंजूर नहीं करता था। मगर अिससे वह साधु निराश न हुआ। वह तो अुसके पीछे लगा ही रहा। आखिर जब अुस व्यक्ति को अपने पंथ में भरती करा दिया तब कहीं जाकर साधु को तसल्ली हुअी। यह धार्मिक अुत्कटता अेकबार हम में आ जाती है तो फिर कुछ भी असंभव नहीं है। लोगों की अुन्नति का काम अैसी धार्मिक अुत्कटता से ही होता है। शहनशाहों की सत्ता भी अुसके सामने कुछ बिसात नहीं रखती। वह सत्ता तो ज्यादा से ज्यादा अितना ही कर सकती है कि लोगों को नीचे गिरा दिया जाय।

और मुसलमान हमारी बात नहीं सुनते अिसका कारण यही है कि हमने अुनकी कुछ सेवा की ही नहीं है। अतः अुन्हें समझाने का अुपाय सेवा ही है।

सवाल:—अिस तरह से तो आन्दोलन का काम पूरा होने में सालहों लग जायेंगे।

जवाब:—भले ही लग जायँ। गांधी जी ने तो कहा ही है कि 'अहिंसा के मार्ग से स्वराज्य लेने में अगर तीन सौ साल लग जायँ तो

भी मैं अहिंसा को नहीं छोड़ूँगा।' अगर आप अिस बात का खयाल करेंगे कि हम कितने बरसों से गिरे हुअे हैं तो आपको यह महसूस हुअे बिना न रहेगा कि पन्द्रह साल में गांधी जी के नेतृत्व में हम जो अितना कर सके हैं अुसके लिये हमें भगवान को धन्यवाद देने चाहिये।

सवालः—गाँवों में गँवअी फंड या चन्दे होते हैं। वे होते तो हैं सारे गाँव के, लेकिन ज़मीनदार लोग अुन्हें हज़म करके बैठे होते हैं। अुसपर क़ाबू पाने के लिये दूसरे लोग अगर हमारी मदद माँगें तो हमें क्या करना चाहिये?

जवावः—दुनिया के सभी अन्यायों को अेक ही दिन में नहीं मिटाया जा सकता। हम अेक बड़े और अहम दुश्मन के खिलाफ जंग का अैलान करें और अुसमें आने वाली बड़ी-बड़ी दिक्कतों को दूर करने की कोशिश करें। बाकी सब यथाक्रम होता रहेगा। यूँ तो सास और बहू के झगड़े कहाँ असहनीय नहीं होते? वे अगर कहें कि हमारा झगड़ा मिटा दो, तो हमारा बेड़ा कब पार लगेगा? हम यह ढोंग न रचें कि हम देहातियों के सभी दुःख दूर करने वाले परदुःख-भंजन विक्रम राजा हैं। फ़र्ज़ कीजिये कि नदी के अिस पार भूचाल हुआ है। अब अगर अुस पार जाने के लिये अिस पार के सभी लोग अेक साथ नाव-पर चढ़ बैठें तो नाव और अुसपर बैठने वाले लोग दोनों ही डूब जायेंगे, अिसलिये समय तथा शक्ति देखकर हम में कामयाब होने की जितनी हिम्मत होगी अुतना ही काम हम सिर पर ले लें और दूसरे काम के लिये कह दें कि हाँ भअी! आपका कहना ठीक है। न्याय आपके पक्ष में है। लेकिन मेरी सामर्थ्य सीमित है। अिसलिये फिलहाल अिस बारे में मुझसे कुछ न हो सकेगा।

सवालः—फिर जब ज्यादा ज़ोरदार आन्दोलन छिड़ जायेगा और अुसमें सभी लोग शामिल न होंगे तो?

जवावः—न आयें तो अच्छा ही है। अगर झूठे वचन दे देकर और चाहे जो करके हमने लोगों को आन्दोलन में खींचा होगा तो हमें

अुसका प्रायश्चित्त करना होगा। हम तो यही चाहते हैं कि लोग थोड़ा साथ दें, लेकिन पूरी तरह समझ बूझकर। गांधी जी के सिद्धान्तों पर दृढ़ रहते हुअे अगर हम अकेले पड़ जायँ तो भी अुसमें डरने जैसा कुछ नहीं है। पौ फटने से पहले तो घना अँधेरा रहता ही है।

सवालः—डाका पड़े तो क्या करना चाहिये?

जवाबः—जो कुछ हाथ में आये अुसका अिस्तेमाल करके लड़ना चाहिये। लेकिन अगर हम में पूरी अहिंसा आ गयी हो तो हम बगैर हथियार के आगे जाकर मर जायँ।

सवालः—विदेशी कपड़ा बेचने में दूकानदार का स्वार्थ रहता है, अिसलिये अुसे समझाया नहीं जा सकता। अुसे किस तरह समझाया जाय?

जवाबः—व्यापारी को समझाने की अपेक्षा यह अधिक ज़रूरी है कि धरना देने वाले ग्राहकों को समझाने की ओर ज्यादा ध्यान दें।

सवालः—जिस कपड़े को हम पाप मानते हैं अुसे विदेश भेज देना क्या तात्त्विक दृष्टि से अुचित है?

जवाबः—जी हाँ, अुचित है। मेरी थाली में रखी हुअी खाने की चीज़ दूसरों के लिये जूठी है, लेकिन मेरे लिये वह जूठी नहीं है, अिस तरह अेक जगह जो पाप है वह दूसरी जगह पाप न भी हो। जिस देश में रूअी पैदा नहीं होती और जहाँ कपड़े का स्वदेशी व्यवसाय नहीं है—मसलन् आफ्रिका वहाँ विदेशी कपड़ा भेज देने में कोअी बुराअी नहीं है।

सवालः—पुराने ज़माने से चीन आदि बाहर के देशों से हमारे यहाँ रेशम आता था। तो क्या फिर भी विदेशी रेशम का कपड़ा बेचने में आपत्ति है?

जवाबः—जो चीज़ हमारे यहाँ आसानी से हो सकती है अुसे हम विदेश से न मँगाये। आज भी हिन्दुस्तान के कअी हिस्सों में रेशम का व्यवसाय जीवित है। वह अनजान आदमियों के हाथ में जाने से अव्यवस्थित रूप में है, लेकिन अगर हम ध्यान दें तो आवश्यकता के लिये पर्याप्त रेशम हिन्दुस्तान में आसानी से पैदा किया जा सकता है।

[३६]

गांवों की ओर*

बहुत पुराने ज़माने से मनुष्य की दुनिया गांवों की ही बनी हुई है। प्राचीन काल में व्यापार के कुछ केन्द्र और राजाओं की राजधानियाँ इतने ही शहर थे। वह भी आज के शहरों की तरह नहीं थे। जब से यंत्र युग का प्रारम्भ हुआ है तब से आज के बड़े-बड़े राक्षसी शहरों ने अपना सिर ऊँचा किया है। मानवी संस्कृति में यह एक नयी ही बात है।

शहरों की उत्पत्ति दर असल गाँवों की कुछ आवश्यकताओं के कारण होती है। अनेक गाँवों के लोग अपनी पैदावार का विनिमय करने के लिए एक खास स्थान पर जमा होने लगे। उस स्थान को बाज़ार का स्वरूप प्राप्त हुआ। ऐसे महत्व के स्थान की रक्षा ज़रूरी समझी गयी। फिर ऐसी सहूलियत देखकर वहाँ स्थायी आबादी बढ़ गयी और बड़ा शहर बन गया। इस तरह यह हालत थी कि जहाँ देहातों की सुविधा की रक्षा बराबर की जा सके ऐसा स्थायी प्रबन्ध ही शहर है। आज इससे बिलकुल विपरीत हालत पैदा हो गयी है। जिस तरह आदमी अपनी ज़रूरतों के लिये जानवर रखता है उस तरह शहर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये देहात रखता है। यह धारणा बन गयी कि मनुष्य समाज का प्रधान भाग शहर है, मनुष्य जाति का व्यक्तित्व सोलहों आने शहरों में ही प्रकट होता है। यही धारणा अब तक चली

---

* संवत् १९९० की पर्युषणपर्व-व्याख्यान-माला में दिया हुआ भाषण।

आ रही है। कुछ विचारी लोगों तथा काव्यमय जीवन के रसिकों ने गाँवों का महत्व गाया; अिसलिये लेखों और सम्भाषणों में गाँवों की प्रतिष्ठा बढ़ी। लेकिन स्वेच्छा से शहर छोड़कर हमेशा के लिये गाँव में रहने वाला तो कोअी निकला ही नहीं। अेक आदमी ने तो यह कहावत ही बना डाली कि 'हो जाय क़हर तो भी मत छोड़ो शहर।' अिसी निष्ठा से लोग शहरों की ओर दौड़ते आये हैं। शहरों ने गाँवों को चूसना शुरू कर दिया। गाँवों का धन शहरों में जाने लगा। फिर धन के पीछे-पीछे पुरुषार्थी, पराक्रमी और धन-लोलुप लोग बड़ी तादाद में शहरों की ओर दौड़ पड़े। अिस तरह गाँवों का दुगुना शोषण शुरू हुआ। गाँवों का अनाज, गाँवों के फलफूल, पशुपक्षी सब कुछ शहर की सेवा में लग गये। फिर गाँव के कार्यकुशल, होशियार लोग भी शहर की ओर चलने लगे। अिसे 'करीयर' कहा जाने लगा।

कभी न देखा हुआ वैभव शहरों ने विकसित कर दिखाया। पुराने समय के ज्यादातर अुद्योग-धन्धे और कारीगरी के काम गाँवों में ही चलते थे। अुनके बदले शहरों ने बड़े-बड़े कल-कारखाने खड़े किये। तेल, भाप और बिजली की मदद से सारी दुनिया को माल मुहैया (सप्लाअी) करने का ठेका अिन कल-कारखानों ने अपने सिर पर ले लिया। जो देहात पहले कच्चे माल से पक्का माल तैयार करते थे वे अब शहर में बने हुअे या विदेश से आये हुअे माल के सिर्फ़ ग्राहक बन गये। सम्पत्ति का निर्माण करने की कला के बदले अुसे खर्च कर डालने की कला को गाँवों ने अपनाया और मान लिया कि अिस तरह देहात संस्कारी बनेंगे। अेक के बाद दूसरे सभी अुद्योग-धन्धे गाँवों से खिसकते जा रहे हैं और विलायत या जापान से आनेवाली अच्छी-बुरी चीज़ें देहातों का धन छीनने लगी हैं। अुद्योग-व्यवसाय के अभाव में मनुष्य ग़रीब होता है; अितना ही नहीं बल्कि पशु के समान असंस्कारी बन जाता है। मनुष्य की मनुष्यता में दो ही बातें प्रधान हैं: त्याग शक्ति और सूझ शक्ति। जहाँ अुद्योग-धन्धे हों वहीं यह सूझ-शक्ति विकसित हो

सकती है। बेहद ग़रीबी आ जाने पर त्याग शक्ति भी घटती जाती है। श्रिस तरह दोनों प्रकार से हमारे देहात श्रिन्सानियत से हाथ धोने लगे हैं। अगर श्रिसी को हम चलने देंगे तो करोड़ों की जनता में मनुष्यता छूट जायेगी और बड़ी खतरनाक हालत पैदा होगी। अुस स्थिति को शापरूप ही समझना चाहिये। अुससे बचना हो तो अभी से हम प्रायश्चित्त करना शुरू करें।

फ़र्ज़ कीजिये कि कोअी स्वार्थी सर्वेसर्वा यह फ़रमान निकालता है कि गाँवों की चीज़ें शहर में न आयें और शहर की चीज़ें गाँवों में न जायँ तो गाँवों को बड़ी कठिनाअियों के साथ रहना पड़ेगा; फिर भी वे सुख से या दुख से जी तो सकेंगे; मगर शहरों के लिये तो अुस हालत में ज़िन्दा रहना भी नामुमकिन हो जायगा। अैसी स्थिति होने से गांवों का स्थान अूपर रहना चाहिये और शहरों का नीचे। लेकिन गाँवों के माल का बाज़ार-भाव निर्धारित करने में शहर ज़बर्दस्त बन गये हैं और बेचारे गाँव ज़ेरेदस्त (मातहत)। श्रिस स्थिति को बदल डालना होगा।

आज के ज़माने में जो बड़े बड़े जगद्व्यापी द्रोह मानव जाति को सता रहे हैं अुनमें यह सबसे बड़ा है। अन्याय के भीषण स्वरूप को देखने के बाद डरे हुअे या दबे हुअे न रहकर या निराश न होकर अुसके खिलाफ़ जूझने के लिये अुत्साह के साथ तैयार हो जाना चाहिये। क्या युवक, क्या वृद्ध, क्या पुरुष क्या स्त्री, ब्राह्मण क्या हरिजन, सबको अैसा ही लगना चाहिये कि दूसरी चाहे जो ग़लती हो जाय, मगर श्रिस युग-धर्म में हम न चूकें; क्योंकि हमारे ज़माने की कसौटी श्रिसी पर से होने वाली है कि हमने अपनी स्त्रियों, हरिजनों और देहातों के प्रति किस तरह का बरताव रखा।

---

[३७]

ग्राम-देवता

हिन्दुस्तान के किसी भी हिस्से में जाअिये, वहाँ के हर गाँव में ग्राम-देवता का एक देवालय होता ही है। गाँव की तुलना में अेक भव्य किन्तु अिस वक्त कुछ जर्जरित-सा मन्दिर, अुस मन्दिर का अेक वंश परंपरागत पुजारी, मन्दिर के खर्चे के लिए दी हुअी भूमि या मिलने वाला वार्षिक धन, और निश्चित किये हुअे सार्वजनिक अुत्सव या समारोह, यह सब होता ही है। गाँवों के मूल निवासियों की अत्यन्त आदरणीय वस्तु यह ग्राम देवता ही है। गाँवों में जातियाँ चाहे जितनी हों, पन्थ चाहे जितने हों, झगड़े चाहे जितने हों, आपस में फूट और पक्ष चाहे जितने हों मगर ग्राम-देवता के मन्दिर में तो सारा गाँव जमा होता ही है। ग्रामदेवता को कोअी नहीं छोड़ सकता और ग्रामदेवता भी किसी को अलग नहीं कर देता। अमीर हो या ग़रीब, गाँव में कोअी अैसा नहीं होता जो ग्रामदेवता के अुत्सव में चन्दा न देता हो – अगर हो तो भी ज्यादा दिन नहीं टिकता।

हिन्दुस्तान में हिन्दू लोगों की आबादी ज्यादा होने से ज्यादातर गाँवों में ग्रामदेवता हिन्दू ही होता है। लेकिन जहाँ मुसलमान या अन्य जाति की बस्ती कअी पीढ़ियों से अधिक होती है वहाँ का ग्रामदेवता अुस बस्ती के अनुरूप वेष धारण करता है। ग्रामदेवता के मन्दिर में जिस तरह पन्थभेद नहीं होता अुस तरह धर्मभेद भी नहीं होता। हिन्दू ग्राम देवता के सार्वजनिक अुत्सव में अीसाअी और मुसलमान लोगों को शरीक होते मैंने अपनी आँखों से देखा है। और अिसलामी ग्रामदेवता के मन्दिर में हिन्दू लोग पूजा करते हैं अैसी लाखों मिसालें पायी जाती

हैं। वास्तव में ग्राम देवता की पूजा-अर्चा या मान-पान (आदर-सम्मान) देखिये तो मालूम होगा कि अुससे अैसी अनेक विधियाँ और प्रकार चलते हैं जो शुद्ध हिन्दू या शुद्ध अिस्लाम धर्म को मंजूर नहीं है। ग्रामदेवता शास्त्रलिखित धर्म के नहीं किन्तु अुस अुस स्थान के परम्परागत रूढ़िधर्म के ही प्रमाण को स्वीकार करता है। अिस धर्म में तर्क और युक्ति के लिये स्थान नहीं होता। जनता की श्रद्धा और धवलशीर्ष रूढ़ि ही अिस धर्म का शास्त्र है। यही धर्म जीवित धर्म है। यही धर्म समाज का, राष्ट्र का प्राण है। यही धर्म राष्ट्र का जीवन है। अिस रूढ़ि-धर्म के के तत्वों और आचार-विचार के अच्छे-बुरेपन पर राष्ट्र और समाज के जोश और मज़बूती का, या अुससे विपरीत निरुत्साह और कमज़ोरी का आधार है। शास्त्र धर्म मानने का होता है, जबकि रूढ़ि धर्म पालने का होता है। शास्त्र धर्म में व्यक्ति के मतभेद का अवसर रहता है जब कि अिस लोकाचार धर्म में मतभेद नहीं चल सकता। अिस धर्म का जातिभेद अलग, पुराण अलग, नीतिशास्त्र अलग, औचित्य विचार अलग—सब कुछ अलग और स्वतंत्र। दूसरे धर्मों को राजाश्रय की ज़रूरत पड़ती है, लेकिन यह धर्म जनता-रक्षित होता है। अिस धर्म के सामने पंडित की नहीं चलती, राजा की नहीं चलती, धर्म-विजेताओं की नहीं चलती, सुधारकों की नहीं चलती, मिशनरियों की नहीं चलती।

हिन्दू धर्म के आदि संस्थापकों ने अत्यन्त दूरदर्शिता से अिस रूढ़ि धर्म का, लोकाचार का अुपजीवन करके लौकिक आचारों, व्यवहारों और दन्त कथाओं को लेकर अपने दिव्य तत्वों और समाज-व्यवस्था को राष्ट्र के जीवन-स्रोत में प्रवाहित कर दिया है। पेशवाओी या दीवानी अधिकारों का स्वीकार करके जिस तरह साम्राज्य हस्तगत किया जाता है अुसी तरह अिस ग्राम देवता की दुहाओी देकर और रूढ़ि धर्म को दुखाये बिना किये हुओे प्रयत्न सफल होते हैं। अिसी तत्व पर यजुर्वेद लिखा गया। अिसी तत्व के आधार पर खंडोबा, मल्हारी, भैरव, बहुचरा, चामुंडा, बलिया काका, मनसा, काली आदि ग्राम-देवताओं को शंकर, विष्णु या लक्ष्मी-

पार्वती का अवतारत्व प्राप्त हुआ। आज अगर हमें समाज में—राष्ट्र में नया जीवन, नया प्राण, नया चेतन अुत्पन्न करना हो तो हमें फिर से अिस ग्राम देवता को अुपासना शुरू करनी चाहिये। फिर से ग्राम मन्दिर का जीर्णोद्धार करना चाहिये। हमने ग्राम देवता की अुपेक्षा की, अिस-लिये हम अस्तव्यस्त और वीततेज हुअे हैं।

योरुपीय लोग जिसे 'सिविक लाअिफ़' या 'सिविकिज्म' कहते हैं, बौद्ध लोग 'संघ' नाम देकर जिसकी शरण में जाते हैं वही हमारा ग्राम देवता है। नेपाल में संघ में देवता का आरोपण करके अुसकी मूर्ति बनाकर पूजा की जाती है। हमने स्थानीय देशाभिमान को ग्राम देवता माना है। संघ में शक्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं तो ग्राम देवता का आविर्भाव होता है। संघ शक्ति ही ग्राम देवता है। संघे शक्तिः कलौ युगे। अिसलिये ग्रामदेवता ही आज का युगदेवता है। राष्ट्र देवता की वह एक विभूति है। [अहं विभूत्या बहुभिरिहं रूपैश्च संस्थिता।] राष्ट्र कार्य के अवसर पर ही वह 'समस्त देवानां तेजोराशि समुद्भवा' राष्ट्र देवी आविर्भूत होती है। अिसलिये ग्राम देवता की आराधना करनी चाहिये।

जिसकी यह अुत्कट अिच्छा हो कि हमारा समाज प्राणवान हो, अुसे बिना किसी तरह की ढीलढाल के यह अुपासना शुरू करनी चाहिये। अपने गाँव में जो देवता होगा अुसकी पूजा अर्चा शुरू की जाय। जहाँ वह न हो वहाँ अेक मन्दिर बनाकर आज के युग धर्म के अनुरूप अुस मन्दिर का कार्यक्रम रखा जाय और मन्दिर को ग्रामीण जीवन का, सार्वजनिक जीवन का केन्द्र बना दिया जाय। ग्राम देवता ग्रामीण जीवन का प्राण हो। गाँव की रक्षा, भरण, पोषण और कल्याण ग्राम देवता करे। सभी अपने श्रम की पैदावार—फल—देवी को समर्पित करे और अुसमें से नियत* भाग मन्दिर में रखकर बाक़ी के भाग को देवी का

*स्वराज्य में यह भाग शास्त्र के अनुसार पैदावार का दो पंच-मांश ⅖ होना चाहिए।

प्रसाद समझकर जीवन-यात्रा चलाने के हेतु ग्रहण करे । देवी का भंडार निरंतर भरपूर रखा जाय । अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि लोक क्षोभ के अवसर पर देवी के बालकों का पोषण देवी के भंडार से हो और दुःख का अवसर टल जाने पर समृद्धि प्राप्त होते ही मन्नत के बहाने सब लोग भंडार से मिली हुअी मदद मय सूद के वापस करें । देवी के भंडार में सभी को अपनी थाती रखने का सुभीता हो । अिस तरह जमा हुअी रक़म को पंच देवी के नाम पर किसी लाभदायक काम में लगाअें और फिर अुससे मिलने वाले मुनाफे का अमुक हिस्सा थाती वाले को प्रसाद के तौर पर दिया जाय । गाँव की सारी भूमि पर देवी की रखवाली रहती है । अिसलिये गाँव में सर्वत्र सफाअी रखनी चाहिये । यह सफाअी देवी के खर्च से मन्दिर के व्यवस्थापक रखें । कुअें, बावलियाँ, तालाब, कुंड, नदी आदि देवी के तीर्थ हैं । अुन्हें गन्दा करने से देवी का कोप होता है और बीमारियाँ फैलती हैं; अिसलिये अिन सब तीर्थोंपर देवी की ओर से पंच देख-रेख करे । अेक ही ग्राम देवता के बालकों के लिये आपस में झगड़ते रहना अनुचित है । अिसलिये माता का स्मरण करके पंच की सलाह से अपने झगड़े मिटाने चाहिये । बालकों को माँ के पास जाने में कभी रुकावट नहीं होती । अिसी तरह ग्रामदेवी की श्रद्धा पूर्वक पूजा-अर्चा करने की किसी को भी मुमानियत नहीं होनी चाहिये । ग्रामवासी बालकों को—हर बच्चे—को माता का पयःपान समझकर विद्यादान कराना ही चाहिये । मन्दिर में ही अेक पाठशाला और औषधिसंग्रहालय—दवाखाना—होने चाहिये । अिसी तरह मन्दिर के साथ अेक धर्मशाला, गोशाला, ग्रंथसंग्रहालय, वस्तु संग्रहालय, व्यायामशाला, स्नानगृह और बगीचा होने चाहिये । रुग्णशुश्रूषा—बीमारों की तीमारदारी—मन्दिर की मार्फत ही होनी चाहिये । ग्रामवासियों को अुचित भाव पर अच्छा माल मिले अिसलिये मन्दिर की तरफ से सहयोगी दूकान हो । ग्राम सभा और ग्राम भोजन अच्छी तरह हों अिसलिये स्थान और साधन हमेशा तैयार रखे जायँ ।

अिस तरह गाँव का सारा सार्वजनिक जीवन मन्दिर के द्वारा सहयोग से या लोगों द्वारा चुने हुअे पंचों की मारफ़त चलने लगे तो ग्रामदेवता सन्तुष्ट होकर सबका कल्याण करेगा और अिस तरह सारा समाज शान्ति, तुष्टि, और पुष्टि से युक्त होकर कृतज्ञता और भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से ग्रामदेवता के स्तोत्र—गुण गान—गाता हुआ और अुत्सव मनाता हुआ यथाक्रम परम अभ्युदय और निःश्रेयस का अधिकारी होगा।

———————

[३८]

मरणोत्तर जीवन

स्वर्ग-नरक का अितिहास-भूगोल पुराणों में बहुत-कुछ पढ़ने को मिलता है। जिस तरह हिन्दुस्तान के अुसपार तिब्बत है, दक्षिण में लंका है, सात समुन्दर पार अंग्रेज़ों का श्वेतद्वीप है अुसी प्रकार बादलों के अुसपार आकाश में स्वर्ग भूमि मानो कोअी देश होगा और वहाँ देवता रहते होंगे अिस तरह का खयाल दिमाग़ में आता है। पृथ्वी पर जो देश हैं वे अुसकी पीठपर पास-पास बसे हुअे हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ अितना ही है कि स्वर्ग के अिन्द्रलोक चन्द्रलोक, गोलोक, विष्णुलोक आदि जहाज के कैबिनों अथवा रेलवे के अिंटर यानी ड्योढ़े क्लास के बर्थों या बम्बअी की चालों की मंज़िलों की तरह अूपर-नीचे होंगे।

नागलोक का हाल अिससे कुछ जुदा और अजीब है। पानी में गोता लगाकर नाग लोक में पहुँचा जा सकता है। समझ में नहीं आता कि यह कैसे होता होगा। और नरक तो पृथ्वी के नीचे है; लेकिन वहाँ कैसे पहुँचा जाता होगा यह तो कल्पना में भी नहीं आता। पृथ्वी गोल है यह निश्चय हो जाने के बाद हम यह कहने लगे हैं कि अमरीका पाताल भूमि है। तो फिर यमराष्ट्र की स्थापना कहाँ की जाय ?

यह साबित करने के दिन अब नहीं रहे कि ये सब लोक काल्पनिक यानी खयाली हैं, क्योंकि समझदार लोगों के मनों से ये सब लोक कभी के अुड़ गये हैं। लेकिन मरणोत्तर जीवन कैसा होगा अिसका खुलासा हमारा दिल हररोज़ माँगता है। स्वर्ग की पौराणिक कल्पना आज बिलकुल तुच्छ-सी लगती है। सामान्य विलासी लोगों को अिस लोक में जिन सुखोपभोगों की अिच्छा रहती है अुन्हीं का संशोधित संस्करण हमारे

पुराणों का स्वर्ग है, अैसा कहने में कोअी हर्ज नहीं। मनुष्य की कल्पना भी बेचारी जाकर आखिर कहाँ तक पहुँच सकती थी? जो देखा हो और जिनका अनुभव किया हो अुन्हीं चीज़ों के भिन्न-भिन्न अवयव अेकत्र करने से स्वर्गादि लोकों का नक्शा तैयार होता है। पृथ्वी पर मनुष्य तरह-तरह के मधुर पेय—शरबत और आसव—पीता है। स्वर्ग में अिन सबके प्रतिनिधि स्वरूप माधुर्य की परिसीमा के तौर पर अमृत की कल्पना की। पृथ्वी पर विलासी लोग मामूली वारांगनाओं का सेवन करते हैं। स्वर्ग में अुनके बदले अप्सराओं की योजना हुअी। पृथ्वी पर विषय सेवन करने वालों को व्याधि, जरा और मरण भुगतने पड़ते हैं; स्वर्ग काव्य-प्रदेश की तरह काल्पनिक होने के कारण वहाँ ये तीनों दिक्कतें नहीं हैं, अैसा स्वर्ग-विधाता काल्पनिकों ने निश्चय किया। पौराणिक भूगोल-शास्त्र वेत्ता कहते हैं कि स्वर्ग में जिस तरह व्याधि नहीं है अुस तरह आधि अर्थात् मानसिक चिन्ताअें भी नहीं हैं। लेकिन स्वर्ग का अितिहास अिससे विपरीत प्रमाण अुपस्थित करता है। स्वर्ग का राजा अिन्द्र भोगक्षीण नरेशों की तरह हमेशा डरा हुआ-सा रहता है। ज़रा किसी ने तपस्या की नहीं कि अुसका सिंहासन हिलने लगता है। किसी ताक़तवर व्यक्ति से पाला पड़ने पर अुसके सामने अिन्द्र की यह 'आफर' तैयार रहती है कि 'तू ही अिन्द्र बन जा' लेकिन अन्दर से अपने सुकुमार हथियार (सुन्दरियाँ) अुस पर भेजने को भी नहीं भूलता। अिस तरह हररोज़ नये नये दाँव पेंच करके अुसे अपने स्थान की रक्षा करनी पड़ती है। अिससे अधिक आधि भला और क्या होगी?

और दूसरे देवता भी क्या कुछ निश्चिन्त रहते हैं? वे अमृत पीते हैं और अप्सराओं का नाच देखते हैं। गाना-बजाना और सब अिन्द्रियों को तृप्त रखना स्वर्ग में अखंड रूप से चलता है। लेकिन अिस सब मिठास के कारण मुँह में जो बहुत ज्यादा मीठापन पैदा हो जाता है अुसे दूर करके जायका लाने के लिये ही मानों वहाँ तीखे-तीखे सोंठ के लड्डू भी रखे गये हैं। देवताओं में सबका दर्जा समान नहीं है। हर

अेक को अपने-अपने पुण्य के अनुसार अे० बी० या सी० क्लास मिलती है। और स्वर्ग नाम के होटल में जिसके नाम पर जितना पुण्यांश जमा होगा अुसी के अनुसार अुसे भोग-सुख मिलता है। बैंक में जमा पूँजी खत्म होते ही स्वर्ग के मालिक प्राणी को नीचे धकेल ही देंगे। देवताओं के लिये श्रेणी या दर्जा बड़ी चिन्ता की बात होती है। जिसका आसन अपने से नीचा हो अुसकी तरफ़ हिकारत की नज़र से देखना और अूपर वालों से जलते रहना, अिस तरह की मत्सरपोषक व्यवस्था स्वर्ग में न होती तो स्वर्ग का अखंड सुखमय जीवन बिलकुल ही नीरस हो जाता।

राजदरबार के विलासों पर से मनुष्य को स्वर्ग की कल्पना सूझी; अिसी तरह नरक की कल्पना सूझी कारावास या जेल की यातनाओं के अनुभव पर से। यहाँ भी कल्पना प्रत्यक्ष अनुभव से बहुत आगे न जा सकी। सताने या बदला लेने के लिये जो-जो अुपाय अिस लोक में अिख्तियार किये जाते हैं अुन्हीं का आरोपण नरक में थोड़े-बहुत सुधार के साथ हुआ है। यहाँ के सुखोपभोग में जिस प्रकार रोग, जरा और मरण बाधक हैं अुसी प्रकार किसी को सताने का शौक़ पूरा करने में भी अेक खास दिक्कत है। अेक बड़ी रुकावट तो यह है कि यह नहीं कहा जा सकता कि मारनेवाला आदमी कब थक जायगा या अुसके दिल में कब दया पैदा होगी। लेकिन अिस बारे में मन और शरीर देखते-देखते आदी बन सकते हैं। लेकिन मारपीट या यंत्रणा के अतिरेक से पीड्यमान-यानी जिसे पीड़ा देनी है वह आदमी बेसुध हो जाता है या मर भी जाता है। दोनों तरह से यह हमारी पहुँच से बाहर की बात है; अिसका कोअी अुपाय नहीं है। लेकिन नरक में यह दिक्कत नहीं है। वहाँ के यमदूत पेशावर सताने वाले होने से अुन्हें थकावट, नीरसता, या रहम की रुकावट ही नहीं पड़ सकती। और वहाँ की यातनाओं चाहे जितनी भयंकर होने पर भी आदमी न तो बेहोश हो जाता है और न खत्म ही होता है।

अितना समझ लेने के बाद कि स्वर्ग-नरक की लोकरूढ़ कल्पना

अिस तरह आप लोगों के अनुभवों पर ही खड़ी की गयी है, अुसका कोअी मूल्य नहीं रहता। लेकिन मन की यह प्रवृत्ति कायम रह जाती है कि मनुष्य-जीवन से अूँचे दर्जे का कोअी जीवन होना चाहिये और मनुष्य जीवन से हीन, अर्थशून्य और विशेष सन्तापदायक जीवन भी अवश्य होगा।

अिसलिये मनुष्य जाति को अपने मनमें फिर अेक बार यह सोच लेने की अिच्छा बारबार होती है कि मरणोत्तर जीवन पारलौकिक जीवन, स्वर्गलोक आदि आखिर हैं क्या? अेक देह छोड़ने के बाद तत्काल या कालान्तर में, अिसी पृथ्वी पर अन्यत्र, मनुष्यकोटि में या अन्य कोटि में मृत जीव नयी देह धारण करता है और नये अनुभव प्राप्त करना शुरू करता है, अिस सर्वसामान्य लोककल्पना के बारे में किसी भी प्रकार के विवाद में न पड़कर हम दूसरे ही ढंग से अिस विषय का विचार करेंगे।

जब कोअी आदमी अपने पूर्वजों का श्राद्ध करता है तब वह किसका श्राद्ध करता है? आत्मा का? लेकिन आत्मा तो सर्वव्यापी होने के कारण विभु है। वह न तो मरती है और न अुसका स्थानान्तर या लोकान्तर ही होता है। अिसलिये आत्मा के श्राद्ध का तो सवाल ही नहीं रहता। तो क्या वह देह का श्राद्ध करता है? नहीं; देह का भी नहीं; क्योंकि देह की तो राख या मिट्टी हो जाती है। शायद देह अन्य प्राणियों का आहार बनकर अुनके साथ अेक रूप भी हो गयी हो। मृत को खानेवाले कौवों, भेड़ियों या गृद्धों का श्राद्ध हम नहीं करते। यह भी सम्भव है कि देह में कीड़े पड़कर अुन्हीं का अेक बड़ा देश बसा होगा; अुनकी तृप्ति के लिये भी हम न तो पानी डालते हैं और न पिण्ड ही रखते हैं।

बाक़ी रहा मरनेवाले की वासनाओं का समुच्चय या अुनके पीछे रहनेवाले लोगों के मन में रहनेवाला अुनके सम्बन्ध की भावनाओं का समुच्चय। अिन वासनात्मक और भावनात्मक देहों द्वारा मनुष्य मृत्यु के बाद बाक़ी रहता है। अिनमें से किसी अेक या दोनों ही का श्राद्ध ज़रूर सम्भव है।

मृत्यु को प्राप्त पूर्वज शूर क्रूर, पेटू या आलसी हो तो अुसका वासना-समुच्चय या लिंगदेह शेर या भालू का जन्म लेगा, अिस तरह की लोककल्पना है; अगर वह अिकलखोरा होगा तो शेर का जन्म पायेगा और समान शीलों का संघ बनाने की वृत्तिवाला होगा तो अुसके लिये भेड़ियों की योनि अधिक अनुकूल होगी। लेकिन श्राद्ध कोअी अिन शेर-भालुओं का नहीं करना होता। वरना अैसा होगा कि अुनके नामपर खीर-पूरी खिलाने के लिये जिस वेद शास्त्र-सम्पन्न ब्राह्मण को न्योता दिया हो अुसी को ये पूर्वज खीर-पूरी की जगह पसन्द कर बैठें। और अिस तरह पहले श्राद्ध में जो पशुहत्या होती थी अुसके बदले अब ब्रह्महत्या हो जायेगी।

[मानव-पिता मनु भगवान ने कहा है कि 'मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसं अिहादम्यहम् अिति मांसस्य मांसत्वम्।' अर्थात् जिसका मांस मैं यहां खाता हूँ वह मुझे परलोक में खायेगा; अिसीलिये मांस को मांस कहते हैं।' अिस न्याय से श्राद्ध का विचार करें तो कहना चाहिये कि दुनिया में सब जगह श्राद्ध ही चल रहा है।]

पूर्वजों में से चाहे जो अपने कर्म, वासना, और संस्कारों के अनुसार चाहे जिस योनि में गया हो और वहाँ अपनी पुरानी वासनाओं की तृप्ति करके नयी वासनाओं के बन्धन रचता हो, हमें अुससे कोअी सरोकार नहीं। हमारा पूर्वज तो देह छोड़कर चले जाने पर भी अिस लोक में से सम्पूर्णतया नष्ट नहीं होता। अुसके किये हुअे अच्छे बुरे कर्म, अुसके द्वारा प्रेरित भली-बुरी भावनाअें और मानव स्वभाव में अुसकी की हुअी वृद्धियाँ सब कुछ अिस लोक में मौजूद रहता है।

अुसके साथ जिनका सम्बन्ध था अुन नाते-रिश्तेदार और शत्रु-मित्र आदि की स्मृति अेवं भावना में वह मनुष्य पहले की तरह ही जीवित रहता है; अितना ही नहीं बल्कि अुसके अिस मृत्यु के बाद के स्मृतिगत अवशिष्ट जीवन में दिन-प्रति-दिन हेरफेर भी होते जाते हैं। अब अुसका निवास अेक ही देह में नहीं बल्कि स्मृति-रूप में, कार्य रूप में या

प्रेरणारूप में वह जितने समाज में व्याप्त हो अुतने सारे समाज में अुसका निवास है और अुस ‌ीवन का खयाल रखकर ही अुसका श्राद्ध हो सकता है। शिवाजीमहाराज जैसे पुण्यश्लोक राजा ने मोक्ष पाया होगा या अिस अथवा अन्य किसी देश में किसी राष्ट्र पुरुष का जन्म लिया होगा। अुसकी अिस नयी यात्रा-करीयर का हम श्राद्ध नहीं करते, बल्कि आज हमारे हृदय में जो शिवाजी महाराज बसे हुअे हैं और बड़े होते जा रहे हैं, अुन्हीं का श्राद्ध हम करते हैं। श्राद्ध मरे हुओं का नहीं बल्कि अुन्हीं का हो सकता है जो देहत्याग के बाद समाज में जीवित रहते हैं, घूमते फिरते हैं, बढ़ते हैं, और पुरुषार्थ करते हैं। यह मरणोत्तर सामाजिक जीवन ही सच्चा पारलौकिक जीवन है। शास्त्रकारों ने जीवन के छः लक्षण बताये हैं : - अस्ति, जायते, वर्धते, अपक्षीयते, परिणमते, म्रियते।—वे सब अिस जीवन पर भी चरितार्थ होते हैं। अिसलिये यह जीवन काल्पनिक नहीं बल्कि वास्तविक, व्यापक, दीर्घजीवी और परिणामकारी है। यही पारलौकिक जीवन है। यह जीवन सुन्दर, अुन्नतिकर, शुभकर होगा तो वह प्राणी का स्वर्ग है। लेकिन अगर यही जीवन समाज का अधःपतन करनेवाला, आर्यत्व का ध्वंस करनेवाला होगा तो वही नरक है। अिस दृष्टि से देखा जाय तो हर प्राणी का स्वर्ग-नरक अुसकी मृत्यु के बाद ही शुरू होता है। लेकिन वह अिसी लोक में ओत-प्रोत रहता है।

मुसलमान लोग अैसा मानते हैं कि मरने के बाद मनुष्य बर्ज़क नाम के अेक स्थान में रहकर क़यामत यानी आख़िरी अिन्साफ़ के दिन की राह देखता रहता है। जब तक सब प्राणी मरकर यहाँ का नाटक ख़तम न हो जाय, तबतक आख़िरी फ़ैसले के लिये न सब प्राणी हाज़िर रह सकते हैं और न हिसाब की बहियाँ ही बन्द हो सकती हैं। जब हिसाब पूरा होगा, जिस तरह नाटक के अन्त में अभिनेता अिकट्ठे होते हैं अुस तरह सब लोग जमा होंगे, सब भेद खुल जायगा, तभी सबके सामने फ़ैसला दिया जा सकता है। फ़ैसले के आख़ीर में जिन्हें स्वर्ग

(बहिश्त) मिलेगा वे स्थायी रूप से स्वर्ग में मौज करेंगे, और जिनके हिस्से में नरक (जहन्नुम या दोजख़) आयेगा वे अखंड वेदना में तड़पते रहेंगे। जबतक यह फैसला नहीं होता तब तक सब मरे हुए लोगों को बर्ज़क के वेटिंगरूम या मुसाफ़िरखाने में, प्रतीक्षा करते हुए बैठे रहना पड़ेगा। बर्ज़क कर्मभूमि न होने पर भी वहां मनुष्य की स्थिति में फेर बदल तो होता ही रहता है। क्योंकि उसके पाप-पुण्य का हिसाब बैंक की अमानत या व्यापार में लगाई हुई पूँजी की तरह बढ़ता रहता है।

अगर मैंने अपनी ज़िन्दगी में कोई कुआँ बनवाया होगा तो ज्यों-ज्यों लोग उस कुएं का उपयोग करते जायेंगे त्यों-त्यों मेरे नाम पर बर्ज़क में पुण्य (सवाब) बढ़ता जायगा। अगर मैंने किसी नयी तरह का कोई सत्कार्य किया होगा और लोग उसका अनुकरण करने लगे होंगे तो सत्कार्य के नवीन क्षेत्र के आविष्कारक के रूप में मेरा अनुकरण करनेवालों के पुण्य में से कुछ अंश रायल्टी के तौर पर मुझे बर्ज़क में मिलता रहेगा। एबेल और केन इन दो भाइयों के झगड़े के फल-स्वरूप मानव जाति में पहली हत्या हुई थी, इसलिये अब मनुष्यों में कोई भी हत्या करे तो उसके पाप का थोड़ा-बहुत अंश हत्या का मार्ग खोल देनेवाले बन्धुघाती केन के नाम ज़रूर जमा होता है। परलोक में पेटेण्ट का ऐक्ट तो है नहीं, मगर न्याय का बही-खाता बराबर जाग्रत रहता है।

ऊपर बताई हुई बर्ज़क की कल्पना और हमारी पारलौकिक जीवन की कल्पना, ये दोनों क़रीब-क़रीब एक-सी ही हैं।

जिसे हम कीर्त्ति या यश कहते हैं वह दरअसल इस पारलौकिक जीवन का प्रतिबिम्ब ही है। पारलौकिक जीवन की तुलना में जन्म-मरण के खूँटों के बीच का सुख दुःखात्मक जीवन बहुत ही छोटा या कम कहा जायगा। लेकिन पुरुषार्थ की दृष्टि से यह जीवन बहुत महत्व का है, क्योंकि यही कर्मभूमि है। भोग की दृष्टि से देखा जाय तो यह देहगत जीवन अत्यन्त अल्प और तुच्छ है। इसीलिये जो अपने नफे-नुक़सान

का हिसाब कर सकता है अुसे अैहिक सुखोपभोगों पर अधिक ध्यान न रखते हुअे मरण के बाद के पारलौकिक यशःशरीर और वहाँ मिलनेवाले कीर्त्ति-रूपी सुखोपभोग तथा लोगों की ओर से अखंड रूप से मिलने वाली कृतज्ञता की ही ज्यादा फिक्र रखनी चाहिये। अगर हम इस लोक में सत्कर्म करेंगे, लोगों को सत्प्रेरणा देंगे और मंगलता का विस्तार करेंगे तो मरणोपरान्त यह सब बातें बढ़ती रहेंगी और हमारा मरणोत्तर जीवन परिपुष्ट तथा लोकोन्नतिकारक होगा।

प्राकृत यानी आम लोगों में अिस जीवन का खयाल नहीं होता अिसीलिये अुन्हें स्वर्ग-नरक के काल्पनिक अितिहास और भूगोल का लालच दिखाया जाता है। या लालच कहने के बजाय यूँ भी कहा जा सकता है कि वस्तुस्थिति का ही अेक बालग्राह्य चित्र उन्हें बतलाया जाता है।

मरणोत्तर जीवन यानी 'सांपराय' के बारे में टिप्पणी:—

मनुष्य मृत्यु के बाद भी अपने विचार, अपनी भावना, अपने संकल्प और अपने किये हुअे पुरुषार्थ आदि के कारण समाज में जीवित रहता है। मरने के बाद का यह जीवन मरने से पहले के जीवन जितना ही महत्वपूर्ण होता है। यह परिपुष्ट भी होता है और क्षीण भी। अगर यह जीवन समाजोन्नतिकारक हो तो वही मनुष्य का स्वर्ग है; और अगर वह समाज को नीचे गिरनेवाला हो तो वही नरक है। पंच महाभूतात्मक देह की बनिस्बत समाजरूपी देह में रहकर मनुष्य अतिदीर्घ जीवन प्राप्त कर सकता है और जीवन की सफलता का अधिकारी बनता है। अिस मरणोत्तर जीवन का व्यक्तिरूपी शीशे में—अहंकाररूपी आअिने में—जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही कीर्त्ति या यश है।

(२) मरणोत्तर समाजरूपी जीवन का खयाल सामान्य मनुष्य को नहीं होता। अिसीलिये कीर्ति, यश, पुण्य, पाप और स्वर्ग-नरक आदि कल्पनाओं की सृष्टि करके अिन्हें मनुष्य के सामने रखा गया है। अैसा

तो नहीं है कि परलोक अिस पृथ्वी के बाहर का ही कोअी मुल्क हो। परलोक का मतलब है मरणोत्तर स्थिति। अिसी को अुपनिषद् में 'सांपराय' नाम दिया गया है। बालकबुद्धि मूढ़ अिस सांपराय को नहीं पहचानता। अिसलिये मूढ़ या अज्ञानी लोग समझते हैं कि देह, अुसके सुख-दुःख, अुन सुख-दुःखों के साधनभूत होनेवाली सत्ता (वस्तुमात्र), अुन सुख-दुःखों का भोक्ता अहंकार (अस्मिता) और बीते हुअे ज़माने में बन्द करके रखा हुआ आयुष्य केवल अितना ही अपना जीवन है। ये सब बातें मिलकर जो व्यक्तित्व बनता है वह हमारे जीवन का अल्प-सा अंश है। वास्तव में काल, देश (व्याप्ति) और आधार की दृष्टि से देखा जाय तो हमारा जीवन अत्यन्त विशाल है। यह बात जिसके ध्यान में आजाय वह निश्चय ही निष्पाप और अमर होगा।

अैसा मनुष्य अगर कहे कि 'मेरी मृत्यु मर गयी, और मैं अमर हो गया' तो अुसका अर्थ समझने में कोअी कठिनाअी नहीं है। जीवन की दृष्टि से शारीरिक मरण तुच्छ बात है—अितना तो आसानी से समझ में आ जाना चाहिये।

---

[३६]

अवतारवाद

अवतारवाद हिन्दूधर्म की एक विशेषता है। वेद या वेदान्त का कहना है कि मनुष्य मूलतः अीश्वर है। यह बात थोड़े बहुत फ़र्क के साथ सभी धर्मों ने कही है कि प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अीश्वरी तत्व का निवास है। जिनमें देवताओं का समूह बहुत बड़ा है असे रोमन, ग्रीक या पौराणिक धर्मों में और जगदेकमल्ल होकर रहनेवाले मत्सरी भगवान पर ही निष्ठा रखनेवाले यहूदी, अीसाअी और अिस्लामी धर्म में भी देव-देवताओं का स्वभाव लगभग मनुष्य के स्वभाव जैसा ही है। यद्यपि धर्मकथाओं में यह कहा गया है कि भगवान ने मनुष्य का निर्माण किया है, फिर भी विकासवादी कहते आये हैं कि ख़ुद भगवान ही मनुष्य की कृति है। अिन सब मतों के साथ अवतारवाद का मेल दिखाअी देने की सम्भावना है, लेकिन वास्तव में अवतारवाद अेक अजीब और अद्भुत असर पैदा करनेवाला विचार है। यह वाद जितना हृदय को आश्वासन देता है अुतना ही तर्क बुद्धि को भी सन्तुष्ट कर सकता है। अुसका यथार्थ स्वरूप समझ लेना चाहिये। अवतारवाद को किसी क़दर समझ लेने के बाद मुसलमान और अीसाअी लोग भी अब कहने लगे हैं कि 'अवतार यानी पैग़म्बर का जन्म' अिस अर्थ में हमें अवतार मंजूर है। क़ुरान-शरीफ़ में तो साफ़ ही कहा है कि 'असी अेक भी भूमि या पीढ़ी नहीं है जिसमें भगवान ने जन्म न लिया हो।' पैग़म्बरों की परम्परा सृष्टि के समान ही अखंडरूप से चल रही है। यहूदी और अीसाअी लोग भी पैगम्बरों की परम्परा को मानते हैं। अिसलिये अगर हम अवतार-वाद की मीमांसा अुसकी मूल कल्पना और भिन्न-भिन्न धर्मों की भिन्न-

भिन्न धारणाओं के यथार्थ स्वरूप के आधार पर करें तो केवल हिन्दू धर्म को ही नहीं बल्कि सभी धर्मों को वह मंजूर होगी और भविष्य में जो सारी मानवता के लिये आम विश्वधर्म का तत्वकुटुम्ब बनने वाला है असमें अवतारवाद को प्रमुख स्थान मिले बिना न रहेगा। केवल लाभ या प्रतिष्ठा की दृष्टि से अवतारवाद को सजा-धजाकर पेश करना हमारा अुद्देश्य नहीं है। हम तो यहाँ सिर्फ अितना ही कहना चाहते हैं कि अवतार-मीमांसा आज कितनी महत्वपूर्ण और संस्कृति-पोषक है।

बौद्ध परिभाषा के अनुसार जब कोअी प्राणी अन्तर्मुख होकर अपनी स्थिति के बारे में असन्तुष्ट होता है और अपने सब दोषों को दूर करके सब शुभ गुणों का आत्यन्तिक विकास करने का संकल्प करता है तब अुसे बोधिसत्व कहते है। यह बोधिसत्व अेक अेक सद्गुण की पारमिता यानी सर्वोच्च कोटि प्राप्त करता हुआ हर जन्म में अूँचा अुठता जाता है और अन्त में बुद्ध बन जाता है। अपना अुद्धार करने की शक्ति जब अुसे प्राप्त होती है तब अुसे 'पच्चेक (प्रत्येक) बुद्ध' यानी अपना अुद्धार करने में समर्थ बुद्ध कहते हैं। जब वही सारी दुनिया का उद्धार करने का सामर्थ्य प्राप्त करता है तब गौतम बुद्ध की तरह 'तथागत' बन जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति का यही स्वाभाविक अुन्नति-क्रम है। गीता ने जिसे 'अनेक जन्म संसिद्धि' कहा है अुसी को 'नर करनी करे तो नर का नारायण बन जाय' अिस लोकोक्ति में 'नारायण' कहा गया है।

हमारा अुद्धार करनेवाला हममें से ही अुदय हुआ है, हमने जो साधना नहीं की वह अुसने की, वह हममें से अेक होता हुआ भी परात्पर (श्रेष्ठातिश्रेष्ठ) का अंशरूप हुआ है,—यह प्रत्यक्ष देखकर भी अुसे स्वीकार करने में मनुष्य आनाकानी करता है। क्योंकि अिसमें अेक कठिनाअी तो यह है कि हमारे साथ का हम जैसा ही कोअी व्यक्ति हम से आगे बढ़ गया है, यह स्वीकार करने में अिस बात पर मंजूरी की

मुहर लग जाती है कि अुसकी अपेक्षा हम हीन हैं; लेकिन अिसके साथ ही अेक और तात्विक कठिनाअी भी है जिस पर विचार करना चाहिये।

प्रत्येक आत्मा स्वभावतः शुद्ध, बुद्ध, नित्य मुक्त और सर्व-समर्थ होने पर भी वह अपना यह मूलपद कैसे खो बैठा यह शंका सहज ही पैदा होती है। शुद्ध क्यों अशुद्ध हो? मुक्त बन्धन में क्यों फँसे? जो नित्य है वह अनित्य कैसे होगा? और जो सर्वसमर्थ है वह अधःपतन से अपने को क्यों न बचा सका? ये सब प्रश्न स्वाभाविक हैं। तर्क कहता है, 'आत्मा का अधःपतन हुआ ही नहीं, यह सब भ्रम है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, नित्य और मुक्त ही है।' तो फिर यह भ्रम कहाँ से आया? परस्पर-विरोधी बातें जब स्वतंत्र रूप से सच्ची मालूम होने लगती हैं तब तर्क बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है और अुसे मानना ही पड़ता है कि अिस विषय की अुपपत्ति मेरे पास नहीं है। अपने पराभव की अिस मंजूरी को ही माया कहते हैं। माया कोअी वाद या सिद्धान्त नहीं बल्कि वस्तु स्थिति का स्वीकार है।

जो सर्वोच्च स्थिति पर होने पर भी अपने स्थान को कायम न रख सका, वह अशुद्ध अनित्य, अज्ञानी और बद्ध होने के बाद फिर से अूँचा अुठने की ताकत कहाँ से लायेगा? जो था वही जिससे कायम न रखा जा सका वह खोये हुअे को अपने ही बलपर कैसे फिर से प्राप्त कर सकेगा? अिसलिये जो समर्थ है अुसी को चाहिये कि वह कृपावान होकर, नीचे अुतर कर, हमारा हाथ पकड़कर हमें अूपर उठाये। यहाँ स्वयं अूपर अुठने का काम नहीं बल्कि समर्थ के लिये अूपर अुठाने का काम है। सर्वसमर्थ परमात्मा करुणबुद्धि से दयालु होकर हमारे अुद्धार के लिये नीचे अुतर आता है और हमारी बाँह पकड़ता है और अिसीलिये हम पतित हुअे लोग फिर से पुनीत हो सकते हैं। जिस जिस विभूति में हमें अुद्धारक या तारक शक्ति दिखाअी देती है अुस अुस विभूति में अुद्धारक प्रभु अवतरित हुआ है अैसा मानना ही युक्ति-संगत है। यह

अवतार अल्पांश में होगा या पूर्णांश में; अमुक काल तक का होगा या जीवनावधि; लेकिन अुसकी यह विशेषता है कि तारक तत्व बाहर से आकर मनुष्य में अवतरित होता है। जगत्-अुद्धार की अिस कल्पना को ही अवतारवाद कहते हैं।

कुम्हार का चाक अेक बार घूमने लगता है तो फिर घूमता ही रहता है लेकिन अुसकी गति स्वयंभू नहीं है। अुस चाक की सामर्थ्य अितनी ही है कि जो गति अुसे दी जाय अुसे वह बहुत समय तक टिकाये रखे। अपने स्वभाव के अनुसार वह चाक, अति अल्प मात्रा में ही क्यों न हो, प्रतिक्षण रुकने की ही कोशिश करता है। अिसलिये अुसकी गति को क़ायम रखने के लिये कुम्हार को हाथ में लकड़ी लेकर अुसे बार-बार प्रेरणा देनी पड़ती है। कुलाल (कुम्हार) की दंडघात-प्रपात परंपरा (डंडे की लगातार मार) बाहर से चलती रहती है, अिसीलिये चाक घूमता रहता है। यही हाल अुस समाज का भी है जो स्वभाव से ही जड़ है। अवतारी पुरुषों के प्रताप की परंपरा भगवान् की कृपा से जारी है। प्रेरणा की धौंकनी चल रही है, अिसीलिये संस्कृति-रूपी अग्नि प्रज्वलित बनी हुअी है।

अिस बात की चर्चा यहाँ नहीं करनी है कि यह प्रेरणा बाहर से आती है या अन्तःस्फूर्त होती है; मानवी है या अतिमानवी है? अवतारवाद कहता है कि प्रेरणा निस्सन्देह बाहरी है, अतिमानवी है। मनुष्य का बड़प्पन या विशेषता अिसी में है कि वह अिस तरह की प्रेरणा को ग्रहण कर सकता है, धारण कर सकता है। अिसके विरुद्ध पक्ष का कहना है कि हम यह हमेशा देखते हैं कि जब गर्मी बहुत बढ़ जाती है तब वह जल अुठती है और प्रकाश का रूप धारण करती है। अुष्णता में से ही प्रकाश पैदा होता है। अुष्णता और प्रकाश में स्वरूप-भेद जरूर है, लेकिन तत्त्वतः अुष्णता का प्रकट रूप ही प्रकाश है. अिस बारे में कोअी शंका नहीं करता। अुष्णता को बहुत बढ़ी हुअी देख, यह समझकर कि अब हमारे अवतार के लिये अुचित आधार तैयार हो

गया है, चाहे जहाँ से आकर प्रकाश अुसमें नहीं घुस जाता। वह तो अन्दर से ही प्रदीप्त होता है। अिसी तरह मानव जाति का तारणहार मनुष्यों में से ही पैदा होता है और वह मनुष्य स्वभाव का ही बना हुआ होता है।

अिस चर्चा को थोड़ा और आगे बढ़ाने पर मालूम होगा कि दोनों पक्षों में मतभेद नहीं बल्कि केवल शब्द-भेद हैं। गांधी जी कहते हैं कि 'जो पुरुष अपने युग में सब से श्रेष्ठ धर्मवान होता है अुसे भविष्य-काल के लोग अवतार के रूप में पूजते हैं। जिसमें अपने युग में सबसे अधिक धर्म-जागृति है वह विशेष अवतार है।' अवतार की कल्पना को अिस तरह दोहरा रूप देकर गांधीजी ने अूपर का झगड़ा ही खतम कर दिया है। हर पीढ़ी में, हर ज़माने में समाज को सावधान या जागरूक रखने वाला कोअी न कोअी पुरुष होता ही है। अुसी की विभूति जब लोगों को असाधारण मालूम होती है तब अुसके पीछे आने वाले लोग अुसे अवतार समझने और कहने लगते हैं, और अुसकी दी हुअी प्रेरणा को अीश्वरी प्रेरणा मानकर श्रद्धा और आदर के साथ अुसे स्वीकार करते हैं।

कुरान शरीफ़ में भी साफ़ कहा है कि अल्लाह ने हर देश और हर ज़माने को अेक-अेक पैग़म्बर दिया है। बिना पैग़म्बर के कोअी भूमि नहीं है; बग़ैर पैग़म्बर के कोअी समाज नहीं है; और पैग़म्बर से रहित कोअी युग या ज़माना नहीं है। अिसका मतलब यह हुआ कि हर स्थान में और हर काल में कोअी न कोअी तारक पुरुष होगा ही। ज़रूरत सिर्फ़ अिस बात की है कि समाज में अुसे पहचानने की शक्ति हो।

यहाँ हम शास्त्रों के प्रमाण पर भी थोड़ा विचार करें। अुद्धारक विभूतियों की प्रेरणा को अेक बार श्रद्धा और आदर के साथ स्वीकार कर लेने के बाद अुनकी अुक्तियों का संग्रह होना बिलकुल स्वाभाविक है। अिस तरह प्रेरणा शब्द में बँधकर ग्रंथ का रूप धारण करती है और 'सन्तवचन ही शास्त्र हैं' यह मूल सिद्धान्त विकृत होकर शास्त्र के

प्रमाण को किताबी प्रमाण का रूप प्राप्त हो जाता है। धर्म का तत्व गूढ़ है; प्रसंग के अनुसार अुसका विनियोग बदलता रहता है। जीवित परिस्थिति का निरीक्षण करके धर्मज्ञ पुरुष अेक ज़माने में जो निर्णय करते हैं या व्यवस्था देते हैं वही काल और परिस्थिति के बदल जाने पर लागू नहीं होता। शंकराचार्य ने भी कहा है कि 'यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्माऽनुष्ठीयते स अेव देशकाल-निमित्तान्तरेषु अधर्मो भवति।' (शांकर शारीर भाष्य ३,१,२५) अैसी स्थिति में व्याकरण-शास्त्र, तर्कशास्त्र और मीमांसाशास्त्र के बलपर प्राचीन वचनों का अर्थ लगाने और मृतप्राय ग्रंथों पर जीवित समाज का जीवन-क्रम तथा अुसका भाग्य लटकता रखने में अत्याचार और आत्म-द्रोह है। 'शिष्टाः प्रमाणम्' यही मार्ग सच्चा है। शिष्ट के मानी हैं वह पवित्र व्यक्ति जिन-की बुद्धि और हृदय शुद्ध है, जो समाजहित को पहचानते हैं और जिनका हृदय समाज-हित की तरफ़ ही जाता है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि व्रत जिनके लिये स्वाभाविक हो गये हैं अैसे बिरले व्यक्तियों को ही शिष्ट कह सकते हैं। अैसे लोगों ने जो मार्ग बता दिया हो वही शास्त्र है। भर्तृहरि तो अिससे भी आगे जाकर कहता है कि सत्पुरुष सहज रूप में जो कुछ कहते हैं वह भी शास्त्र ही है।

परिचरितव्याः सन्तः यद्यपि कथयन्ति ते न अुपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरःकथाः ता अेव भवन्ति शास्त्राणि॥

प्राचीन शास्त्रवचनों का अर्थ करना हो तो वह भी अैसे शिष्ट व्यक्तियों को ही करना चाहिये। जीवन तत्वज्ञान या जीवन-दर्शन केवल पंडितों के पंजे में कभी न पड़ना चाहिये।

हमारे पूर्वजों ने कह रखा है कि भूमि का भार दूर करने के लिये प्रत्येक युग में अवतार होते हैं। अिस अुक्ति का केवल शब्दार्थ लेकर बहुत से लोगों ने अपनी यह धारणा बना ली है कि जिस तरह नाव में बैठनेवालों की तादाद बढ़ जाने पर नाव अुस बोझ को सहने में असमर्थ होकर डूब जाती है अुसी तरह जनसंख्या के बढ़ जाने से पृथ्वी के लिये

अपनी पीठ पर का बोझ असह्य हो जाता है। वास्तव में देखा जाय तो पृथ्वी पर और पृथ्वी में जो जड़ द्रव्य है अुसमें कोअी बढ़ती-घटती होती ही नहीं है। राअी जितने छोटे से दाने से ज़मीन पर बरगद जैसा बड़ा दरख्त अुगता है; लेकिन अुस दरख्त का अितना बड़ा बोझ हवा, पानी और मिट्टी से ही पैदा हुआ होता है। फिर पेड़ के बढ़ने से ज़मीन का बोझ कैसे बढ़ेगा? घोड़े पर बैठे-बैठे अगर सवार अपनी थैली में से रोटी खा जाय तो अुससे थैली का बोझ तो ज़रूर हलका होगा, और सवार के पेट का बोझ बढ़ जायगा, लेकिन अुससे घोड़े को क्या मतलब? अुसे तो अुतना ही बोझ ढोना पड़ेगा। यही हाल पृथ्वी का भी है। पृथ्वी का जो भार बढ़ता है वह भौतिक नहीं बल्कि नैतिक है। अुसे दूर करना अवतार का काम है। जब समाज में अनाचार बढ़ता है; स्वार्थ, विद्रोह, कलह और नास्तिकता बढ़ती है तब पृथ्वी के लिये वह बोझ असह्य हो जाता है और फिर पृथ्वी दीन होकर अपने विधाता-पालनकर्त्ता के पास ग़रीब गाय बनकर जाती है। सर्वान्तर्यामी परमात्मा दयालु होकर धर्मपरायण व्यक्ति के रूप में अवतार लेता है। अँगीठी को हिलाकर और फूँकनी से फूँक मारकर जिस तरह हम अुसके अन्दर की अग्नि को प्रज्वलित करते हैं अुसी प्रकार समाज को हिलाकर, धर्म की फूँक मारकर, धर्म का संस्करण करके अवतारी पुरुष सज्जनता की, मनुष्य प्रेम की और दैवी सम्पत्ति की पुनः स्थापना करता है। समाज के समझदार आदमी अुस धर्मप्रेरणा को पहचानकर आस्तिकता के साथ अुसे स्वीकार करते हैं।

अवतार का अुद्देश्य धर्म-संस्थापना है। धर्मसंस्थापना के मानी कोअी मत या कोअी पंथ चलाना नहीं बल्कि लोगों में सत्य, दया, प्रेम, वासना संयम, सर्वभूतहितेरतत्व आदि शुभ-मंगल तत्वों पर के विश्वास को जीवित करना है। जिसमें सबका कल्याण हो वह धर्म है। यह धर्म विश्वव्यापी, सनातन और अिसीलिये नित्य-नूतन होता है। सजीव, हलचल वाले, चैतन्ययुक्त शरीर पर मोहित होकर चित्रकार अुसका चित्र बनाता है और मूर्तिकार अुसकी मूर्ति बनाता है। जिन्होंने जीवित शरीर

को देखा है, और अुसके साथ सत्संग किया है अुन्हें चित्र या मूर्ति को देखकर भी मूल चैतन्य का स्मरण हो आता है और अुसमें से चैतन्यमयी प्रेरणा मिलती है। परन्तु जिनका अनुभव और कल्पना चित्र या मूर्ति के बाहर जाते ही नहीं अुनके लिये वह अेक बन्धन ही बन जाता है। चैतन्य की भूख भला मूर्त्ति से किस तरह मिटे? जीवित मूर्त्तियाँ अुद्धार करती हैं। निष्प्राण मूर्त्तियां गले में पत्थर बनकर डुबो देती हैं।

अवतारी पुरुषों के नामपर जो धर्म चलते हैं वे सचमुच अुनके धर्म नहीं हैं। प्रेम का सन्देश दूसरे स्थान को भेजने के लिये प्रेमपत्र भेजना पड़ता है। प्रेमपत्र ले जानेवाला सन्देशवाहक (क़ासिद) कोअी प्रेमी नहीं होता। पत्र के काग़ज़, स्याही, स्याही के रंग, अक्षर के मरोड़, शब्द, भाषा, भाषा के अलंकार और शैली अिनमें से कोअी भी प्रेम नहीं है। प्रेम तो अमूर्त है। लेकिन अिन सब साधनों के बिना अुसका वहन कैसे होगा? प्रेम को समझनेवाला अिन सब साधनों का अुपयोग करते हुअे भी अिनपर निर्भर नहीं रहता। वह यह जानता है कि साधनों से प्रेम भिन्न है; और अिसलिये साधनों को ही सब कुछ मानकर वह नहीं बैठा रहता। अिसी न्याय से पैगम्बर भी अपने समाज में रूढ़ विचारों, रिवाजों और सिद्धान्तों को लेकर अुन्हीं में अपना सन्देश भर देते हैं और लोगों को परोसते हैं। पुराने में से जितने के बारे में अुन्हें यह विश्वास हो जाता है कि वह बिलकुल निकम्मा और फेंक देने लायक़ है अुतने का ही वे विरोध करते हैं। जितना कुछ निभाने लायक़ हो अुतने को निभा लेने की ओर अुनका झुकाव रहता है। वे जो नये साधन, नये रिवाज या नयी संस्थाअें अुत्पन्न करते हैं और जिनके बारे में वे अत्यंत आदर और आग्रह बढ़ाते हैं अुन वस्तुओं को भी वे अपने सन्देश-वाहक के तौर पर ही महत्व देते हैं। लेकिन अविद्या-द्वारा घिरी हुअी मनुष्य जाति ने तत्व के साथ गाँठ बाँधना छोड़कर तत्ववाहक या तत्वसंग्राहक बाह्य साधनों को ही महत्व दिया है और अुसी के लिये झगड़े खड़े किये हैं। अिससे विपरीत कुछ लोग तत्वों को केवल बौद्धिक

दृष्टि से ग्रहण करके ही सन्तोष मानते हैं। साधना पर अुनका विश्वास न होने के कारण सभी साधनों की वे अुपेक्षा करते हैं। अिस बात को वे भूल जाते हैं कि धर्म केवल तत्वों के ज्ञान के लिये नहीं बल्कि जीवन परिवर्त्तन के लिये, आत्मशुद्धि के लिये, आत्मसाक्षात्कार के लिये होता है। सामान्य जन-समुदाय देवता को छोड़कर मन्दिर या मस्जिद की ही अुपासना करता है और कुछ अुत्साही किन्तु अनजान विप्लवी मन्दिरों को तोड़कर देवताओं की रक्षा करना चाहते हैं। लेकिन असली ज़रूरत अिस बात की है कि मनुष्य मन्दिर को मन्दिर और अीश्वर को अीश्वर के तौरपर ही पहचाने। अैसा होने पर साधन के बारे में साध्य के जितना ही आग्रह रखते हुअे भी वे साधन-पूजक न बनेंगे। प्रत्येक पैग़म्बर जो कुछ दे जाता है अुसका शुद्ध रूप में सेवन होने के लिये यह ज़रूरी है कि अुसका प्रतिक्षण संस्करण होता रहे क्योंकि जिसका नित्य संस्करण होता रहता है अुसका नाश नहीं करना पड़ता। नित्यसंस्करण ही जीवन का साधन या व्याकरण है।

मुहम्मद पैग़म्बर से पहले अरबस्तान में बाबा अब्राहम का धर्म प्रचलित था। अुस धर्म में तरह तरह के दोष पैदा हो गये। अुनमें से जो दोष मुहम्मद साहब को असह्य प्रतीत हुअे अुनका अुन्होंने कमर कसकर विरोध किया। लेकिन मक्का की यात्रा, काबा का चुंबन, वहाँ का स्नान, अेक वस्त्री आदि विधियों में कोअी दोष न देख अुन्हें अिन्होंने जारी रहने दिया। बक़अीद का बलिदान भी स्वयं मुहम्मद साहब ने नहीं चलाया है। लेकिन अुसके मूल में शिबि-अियाल या रुक्मांगद के जैसी अलौकिक अीश्वर-निष्ठा देखकर ही अुन्होंने अुसे रहने दिया। मांसाहारी लोगों में बक़अीद का बलिदान सहज ही शोभा देता है, लेकिन यही बक़अीद की .क़ुरबानी हिन्दुस्तान में महाकलह की जड़ बन गयी है। तटस्थरूप से अिस्लाम का अध्ययन करने पर मालूम हुआ है कि बक़अीद की .क़ुरबानी अिस्लाम का आवश्यक अंग नहीं है। अिस्लाम के मानी हैं अीश्वर के प्रति अनन्य निष्ठा। अिस्लाम का असली आग्रह

अीश्वर की अद्वैतता के बारे में है। अनात्मा को आत्मा मानना अनीश्वर को अीश्वर मानना, अिससे अिस्लाम को बड़ी चिढ़ है। हर धर्मनिष्ठ साधक और भक्त में तो वह होती ही है। जो विलासनिष्ठ हैं, धनलोलुप हैं, जान-माल-परस्त हैं, किताबपरस्त हैं वे सच्चे मुसल-मान नहीं हैं। यह बात अलग है कि आजकल कितने ही मुसलमान औरों का अनुकरण करके ताज़िये निकालते हैं और मस्जिदपरस्ती का दोष करते हैं। लेकिन सच्चे अिस्लाम का मतलब है अीश्वर-निष्ठा, गरीबों के प्रति दया, अीश्वर प्रार्थना और धर्मसेवा और प्रत्येक धर्म के बारे में यही बात कही जा सकती है।

---

[४०]

प्रकीर्ण

ज्ञानकर्मसमुच्चयः —

गीता में बतायी हुअी विचार प्रणाली का श्रवण-मनन करने पर मालूम होगा कि ज्ञान कर्म समुच्चयवाद गीता के लिये है ही नहीं। क्योंकि ज्ञान और कर्म दोनों शब्दों का प्रयोग गीता ने लगभग अेक ही अर्थ में किया है।

'भूतभावोद्‌भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः' वाली कर्म की परिभाषा (गीता-८,३) देखी जाय अथवा 'अेतज्ज्ञान मिति प्रोक्त' के पद के पहले दिक्‌दर्शित की हुअी ज्ञान की परिभाषा (गीता-१३, ७ से ११) और अठाहरवें अध्याय के 'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्' (श्लोक ४२) पदों पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि गीता ने कर्म से मिलने वाले अन्तिम फल और ज्ञान से मिलने वाले अतिम फल में कोअी फ़र्क नहीं किया है।

'ज्ञान प्राप्ति हो जाने पर मोक्ष मिलता है' अिस बात पर गहराअी के साथ जब हम सोचने लगते हैं तब पहले हमें अिसका अर्थ निश्चित करना होगा कि 'ज्ञानि प्राप्ति हो जाने के क्या मानी ?' शब्दों के अर्थ की प्रगल्भता, गहराअी और व्यापकता कैसे कैसे बढ़ती गयी, अिस बारे में भी सोचना लाभप्रद होगा।

अनासक्ति का मतलबः—

मनुष्य चाहे जितना बुद्धिमान, सचेत, बहुश्रुत और कुशल हो तो भी अुसके लिये सर्वज्ञ होना कभी संभव नहीं। अिसलिये अुसके कार्य में अैसा कुछ न कुछ हिस्सा ज़रूर रहेगा जिसका खयाल पहले से नहीं

किया गया है, जो ध्यान में, नहीं आया है, जिसे नहीं देखा गया है यानी जो अदृष्ट है। मनुष्य की अिस स्थिति के बारे में जिसे पूरा पूरा विश्वास हो गया है अुसके स्वभाव में अेक तरह की नम्रता, शरणागतता और अीश्वरनिष्ठा जरूर आयेंगी। 'यह विश्वव्यवस्था मेरी समझ में नहीं आ सकती; यह मेरे हाथ में नहीं है; विश्वरचना का अुद्देश्य जिस तरह मेरी सफलता से सफल होने वाला है अुस तरह मेरी विफलता से भी वह सफल ही होने वाला है' अिस तरह की ज्ञानयुक्त श्रद्धा के कारण मनुष्य नम्र और शान्त हो जाता है। अिस विश्वास से कि परममंगल परमात्मा के हाथ में विश्वतंत्र सुरक्षित है, श्रद्धावान मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है। अुसकी प्रार्थना तो हमेशा यही रहेगी कि 'अिस योजना से भिन्न मेरा अलग अर्थ—संकुचित स्वार्थ—कभी न रहे; अिस तरह का क्षुद्रस्वार्थ दुर्भाग्य से मेरे हृदय में पैदा हो जाय तो वह असफल हो जाय, अुस स्वार्थ का अभिमान मुझमें न हो, मैं तदाकार न होअूँ।' अिस सारी वृत्ति को अनासक्ति कहा जाय।

क्रोधः—

वासनाओं के कारण अभिभूत हुआ मनुष्य सर्वकल्याणकारी मंगल योजना को भूल जाता है और अुस वजह से वह यह सोचकर बेचैन हो जाता है कि सृष्टि का तंत्र अुसकी वासना की दृष्टि से अनुकूल नहीं चलता है। हाथ में पकड़ने की चक्की की खूँटी अपना निजी महत्व बढ़ाने के हेतु से अगर यह अिच्छा करे कि चक्की अपने बीच की कील की चारों ओर न घूमकर अुसके ही आस पास घूमती रहे, तो पीसने की क्रिया का जो हाल होगा वही हाल वासनाधीन मनुष्य के हाथ में सृष्टि का तंत्र पड़ने से अुसका होगा। यह देखकर कि विश्वतंत्र हमारा वासना के अनुकूल नहीं हो रहा है, आस पास की हर चीज़ के बारे में मनुष्य नया ही राग-द्वेष निश्चित करता है और आखिरकार दुनिया से खीझ अुठता है। अिस खीझ या चिढ़ का ही दूसरा नाम क्रोध है।

स्मृतिभ्रंशः—

मनुष्य के आचरण में 'हम कौन हैं, कहाँ हैं, क्या करते हैं, हमारा और हमारी वृत्ति-कृति का आस-पास क्या असर पड़ रहा है' आदि का जागरूक विचार होना, अिसका अुग्र भान रहना ही स्मृति है। वासना-धीन मनुष्य जब गुस्से से पागल हो जाता है तब अुसमें यह स्मृति नहीं रहती और अिसलिये सत अेवं असत् का विवेक करने वाली और अुचित समय पर निर्णय देने वाली व्यवस्थापक बुद्धि का नाश होता है। अिस तरह की बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य का अधःपतन पूर्ण रूपेण हो जाता है।

यज्ञः—

किसी शीशे की हँडिया के नीचे कोअी पौदा पानी के साथ रखा जाय और अुसे पर्याप्त प्रकाश मिलता रहे तो भी हवा के अभाव में कुछ समय बाद वह मर जायगा। अिसी तरह टेबिल पर औंधी रखी हुअी हँडिया के नीचे पौदे के बजाय चूहा रखा जाय और वहाँ अुसे खाने पीने को मिलता रहे तो भी हवा के अभाव में वह मर जायगा। लेकिन अगर अेक ही हँडिया के नीचे चूहा और पौदा दोनों रखे जायँ तो चूहे के पेट से निकलने वाली हवा पौदे को पोषण देगी और पौदे के पत्तों से निकलने वाली हवा चूहे के लिये प्राणवायु—आक्सिजन—मुहैया करेगी। अिस तरह ये दोनों (पौदा और चूहा) परस्परावलंबी बनकर अेक दूसरे को पोषण देंगे और ज्यादा देर तक ज़िन्दा रहेंगे। दोनों के अिस लेन-देन का अनुपात अगर ठीक जम जाय तो हवा के अभाव में मरने की आफ़त अुन दोनों पर कभी न आयेगी। अिस व्यवस्था को अंग्रेज़ी में Symbiosis कहते हैं। यही हमारा यज्ञ है। सारे विश्व में यज्ञ-प्रभु परमात्मा ने अैसा प्रबन्ध रखा है। अिस व्यवस्था को पहचान कर बुद्धि पुरस्सर यज्ञनिष्ठ रहना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यज्ञनिष्ठा से ही मनुष्य निष्पाप और अिह-परलोक में सुखी होता है तथा विश्वमंगलता का सेवक बनता है। जन-संख्या बढ़ जाने से पृथ्वी का बोझ नहीं बढ़ता

किया गया है, जो ध्यान में, नहीं आया है, जिसे नहीं देखा गया है यानी जो अदृष्ट है। मनुष्य की अिस स्थिति के बारे में जिसे पूरा पूरा विश्वास हो गया है अुसके स्वभाव में अेक तरह की नम्रता, शरणागतता और अीश्वरनिष्ठा जरूर आयेंगी। 'यह विश्वव्यवस्था मेरी समझ में नहीं आ सकती; यह मेरे हाथ में नहीं है; विश्वरचना का अुद्देश्य जिस तरह मेरी सफलता से सफल होने वाला है अुस तरह मेरी विफलता से भी वह सफल ही होने वाला है' अिस तरह की ज्ञानयुक्त श्रद्धा के कारण मनुष्य नम्र और शान्त हो जाता है। अिस विश्वास से कि परममंगल परमात्मा के हाथ में विश्वतंत्र सुरक्षित है, श्रद्धावान मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है। अुसकी प्रार्थना तो हमेशा यही रहेगी कि 'अिस योजना से भिन्न मेरा अलग अर्थ—संकुचित स्वार्थ—कभी न रहे; अिस तरह का क्षुद्रस्वार्थ दुर्भाग्य से मेरे हृदय में पैदा हो जाय तो वह असफल हो जाय, अुस स्वार्थ का अभिमान मुझमें न हो, मैं तदाकार न होअूँ।' अिस सारी वृत्ति को अनासक्ति कहा जाय।

क्रोधः—

वासनाओं के कारण अभिभूत हुआ मनुष्य सर्वकल्याणकारी मंगल योजना को भूल जाता है और अुस वजह से वह यह सोचकर बेचैन हो जाता है कि सृष्टि का तंत्र अुसकी वासना की दृष्टि से अनुकूल नहीं चलता है। हाथ में पकड़ने की चक्की की खूँटी अपना निजी महत्व बढ़ाने के हेतु से अगर यह अिच्छा करे कि चक्की अपने बीच की कील की चारों ओर न घूमकर अुसके ही आस पास घूमती रहे, तो पीसने की क्रिया का जो हाल होगा वही हाल वासनाधीन मनुष्य के हाथ में सृष्टि का तंत्र पड़ने से अुसका होगा। यह देखकर कि विश्वतंत्र हमारी वासना के अनुकूल नहीं हो रहा है, आस पास की हर चीज़ के बारे में मनुष्य नया ही राग-द्वेष निश्चित करता है और आखिरकार दुनिया से खीझ अुठता है। अिस खीझ या चिढ़ का ही दूसरा नाम क्रोध है।

स्मृतिभ्रंशः—

मनुष्य के आचरण में 'हम कौन हैं, कहाँ हैं, क्या करते हैं, हमारा और हमारी वृत्ति-कृति का आस-पास क्या असर पड़ रहा है' आदि का जागरूक विचार होना, इसका उग्र भान रहना ही स्मृति है। वासनाधीन मनुष्य जब गुस्से से पागल हो जाता है तब उसमें यह स्मृति नहीं रहती और इसलिये सत एवं असत् का विवेक करने वाली और उचित समय पर निर्णय देने वाली व्यवस्थापक बुद्धि का नाश होता है। इस तरह की बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य का अधःपतन पूर्ण रूपेण हो जाता है।

यज्ञः—

किसी शीशे की हँडिया के नीचे कोई पौदा पानी के साथ रखा जाय और उसे पर्याप्त प्रकाश मिलता रहे तो भी हवा के अभाव में कुछ समय बाद वह मर जायगा। इसी तरह टेबिल पर औंधी रखी हुई हँडिया के नीचे पौदे के बजाय चूहा रखा जाय और वहाँ उसे खाने पीने को मिलता रहे तो भी हवा के अभाव में वह मर जायगा। लेकिन अगर एक ही हँडिया के नीचे चूहा और पौदा दोनों रखे जायँ तो चूहे के पेट से निकलने वाली हवा पौदे को पोषण देगी और पौदे के पत्तों से निकलने वाली हवा चूहे के लिये प्राणवायु—आक्सिजन—मुहैया करेगी। इस तरह ये दोनों (पौदा और चूहा) परस्परावलंबी बनकर एक दूसरे को पोषण देंगे और ज्यादा देर तक ज़िन्दा रहेंगे। दोनों के इस लेन-देन का अनुपात अगर ठीक जम जाय तो हवा के अभाव में मरने की आफ़त उन दोनों पर कभी न आयेगी। इस व्यवस्था को अंग्रेज़ी में Symbiosis कहते हैं। यही हमारा यज्ञ है। सारे विश्व में यज्ञ-प्रभु परमात्मा ने ऐसा प्रबन्ध रखा है। इस व्यवस्था को पहचान कर बुद्धि पुरस्सर यज्ञनिष्ठ रहना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यज्ञनिष्ठा से ही मनुष्य निष्पाप और इह-परलोक में सुखी होता है तथा विश्वमंगलता का सेवक बनता है। जन-संख्या बढ़ जाने से पृथ्वी का बोझ नहीं बढ़ता

है, लेकिन यज्ञ बंद हो जाने से, मनुष्य यज्ञपराङ्मुख हो जाने से समाज हतबल होता है, पृथ्वी का बोझ बढ़ता है और फिर विप्लव हो जाता है।

हर मनुष्य ने आहार, रक्षण, विद्या, आनन्द आदि बाबतों में जो कुछ प्राप्त किया होगा वह सब फिर से उसी प्रकार का पैदा करके अपने उपभोग से पैदा होने वाली दरिद्रता को अपने परिश्रम से दूर करना—इसी का नाम यज्ञक्रिया है। थोड़े में कहा जाय तो यज्ञ भोगों का मुआवज़ा है। समाज परस्पर-सम्बद्ध और एकजीव होने की वजह से सबकी तरफ से सबको यज्ञ करना चाहिये। जिसकी समझ में यज्ञ का रहस्य आया हो उसे जमा खर्च ठीक होने तक सबकी तरफ से परिश्रम करना ही चाहिये। अज्ञ लोगों का बोझ ज्ञानी लोग उठायें यही धर्म है, यही न्याय है; क्योंकि दुनिया के अज्ञान की जिम्मेदारी ज्ञानी लोगों के सिर पर ही आ पड़ती है।

विभूतिः—

गीता के सातवें और दसवें अध्याय में विभूतियों का वर्णन आता है। यह कहकर कि इस दुनिया में जो कुछ है वह भगवान से ही पैदा हुआ है, सारे जगत् का प्रभव और प्रलय वह परमात्मा ही है, भगवान ने बताया कि सभी भूतों या जीवों में बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख-दुःखादि द्वन्द्व, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान आदि सब भाव परमेश्वर से ही सम्बन्धित हैं और बाद में उन्होंने विस्तार के साथ इसका वर्णन किया कि परमात्मा से पैदा होने वाले भूतजातों भूतों में ईश्वरी अंश यानी ऐश्वर्य का उत्कर्ष जहाँ-जहाँ होगा वहाँ वहाँ स्वयं उनकी विभूति है। भगवान ने अर्जुन से यह भी कहा कि इन विभूतियों का कोई अंत या पार नहीं है। तब अर्जुन के मन में यह बेचैनी पैदा होगयी कि क्या इस विभूति-विस्तार के दिव्य दर्शन मैं कर सकूँगा ? क्या पृथक् भावों को एकत्र करके समस्त रूप से उनके दर्शन करना संभव है ?' क्योंकि सब भूतों में एक और अव्यय भाव

देखना, विभक्तों में अविभक्त को पहचानना ही सच्चा ज्ञान है। जब भूत पृथक् भाव को अेक स्थान में प्रस्थापित देखना संभव होगा और अुस अेकस्थ भाव में से ही यह सब विस्तार हुआ है अैसी प्रतीति होगी तभी ब्रह्म का आकलन हुआ कहना चाहिये।

भगवान ने गीता के दसवें अध्याय में जिस विभूतियोग का वर्णन विस्तार के साथ किया है अुसी का साक्षात्कार ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन की दिव्य दृष्टि को करा दिया। और अिस तरह के दोहरे कृपा-प्रसाद से भगवान की प्रवृत्ति का रहस्य खोलने या अुसका आकलन करने का अधिकार अुसे प्राप्त करा दिया।

अिसलिये हम यह जान लें कि विभूतिमत्व क्या चीज़ है। दुनिया की सभी चीज़ें और सभी प्राणी तथा अुनके सारे भाव परमात्मा से ही पैदा हुअे हैं। सत्त्वों की उत्तम मध्यम और सब कनिष्ठ स्थितियाँ अुसी के कारण हैं। लेकिन हर अेक में अीश्वरी तत्व कम या अधिक मात्रा में व्यक्त होते हैं। बड़ी खिड़की से ज्यादा रोशनी आती है और छोटी से कम, बीच में पतले शीशे में से रोशनी चारों तरफ फैलती है, मामूली शीशे में से वह सिर्फ आरपार चली जाती है। अपारदर्शक चीज़ में से वह दूसरी ओर बिलकुल ही नहीं जाती। बिल्लौरी शीशे में से आरपार जाते समय रोशनी टूटती है, फूटती है और अेक शुभ्र रंग के सात अलग अलग रंग बन जाते हैं। वही रोशनी जब बीच में मोटे, सूक्ष्मदर्शक शीशे में से केन्द्रीभूत होकर चली जाती है तब वह अत्यन्त तेजस्वी और तपस्वी बन जाती है। अिसी न्याय से जिन व्यक्तियों, सत्वों या पदार्थों की घटना में किसी अेक गुण या पद्धति का आत्यंतिक अुत्कर्ष हुआ हो अुन सत्वों को विभूति कहते हैं। हिमालय का बड़प्पन अुसकी सर्वोच्च चोटी में है; पानी की जीवनता अुसके रूपगुण में है, प्रभा की चंडता या सौम्यता के कारण ही सूर्य या चन्द्र को महत्व मिला है; अपनी शक्ति, तेज, प्रभाव, कान्ति, समृद्धि, सात्विकता, दाहकता या अिसी तरह के किसी असाधारण गुण के कारण जिस जिस वस्तु को विशेषता प्राप्त

होती है, वह यह भगवान की ही विभूति है। दुनिया के अन्दर का भला-बुरा, अिष्ट-अनिष्ट, सब कुछ भगवान से ही है अिसलिये जुआँरियों में शकुनी भी अीश्वर की ही विभूति है। अुन्नति की अिच्छा करने वालों को सभी विभूतियों का अनुशीलन वा अनुकरण नहीं करना चाहिये। लेकिन यह पहचानकर कि हर अंश में अीश्वरी तत्व ही है; और यह ध्यान में रखकर कि शीघ्र या देरी से सभी भगवान के पास पहुँचनेवाले हैं, मनुष्य को चाहिये कि वह अहंकार तथा तिरस्कार दोनों छोड़ दे और शुभ विभूतियों की प्राप्ति के लिये अखंडरूप से कोशिश करता रहे।

व्यवहार में हम किसी को महान् पुरुष के तौर पर पहचानते हैं, किसी को पामर कहते हैं, कोअी मामूली दर्जे का होता है और कोअी अलौकिक बन जाता है। यह फर्क कैसे पड़ता है? शंकराचार्य जैसा सन्यासी, जनक के समान कर्मयोगी, अर्जुन-अुद्धव जैसे भक्त, कबीर जैसे ज्ञानी, और गोरखनाथ जैसे तपस्वी सब आप और हम जैसों की परिस्थिति में ही पले-बढ़े हैं। वही पृथ्वी, वही जनसमाज, वे ही कर्तव्य, वही आहार और दिन के अुतने ही चौबीस घंटे हर अेक को मिले थे, तो फिर आम लोगों में और अुनमें कैसे फर्क पड़ गया? अेक ही तरह के गन्ने से कोई ज्यादा रस चूस सकता है तो कोअी कम। जेल में मिलनेवाली दाल-तरकारी और दो रोटियों से मेरे जैसा आदमी जीने के लिये ज़रूरी पोषण भी नहीं प्राप्त कर सकता और कोअी पक्का डाकू अुतने ही आहार से अपने बदन को गठीला रखने लायक पोषण खींचकर ले सकता है। रस चूसने का यह जो शक्तिभेद है वह हर अेक के अन्दर की अुत्कटता पर निर्भर रहता है। किसी काव्य या धर्मवचन से कितना भाव लेना चाहिये यह तो हर एक की संस्कारिता पर निर्भर रहता है।

यह अुत्कटता ही विभूति है। अुथले पानी में अूपर अूपर तैरते रहना मामूली लोगों का स्वभाव है। अुतने ही समय में और अुसी परिस्थिति में गहरी डुबकी लगाकर तह तक पहुँचना जिनके लिये सम्भव हुआ अुन्हीं को विभूतिमत्व का रहस्य मालूम हुआ। जिनमें यह अुत्कटता

अधिक होगी अुनका अुत्कर्ष या अपकर्ष बड़ी तेज़ी से और बहुत ज्यादा होगा, और अिसलिये जिनमें यह अुत्कटता है अुन्हें अपने को अशुभ मार्ग की तरफ न जाने देने के लिये सामान्य जीवों की अपेक्षा अधिक सतर्क रहना चाहिये। और हर अेक को अपना स्वभाव व स्वधर्म पहचान कर अुत्कटता, तेजस्विता और तरस्विता के साथ अपने अन्दर के विभूतिमत्व को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। यही जीवन कर्त्तव्य है और अिसी में जीवन की सफलता है।

यद्यद्विभूति मत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तत् अेव......मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

मनुष्य के जीवन में बारबार अुठनेवाले सनातन सवालः—

(१) आध्यात्मिक (दार्शनिक) सवाल :—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

(२) नैतिक सवाल :—

किं कृत्वा सुकृतं भवेत्।

(३) मानसिक सवाल :—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।

(४) धार्मिक सवाल :—

किमहं पापकरवम्। किमहं साधु नाकरवम् ॥

ॐ नमो नारायणाय पुरुषोत्तमाय

मनुष्य-समाज की धार्मिक अुपासना की आधुनिक, शास्त्र-शुद्ध (वैज्ञानिक) और अत्यंत अुन्नत सीढ़ी अूपर के मंत्र में व्यक्त होती है। नारायण के मानी हैं मनुष्य समाज के हृदय में निवास करने वाला अंतर्यामी परमात्मतत्व। नर यानी मनुष्य। अिसमें स्त्री पुरुष आदि सब आगये। अिन सबके त्रिकालव्यापी समूह या समाज को ही नार कहते हैं। नार अर्थात् मनुष्यकोटि, मानवता। जो अतीत में हो गये हैं, आज मौजूद हैं और आगे होनेवाले हैं वे सब मानव जिसमें अन्तर्भूत होते हैं अैसी सनातन यानी नित्य मनुष्यजाति अर्थात् नार जिसका अयन यानी आश्रय स्थान बन गया है वह मनुष्यहृदय में अखंडरूप से व्यक्त होनेवाला परमात्मा 'नारायण' नाम से पहचाना जाता है। अिस विश्व में जो कुछ जड़ता महसूस होती है वह नश्वर है, निस्सार है। साररूप, सनातन, शुद्ध तथा नित्य और अिसीलिये अन्वेष्टव्य, मृग्य एवं प्राप्य नारायणतत्व को ही जीवन का ध्येय बनाया जाय, अुसी के लिये और अुसी में जीया जाय—अैसी दृढ़ निष्ठा रखनेवाला बलवान युवान भक्त सत्याग्रही प्रह्लाद नारायण का अुपासक था; अिसलिये 'नारायण' नाम के साथ ही सत्य की वीर्ययुक्त अनन्य अुपासना भी ध्यान में आती है। प्राचीन तथा अर्वाचीन महात्मा कहते आये हैं कि प्रत्येक नर यानी स्त्री पुरुष को जीवन-साधना के द्वारा अन्त में नारायणरूप बनना है। नारायण का ध्यान करना के मानी हैं नरजन्म का अन्तिम अुद्दिष्ट या ध्येय अखंडरूप से ध्यान में रखना। नर का अन्तिम और अनन्त विकास ही नारायणतत्व है। आज हमें यह स्थिति प्राप्त नहीं हुअी है। लेकिन

सब संभव अुपायों से और जल्द से जल्द यह स्थिति प्राप्त कर लेनी है जिसकी स्मृति और साधना 'नमः' शब्द से व्यक्त होती है। जिस तरह नदी सागर की ओर ही बहती है अुस तरह अपूर्ण के पूर्ण की ओर बहने को ही 'नमस्कार' कहते हैं।

पुरुष यानी नवद्वार के अिस पुर यानी देह में शयन करनेवाला, रहनेवाला, निवास करनेवाला आत्मा—साधनात्मक जीव। स्त्री और पुमान् (मर्द) दोनों का अिसमें समावेश होता है। (जिस तरह 'दिवस' शब्द में दिवस (दिन) और रात दोनों का समावेश हो सकता है अथवा पितर शब्द में पिता और माता दोनों आ जाते हैं अुस तरह 'पुरुष' शब्द में पुरुष और स्त्री दोनों का समावेश ह ता है।) यह पुरुष व्यक्ति के रूप में अेक देह में रहता है, यही समाज के रूप में त्रिकालव्यापी समुदाय में रहता है और विराट रूप में सारे विश्व में रहता है। जिस तरह हम अिस व्यक्ति में पुरुष रूप में (Personality पर्सनालिटी के तौर पर) पहचानते हैं अुस तरह सारे विश्व में सूर्यचन्द्रादि ग्रह तथा नक्षत्र-ताराओं के समुदाय में भी पुरुषरूप में ही देखना चाहिये। मनुष्य समाज का विचार करते समय भी हमें यह जान लेना चाहिये कि समष्टि रूप में वह अेक पुरुष है।

'पुरुष अेवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यम्।' विविधवर्गात्मक मनुष्य समाज भी अविकल पुरुष ही है। अिस पुरुष के दो पहलू हैं: क्षर तथा अक्षर। भूतरूप में देखने पर वह क्षर जैसा मालूम पड़ता है और अुसके अन्दर के कूटस्थ तत्त्वों का विचार करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि वह अक्षर है। अिस क्षर-अक्षर की साधना जिस आदर्श को सिद्ध करना चाहती है अुस पुरुषतत्व का 'पुरुषोत्तम' नाम है। आज का मनुष्य अपूर्ण है, असम है और सदोष है। आज का विश्व अपूर्ण है, असम है और सदोष है। अुसे पूर्ण, सम तथा निर्दोष यानी भूमा और बृहत् बनना है, अर्थात् पुरुषोत्तम बनना है। विराट पुरुष का यह अन्तिम आदर्श ही पुरुषोत्तम है। आत्मौपम्य के द्वारा विश्वात्मैक्य का

साक्षात्कार करने पर ही यह पुरुषोत्तम पद प्राप्त होगा। अिसलिये विश्वात्मैक्य ही पुरुष का 'पुरुषार्थ' है। मोक्ष तो विश्वात्मैक्य का केवल प्राथमिक साधन है। धर्म-अर्थ- काम जिस मात्रा में पुरुष को मोक्ष की ओर ले जायेंगे अुस मात्रा में अुन्हें भी अुपलक्षण से पुरुषार्थ कहने में कोअी हर्ज नहीं है। पुरुषोत्तम-प्राप्ति के लिये पुरुष को जो साधना करनी होती है, जो पुरुषार्थ करना होता है, जो निरलस, अखंड तथा वर्धमान पराक्रम करना होता है वह 'नमः' शब्द ने व्यक्त किया है।

अिन सब का आद्य कारण अथवा मूल आधार जो आस्तिकतारूपी श्रद्धा है अुसी का नाम 'ॐ' है। 'ॐ' अर्थात् 'हाँ'! जहां अिन्कार, निषेध, अभाव या अश्रद्धा को तनिक भी स्थान नहीं है। अुस पदवी को, अुस वृत्ति को, अुस श्रद्धा को 'ॐ' कहते हैं। 'ॐ' अजर-अमर और अखंड आस्तिकता है। 'मेरा जीवन सत्यरूप है, अुसका अन्तिम आदर्श सत्यरूप है, अुस आदर्श तक पहुँचना सम्भव है, अिस पहुँचने की यात्रा अथवा साधना कृतार्थ होने को समर्थ है, अिस तरह का दृढ़ विश्वास ही यह 'ॐ' कार है। सच्चिदानन्दरूपी प्रभु से वह भिन्न नहीं है। अिस-लिये अुसका स्मरण करके ही सब ध्यान चलना चाहिये। और ध्यान-पूर्वक ही सब साधना यानी पराक्रम होना चाहिये। यह साधना जैसे-जैसे सिद्ध होती जायेगी, ध्येय का साक्षात्कार जैसे-जैसे होता जायगा वैसे वैसे प्राप्ति का आनन्द भी अिस मंत्र से ही व्यक्त होता है। यह सब हेतु मन में रखकर ही अिस मंत्र का सरहस्य जप कहा गया है।

: १ :

समन्वय-संस्कृति

यह हमेशा ध्यान में रहना अुपयोगी है कि मनुष्य की ज्ञानोपासना के मुख्य-मुख्य क्षेत्र कौन से हैं। मनुष्य की हमेशा यह खोजने की कोशिश चलती रहती है कि अुसके आसपास की सारी दुनिया कैसी है और अुसका वह क्या अुपयोग कर सकता है। मनुष्य को यह लगन हमेशा लगी रहती है कि वह जीये और अुसका जीवन सुखी, समृद्ध, समर्थ तथा कृतार्थ बने। अिसलिये वह अपने आसपास के, पहले संकुचित और बाद में विशाल जीवन को जाँच परखकर देखता रहता है। अिसके बाद वह अपने सामाजिक जीवन से परिचित हो जाता है और फिर वह समाजशास्त्र की तरफ मुड़ता है। अिस अेक शास्त्र की अुसने असंख्य शाखायें बनायी हैं। समाजशास्त्र की चिकित्सा करते करते अुसे अपने और दूसरे लोगों के मनोव्यापार का अन्दाजा लगाना पड़ता है। अिसी में से मनुष्य का मनोविज्ञान पैदा होता है।

मनोविज्ञान की मीमांसा में मनुष्य को अध्यात्म मिलता है और अिस अध्यात्म के बल पर जब वह बाह्य जगत् की भी खोजबीन करने लगता है तब अुसे दर्शनशास्त्र का दर्शन होने लगता है। जब विश्व के रहस्य में से परमात्मा का आकलन हो जाता है और अन्तर्मुख वृत्ति से आत्मा का आविष्कार होता है, तब मनुष्य अध्यात्मशास्त्र के अध्ययन के लिये लायक बन जाता है। यह अध्यात्मशास्त्र मानव की तीनों तरह की ज्ञानोपासना—भौतिक शास्त्र, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की त्रिपुटी—को प्रभावित करता है और नया अर्थ प्रदान करता है।

अिस तरह हमारे पूर्वजों ने अध्यात्मशास्त्र की प्रेरणा के वशीभूत होकर जो विविध ज्ञानोपासना की और अुसमें से पुरुषार्थ के जो आदर्श निश्चित किये; जीवनवीर्य बनकर जो प्रयोग किये और समाज को जो स्वास्थ्य और स्थिरता प्राप्त करा दी वह सब हमारी भारतीय संस्कृति है। अिस आध्यात्मिक और जीवननिष्ठ संस्कृति के स्वरूप की मीमांसा करते समय जो कुछ दिखाअी दिया अुसमें से कुछ हिस्से की रचना अिस किताब में की गयी है।

हिन्दुओं के समाजकारण अर्थात् समाजनीति में संस्कार, वर्ण-व्यवस्था, आश्रमव्यवस्था और पुरुषार्थों का क्रम आदि सभी बातें आ जाती हैं।

अिस बारे में शायद हमारे प्रयोग संकुचित होंगे। कभी-कभी अैसा भी हुआ होगा कि मूल कल्पना तो भव्य है मगर अुसे अमल में लाने का तरीका बिलकुल बेढंगा है। कहीं-कहीं अैसा भी हुआ होगा कि अुस-अुस जमाने में हमारे प्रयोग बिलकुल सफल और कल्याणदायी साबित हुअे थे, लेकिन आज वह प्रकार कालग्रस्त हो जाने के कारण निःसत्व हुअे होंगे और कअी प्रकार वास्तव में वैसे रद्दी न भी हों जैसा कि हमें लगता है, और भविष्यकाल की विशाल तथा दृढ़ बुनियाद पर वह नये-नये रूप धारण करने वाले होंगे और नयी कृतार्थता सिद्ध करने वाले होंगे।

अिन सब बातों का सतर्कता किन्तु लगन के साथ, श्रद्धायुक्त बुद्धि-शक्ति से निरीक्षण और चिन्तन करना आवश्यक है। अिस चिन्तन के बलपर अगर हम फिर से अपने पूर्वजों की तरह प्रयोगपरायण बन गये; और किताबी प्रमाण और रूढ़ियों के प्रमाण का अन्धापन हमने छोड़ दिया, तो नये-नये प्रयोग करके कालोचित समाज का निर्माण करने की हिम्मत हममें आ जायगी।

जब हम चातुर्वर्ण्य के रहस्य को भूल गये अुसी ज़माने में लोगों में अुस संस्था के प्रति अत्यंत आग्रह और अंधी श्रद्धा पैदा हो गयी।

चातुर्वर्ण्य किसलिये है अिस बात का खयाल किये बिना ही लोग चातुर्वर्ण्य पर गर्व करने लगे जिसका नतीजा यह हुआ कि वर्णव्यवस्थ का लाभ तो हमें मिला ही नहीं, अुलटे हमारी रूढ़ि की दासता बढ़ गयी

अतः पहले यह बताना पड़ा कि जाति के मानी वर्ण नहीं हैं। वर्ण-व्यवस्था की स्थापना खान-पान तथा शादी-ब्याह के सम्बन्धों को तोड़ने के लिये नहीं बल्कि समाज सेवा के क्षेत्रों को आजीविका तक सीमित करने के लिये की गयी थी। वर्ण व्यवस्था ने परम्परागत कुशलता का संग्रह किया, स्वधर्म का तत्व लोगों को सिखाया, बेहूदा होड़ को रोक रखा और लोगों को अिस बात का भान करा दिया कि समाज-व्यवस्था की सब अिकाअियाँ समाज-शरीर के अवयवों की तरह हैं। वर्ण व्यवस्था का सच्चा स्वरूप ध्यान में आ जाने के बाद ही खान-पान तथा शादी-ब्याह के सम्बन्धों की समाज को संकुचितता ढीली पड़ गयी और लोगों को अिस बात की प्रतीति हुअी कि वर्णव्यवस्था में भी परिवर्तन करने का अुन्हें अधिकार है।

अब हमें शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से तथा अैतिहासिक दृष्टि से अपनी समाज-नीति का विचार करना चाहिये। जिस तरह समाज के सामने अेक यह विचार पेश किया गया है कि चातुर्वर्ण्य के बदले सातवर्ण्य हो और अुसमें भी अलग क्षत्रियवर्ण न रहे, अुसी तरह यह बात भी जनता के सामने प्रधान रूप से रखी जानी चाहिये कि आज का जमाना वर्ण-व्यवस्था—फिर वह चारों की हो, सात की हो या सात सौ की हो—को सुखा देने का जमाना है।

बहुतों ने यह अुम्मीद रखी कि आज की प्रचलित जाति-व्यवस्था में से नयी वर्णव्यवस्था का निर्माण किया जा सकेगा। अब हमें देखना यह है कि क्या पुरानी वर्णव्यवस्था को फिर से शुरू करके हिन्दुओं का संगठन करना सम्भव होगा या हिन्दुओं में से ही पैदा हुअे मुसलमान, अीसाअी आदि समाजों तथा हमारे साथ पड़ोसी के नाते सैकड़ों बरस तक रहकर यहाँ के ही स्थायी निवासी बने हुअे पारसी

समाज के साथ हम पहले अेक रूप बनें ? यानी यह कि सब वर्णों की भिन्न-भिन्न मनोरचनाओं तथा आदर्शों का मेल करके अेक ही वर्ण की प्रस्थापना की जाय और दुनिया में हिन्दुस्तान को प्रतिष्ठा का स्वतंत्र स्थान मिल जाने के बाद भविष्यकाल के अनुरूप चाहे जो समाज-रचना बनाने की तैयारी की जाय ?

हमारा आजतक का अितिहास, आज की दुनिया की हालत और भविष्यकाल के लिये हम जो आदर्श बना रहे हैं अुन सबका विचार करने पर मालूम होगा कि हमें अेक अैसी विशाल संस्कृति का निर्माण करना है जिसका खयाल तक किसी को नहीं हुआ होगा।

शिवाजी महाराज से पहले प्राचीन का अुद्धार करने का प्रयत्न विजयनगर साम्राज्य ने कर देखा। लेकिन अतीत काल कभी वापस नहीं आता। शिवाजी महाराज ने पुराने को नया रुख दिखलाया। आज भी आर्य समाज ने वैदिक काल को वापस लाने की कल्पना कर देखी। सनातनी हिन्दुओं ने हिन्दू संगठन कर देखा। लेकिन पुराने को नया रुख दिये बिना भविष्यकाल का आवाहन ही नहीं हो सकता; अिसका कोअी क्या करे ? अब अितिहास क्रम से हिन्दुस्तान में आकर स्थायी हुअे सब धर्मों का समन्वय करना अनिवार्य या अपरिहार्य हो बैठा है। स्वकीयों ने जिन जिन धर्मों का स्वीकार किया है और जो-जो धर्म हमारे यहाँ सैकड़ों बरस से रहते आये हैं अुनके साथ हम अभी और कितने दिनों तक पराये की तरह बरताव रखेंगे ? यह ठीक है कि विदेशी लोग अिन धर्मों को यहाँ ले आये, लेकिन यह भी अुतना ही सही है कि अुनका स्वीकार करने वाले यहाँ के, स्वकीय, ही हैं। अिन स्वकीयों को अिन सब धर्मों के प्रति आत्मीयता का अनुभव होता है अितना साबित हो जाने के बाद हमारे सामने दो ही मार्ग रहते हैं। अेक यह कि स्वकीयों ने अिन धर्मों का स्वीकार किया है अिसलिये अिन धर्मों को ही स्वकीय समझना और दूसरा यह कि स्वकीयों ने विदेशी धर्मों का स्वीकार किया है अिसलिये स्वकीयों को ही विदेशी बनाना। यह दूसरा

मार्ग हिन्दू संस्कृति के स्वभाव के विपरीत होने पर भी हमने आजतक असे आजमाकर देखा लेकिन भारतीय स्वधर्म के विरुद्ध बरताव रखकर हमारी प्रगति कैसे होगी ? गलती ध्यान में आते ही असे दुरुस्त करना चाहिये । अब से हमें यह मान लेना चाहिये कि जो धर्म स्वकीयों को मंजूर हैं वे सब स्वकीय ही हैं; और अिस बुनियाद पर ही हमें अपनी समाजनीति चलानी चाहिये। असी में से हमें अपनी संस्कृति की कृतार्थता मिलनेवाली है ।

यह विचार भारतोय परंपरा के अनुरूप होने पर भी पिछले पचास बरसों की हिन्दुओं की प्रवृत्ति के अनुसार नहीं है । अिसके स्वागत के लिये हिन्दू मन को तैयार करने के लिये बहुत बड़ी तादाद में साहित्य पैदा होना चाहिये और बहुत बड़ा सामाजिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलन हो जाना चाहिये । आज अिस किताब में वह करना सम्भव नहीं है, आज तो सिर्फ असका सूचन करके ही सन्तोष करना पड़ता है। केवल सनातनी तार्किक दलीलों या शब्दाडम्बरों से काम लेकर अब अिस विषय को खत्म नहीं किया जा सकता । महाराष्ट्र ने पिछली दो पीढ़ियों में अुद्धारक वृत्ति धारण करके सुधारकों को बहुत सताया, लेकिन अन्त में ये अुद्धारक ही धीरे-धीरे नये सुधारों के प्रवाह में बह गये ! अिस बारे में भी हमारे नेता अगर अिसी ढंग पर चले तो कोअी आश्चर्य की बात नहीं !

आअिंदा भी सर्वसमन्वयकारी नये सुधारों के बारे में पुराना खेल खेलना असम्भव नहीं है । अिस टेकिनक या तंत्र में हम काफी होशियार भी हैं। लेकिन दुनिया तेजी के साथ आगे बढ़ रही है । पुराने खेलों की हमें आदत पड़ गयी है; लेकिन अिससे वे कम महँगे यानी हानिकर साबित न हो सकेंगे । अब भविष्यकाल अुन्हीं का है जिनके ध्यान में यह बात आ जायेगी कि समाज द्रोह करके ही सच्चे सुधारों का विरोध करना सम्भव है ।*

वर्धा

१७-३-४६

* मराठी 'हिन्दूचें समाजकारण' की प्रस्तावना से ।

: २ :

सामाजिक भूमिका

स्वर्गीय श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अेक जगह लिखा है कि हिन्दुस्तान का सवाल वास्तव में राजनैतिक नहीं बल्कि सामाजिक है। आज जब कि हम स्वराज्य के द्वार तक आ पहुँचे हैं, और केवल औपचारिक तौरपर ही क्यों न हो, अंग्रेज हमारी संपूर्ण स्वतंत्रता को स्वीकार कर रहे हैं, तब रवीन्द्रनाथ का कहना अधिक स्पष्ट हो जाता है कि हमारा राष्ट्रीय प्रश्न जितना राजनैतिक है अुससे अधिक सामाजिक है। हमारी राजनैतिक परेशानियाँ भी हमारी सामाजिक कमजोरी में से पैदा हुअी हैं। अगर आज हमारा राष्ट्र सामाजिक दृष्टि से अेक और अखंड समुदायात्मक होता, अगर हमारे हृदय अेक होते, हमारे मन अेक ही दिशा में काम करते होते, हमारी राष्ट्रीय यात्रा अेक ही आदर्श की ओर जाती होती, तो हमारी राजनैतिक आकांक्षाओं की सिद्धि में अिंग्लैंड किसी तरह की रुकावट न डाल सकता।

हिन्दुस्तान की सर्वतोमुखी प्रगति के बारे में आस्था रखने वाले महाराष्ट्रीय नेताओं ने अेक ज़माने में अिस बात की बड़ी गर्म बहस चलायी थी कि पहले राजनैतिक सुधार किये जायँ या सामाजिक? सिर्फ चर्चा चलाकर ही वे न रुके, अुनमें दो दल बन गये। दोनों दलों ने अपने-अपने ढंग से अच्छा ही काम किया, लेकिन अगर दोनों में सहयोग हो जाता तो जनता गुमराह न होती और आपसी विरोध के कारण राष्ट्रीय शक्ति की जितनी बरबादी हुअी अुतनी न होती।

गांधी युग में हमने यह जान लिया है कि राजनैतिक सवाल मूलतः

सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक ही होता है, अिसलिये 'पहले राजनीति या समाजनीति ?' का सवाल ही न अुठाकर सारी जीवननीति को ही हाथ में लेना चाहिये। राजनैतिक सवाल हल किये बिना सामाजिक सुधारों को बल नहीं प्राप्त होता; और सामाजिक सुधार करके राष्ट्रीय अेकता सिद्ध किये बिना राजनैतिक के लिये ज़रूरी जनशक्ति ही पैदा नहीं हो सकती। जनता की सेवा सामाजिक क्षेत्र में की गयी हो तो वह राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे में हमें तुरन्त मदद देने लगती है। 'जनता में सेवा बोअिये और स्वराज्य की फसल काटिये।' अिस तरह का अुनका परस्पर सम्बन्ध है। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और शिक्षा-सम्बन्धी, सभी प्रश्नों को अेक साथ करके गांधी जी ने अुनके हल को 'रचनात्मक कार्यक्रम' नाम दिया है। यह रचना किस बात की ? वह है स्वराज्य की, समर्थ राष्ट्रीयता की, सर्वतोमुखी सामर्थ्य की रचना।

धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा-सम्बन्धी, आदि जीवन के— विराट जीवन के अनेक पहलू हैं; फिर भी जीवन अेक तथा अविभाज्य अखंड है। अिसलिये अुन्नयन दंड (Lever) कितना भी और कहीं से भी क्यों न लगाया जाय, आखिर अुत्थान तो समग्र जीवन का ही करना है।

जीवन का यथार्थ आकलन होने के लिये अुसके अलग अलग पहलुओं पर हम जुदे-जुदे तौरपर सोचते हैं। यह अुचित भी है; लेकिन जितने ही जीवन के टुकड़े किये जायँ तो हाथ में जीवन न आकर मृत्यु ही आयेगी। विचार के हिस्से किये जा सकते हैं, कार्य राशि के भी विभाग किये जा सकते हैं, लेकिन अगर हम जीवन के ही टुकड़े करने लगें तो वह आत्मघात ही होगा। अगर हम स्वराज्य चाहते हों, राष्ट्र के शरीर में स्वतंत्रता के प्राण को संचारित हुआ देखना चाहते हों तो समाज को सब तरफ नीरोगी, सुदृढ़, समर्थ, तथा संस्कार-सम्पन्न बनाने के लिये और राष्ट्र को अुसके ध्येय का भान कराने के लिये हमें राष्ट्ररचना का काम अखंडरूप से चलाना चाहिये। अुसी का

अेक पहलू सामाजिक प्रश्न है। अुस पहलू को अत्यधिक महत्त्व देना जैसे ग़लत होगा वैसे ही अुसकी तरफ बिलकुल ध्यान न देना भी आत्म-घात की तरह होगा।

पिछली पीढ़ी के महाराष्ट्रीय लोगों ने समाज-सुधार के बारे में जो विचार किया वह खासकर मध्यम श्रेणी के लोगों तक ही सीमित था और सो भी महाराष्ट्र के मध्यवित्त लोगों को मद्दे नज़र रखकर किया गया था। अब हमें व्यापक समाज का विचार करना चाहिये। आजकल 'हिन्दू और मुसलमान दो भिन्न भिन्न राष्ट्र हैं' कहने का फैशन सा चल पड़ा है। राजनैतिक दृष्टि से अिससे बड़ा झूठ आजतक कोअी न बोला गया होगा। जातिभेद, धर्मभेद, भाषाभेद, और वंशभेद आदि कितने ही भेद होते हुअे भी संस्कृति तथा राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब अेक ही हैं। अगर कोअी कहे कि दुनिया के सारे मुसलमानों की संस्कृति अेक है, तो वह ग़लत होगा। मार्मडयूक पिक्थाल नाम का अंग्रेज़ मुसलमान है; अुसने कुरान पर काव्य लिखा है। लेकिन यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अुसकी और निज़ाम (हैदराबाद) की संस्कृति अेक है। अुसी तरह चीन के मुसलमानों और भारत के मुसलमानों का धर्म अेक होते हुअे भी यह नहीं कहा जा सकता कि अुनकी संस्कृति अेक है। लंका के बौद्ध और तिब्बत के बौद्ध दोनों बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण जाते हों तो भी संस्कृति की दृष्टि से वे अेक-दूसरे से भिन्न हैं अिस बात को हर कोअी स्वीकार करेगा।

हिन्दुस्तान के अीसाअी और अमरीका के अीसाअी दोनों का धर्म अेक होते हुअे भी दोनों की जीवन-दृष्टि, रहन-सहन तथा विचार-प्रणाली अेक ही तरह की नहीं है। अिसमें शक नहीं कि धर्म की अेकता बड़ी ज़बर्दस्त होती है। यह भी सही है कि अेक समय में वह जीवनव्यापी थी। लेकिन अब अुसकी वह स्थिति नहीं रही है और अिसके बाद तो सारे धर्म भाड़ में जाकर गिरने वाले हैं, बल्कि गिर गये हैं। यह कहना कठिन है कि आगे अनका क्या होगा, लेकिन अितना सही है कि

संस्कृति की अेकता जितनी दृढ़ होगी अुतनी धर्म की न होगी।

मानव जाति ने शुरू के जमाने में कुटुम्बों तथा गोत्रों से प्रारंभ किया, बाद में अपने छोटे-छोटे दल बनाये। जातियाँ और जमातें पैदा कीं, लेकिन 'वसुधैव कुटुंबकम्' (सारी दुनिया अेक ही कुटुंब की तरह है) के आदेश को सिद्ध करने की हिम्मत कभी न रखी। हिन्दू, पारसी और यहूदी तीनों प्राचीन धर्म वंशनिष्ठ हैं। अिनमें बाहर के लोगों को आत्मसात् करने का खुला मार्ग नहीं है। ये तीन धर्म अगर कहें कि धर्म और राष्ट्र अेक ही हैं, तो वह सही न होने पर भी अेक बार क्षम्य होगा; लेकिन बौद्ध, जैन, अिस्लामी, अीसाअी, आर्यसमाजी या ब्राह्मो धर्म नये-नये अनुयायी प्राप्त करने की अिच्छा रखने वाले धर्म हैं। अुनकी अपनी कोअी अेक ही संस्कृति नहीं है; वह तो सभी संस्कृतियों में हिल-मिल सकते हैं। शक्कर, नमक, अिमली आदि रस अलग अलग वस्तुओं में पड़ने पर अुन्हें अपनी रुचि प्रदान करते हैं। यही हालत अिन धर्मों की है। अीसाअी धर्म के मानी हैं अीसा मसीह का अुपदेश। अीसाअियों की तरह कुछ यहूदियों ने भी अुसे अपने धर्म में ले लिया; औरों ने अुसपर यूनानी तथा रोमन संस्कृतियों की तहें चढ़ायीं। हिन्दुस्तान के अीसाअी जब अीसा मसीह के अुपदेश और अुसके जीवन-नेतृत्व को स्वीकार करते हैं तब अुन्हें यहूदियों के तौरात (Old Testament) या यूनानी दर्शन का स्वीकार करने की जरूरत नहीं है। यहाँ का धर्म ही अुनका असली तौरात है। अुसी में वे येशू का वह अुपदेश मिला लें जो अुनके गले अुतरा हो। वैसा करने से वे हिन्दुस्तानी संस्कृति में भी रह सकते हैं और अीसाअी बनने का सन्तोष भी प्राप्त कर सकते हैं। अैसा तो नहीं है कि जिन्होंने हिन्दू धर्म का त्याग किया हो अुन्हें हिन्दू संस्कृति का भी त्याग करना ही चाहिये। हिन्दू संस्कृति में हिन्दू धर्म के बन्धन नहीं हैं, लेकिन हिन्दू जीवन-दृष्टि तो वायुमंडल की तरह अपना काम करती रहती है।

यहाँ की संस्कृति को पहले हम आर्य संस्कृति कहते थे। वह बड़ी

हुदतर्क-झगड़ालू और विजिगीषु थी। लेकिन अन्त में असे अनुभव हुआ कि विजय के पीछे पड़ने से परस्पर नाश का ही स्वीकार करना पड़ता है। 'जयं वेरं पसवति दुःखं सेते पराजितो' अर्थात् विजय से बैर बढ़ता है, पराजित यानी हारा हुआ व्यक्ति सुख की नींद नहीं सो सकता। वह बदला लेने की तैयारी करता है और युद्ध के पेट से महायुद्ध तथा अति युद्ध जैसी सन्तानें जन्म लेती हैं। और अिस वंश-परंपरा की अन्तिम सन्तान है विनाश तथा सर्वनाश।

वैर या दुश्मनी की कल्पना को जन्म देने पर वह कल्पान्त करके ही विश्राम करती है। अिसीलिये भारतीय युद्ध के अन्त में धर्मराज को कहना पड़ा—जयोऽपि अजयाकरो भगवन् प्रतिभाति मे, अर्थात् 'हे भगवन्! मुझे अैसा लगता है कि हमारी यह विजय बहुत भारी पराजय या हार ही है।' रोमन लोगों से लड़नेवाले सेनापति पिर्हस को भी अैसा ही कहना पड़ा था कि 'अिस तरह की और अेक विजय प्राप्त करूँ तो मेरा सर्वनाश ही होगा।' (अेक लड़ाअी में अुसकी आधी सेना खेत आयी थी।)

भारतीयों ने देखा कि युद्धपरायण क्षात्रधर्म पापी है; क्योंकि वह आत्मघाती है; और अिसलिये अुन्होंने यह तै किया कि साम, दाम, भेद आदि सभी अुपाय कर चुकने के बाद ही आखिरी दंड का अुपाय आजमाकर देखा जाय।

अिस तरह भारतीय युद्ध के बाद बुद्ध और महावीर के ज़माने में आर्य संस्कृति ने हिन्दू संस्कृति का रूप धारण किया। हिन्दू संस्कृति विजिगीषु नहीं बल्कि जिजीविषु है। हम जीयें, सब जीयें, सब सुखी हों, सभी निरामय हों, सबको भद्र बातें मिलें, किसी को भी दुख न हो,— अैसा संकल्प करके आर्य संस्कृति ने हिंसा-विमुख हिन्दू संस्कृति का रूप धारण किया (हिंसया दूयते चित्तं यस्या सौ हिन्दुरीरितः।' अर्थात् हिंसा को देखकर जिसका चित्त दुखता है वह हिन्दू है।)

अपने देश और समाज में आकर स्थान पाये हुअे पारसी, यहूदी,

अिसलामी, अीसाअी, लेनिनी-आदि सभी धर्मों का स्वागत अिस संस्कृति ने किया है। हिन्दुस्तान में अब अेक ही धर्म नहीं रहता है; यहाँ तो सब धर्मों का अेक विश्वकुटुंब बन गया है। अब हिन्दू संस्कृति का संशोधित तथा परिवर्द्धित अेक नया संस्करण तैयार हुआ है। अुसे हम 'हिन्दुस्तानी संस्कृति' कहें। यही संस्कृति अब हिन्दुस्तान भर में प्रधान रूप से रहने वाली है। आज तक अेक दूसरे की तरफ आँखें तरेरकर देखनेवाले धर्म अिसके कृपाछत्र के नीचे कुटुंब की भावना से पास-पास आने वाले हैं और मेल-मिलाप से रहकर सारी दुनिया को 'महत् समन्वय' का रास्ता दिखाने वाले हैं।

—२—

अब सवाल यह है कि अगर हिन्दू संस्कृति ही विरोध-शामक अहिंसा परायण थी, तो फिर अुसका नाम बदल कर अुसे हिन्दुस्तानी संस्कृति कहने का क्या कारण है?

हिन्दू संस्कृति ने विरोध को टाला तो सही, लेकिन वह विरोध का समूल नाश न कर सकी। और अुसकी अिससे भी बड़ी त्रुटि यह है कि अुसने भोलेपन से अपने अन्दर अूच-नीचता की भावना को जारी रखा है। चार भाअी जब अेक साथ रहते हैं और बड़े भाअी की सलाह से सब काम ठीक तरह चलता है तब बड़े भाअी को अैसा लगता है कि वही अुस घर का मालिक है, अुसकी आज्ञा सब भाअियों को माननी चाहिये, वह कहे वहाँ वे बैठें, वह जितना दे अुतना ही वे खावें और वह जैसा तै करे वैसी ही शिक्षा अुनके लड़कों को दी जाय।

न भूलना चाहिये कि यह सब खुशी का सौदा है । मूल में सब भाअी समान हैं । सबका अधिकार समान है । सब के मत से ही घर का काम चलना चाहिये । कोअी किसी की आज्ञा में रहने के लिये बँधा हुआ नहीं है । यह भान सबमें होना चाहिये कि 'अगर हम परिवार को छोड़कर चले गये तो विशाल समाज में हमारा नाश ही होने वाला है अिसलिये हम सबको अेक दिल से और अेकता के साथ रहना चाहिये ।'

हिन्दू संस्कृति ने यह अेक असामाजिक बात की कि वह समाज में अुचनीचता का भाव लायी । भोलेपन से जब तक यह बात चलती रही तभी तक चली । भोजन के समय पंगत में ब्राह्मण अुच्चासन पर बैठें यह बात अगर सबको मंजूर हो, तो ही वह चल सकेगी, लेकिन दूसरी जातियाँ अिस तरह की जुल्म-ज़बर्दस्ती के सामने क्यों झुकें ? अिसलिये पंगत में बैठना ही छोड़ दिया जाय या फिर जो जहाँ चाहे वहाँ अुसे बैठने दिया जाय । अुच्च-नीचता की भावना सब की भोलीभाली सम्मति से टिक सकती है या फिर ज़बर्दस्ती से अुसे लादा जा सकता है । जहाँ ज्ञान आया, अहिंसा आयी, और न्याय आया वहाँ समता की प्रस्थापना होनी ही चाहिये ।

कहते हैं कि फलाँ समाज को अस्पृश्य ही रखा जायगा ।

क्यों भअी ? अुसने किसका क्या नुक़सान किया है ? और अगर वह अस्पृश्य के तौर पर रहने के लिये तैयार न हो तो ? आपके पास संख्या और सत्ता है अिसीलिये आप अपना मत अुसपर ज़बर्दस्ती लादेंगे न ? वह भी कहेगा कि 'देख लेंगे; जुल्म-ज्यादती का प्रतिकार करने में ही पौरुष है । प्रतिकार करते करते मर जायेंगे, मगर जुल्म को बर्दाश्त न करेंगे ।' अैसा कहकर अगर अछूत लोग खम ठोंककर खड़े हो जायँ तो समाज-व्यवस्था की क्या प्रतिष्ठा रहेगी ? घर में रहते समय छोटा कहकर जिसके कान हम पकड़ते हैं वह अगर घरसे बाहर जाने लगे तो अुसी के पैर पकड़कर अगर हम अुसे घर में रख सकें त

परिवार की शान रहेगी।

हिन्दू संस्कृति ने अुच्चनीचता के भाव को बढ़ाकर अुसे अस्पृश्यता तक पहुँचाया। अस्पृश्यता, अुच्चनीच भाव और बहिष्कार अिन सामाजिक शास्त्रों का प्रयोग आत्मघातीपन से करके हिन्दू संस्कृति ने अपनी कल्याण-बुद्धि का दिवाला निकाला। अब अुस हालत को सुधारकर हिन्दुस्तान की संस्कृति में पले-बढ़े सभी लोगों की अेकता का सवाल जल्दी से हाथ में लिया जाना चाहिये। सारा समाज अेक जीव, अेक प्राण, अेक हृदय, अेक मन और अेक शरीर हो अिसके लिये अब जीजान से कोशिश करनी चाहिये। घर में आग लगने पर जिस लगन और तेज़ी के साथ हम दमकल चलाते हैं अुसी वेग तथा निर्धार के साथ अब हमें समतामूलक सर्वसमन्वयकारी हिन्दुस्तानी संस्कृति की प्रस्थापना करनी है। नोआखली और बिहार में जो दुष्ट सपने देखे गये अुसके बाद अगर हम तुरन्त न जागे तो विनाश बहुत दूर नहीं है। सर्वसमन्वय ही अिस क्षण और इस युग का अुद्घोष है—समतामूलक सर्वस्वीकारी समन्वय।

—३—

राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से हम अेक हैं, कहनेवाली जनता अगर सामाजिक बातों में समाज के टुकड़े करने लगे तो अुससे काम न चलेगा। भिन्न-भिन्न जातियाँ और भिन्न-भिन्न प्रान्त अगर अितने अलग हो गये कि जीवन-व्यवहार में कभी किसी का किसी के साथ सम्बन्ध ही न आ सके, तो यह कैसे माना जाय कि अुन सब जातियों से मिलकर अेक समाज बनता है? जिन लोगों की यह हालत हो कि वे अेक साथ बैठकर खाना खाते हैं अुनसे अगर कहें कि 'तुम अेक-समाज नहीं हो' तो हम अुसे क्या जवाब देंगे? क्या हमारी अेकता सिर्फ अितनी ही है कि, हमारे बीमारों और पागलों के अस्पताल अेक हैं, हमें गुलामी में रखनेवाले मालिक अेक हैं, इन सब का अपमान अेक है, अेक

ही मौत हम सब के नसीब में बदी है।' मृत्यु के बाद के हमारे स्मशान भी अलग अलग हैं, मन्दिर अलग हैं, भोजन की पंगतें अलग, धोती और पगड़ी पहनने के ढङ्ग अलग, और नमस्कार करने की पद्धतियाँ भी अलग हैं। अिस तरह अलगपन के पीछे पागल हो जाने के बाद हमारी संस्कृति और राष्ट्रीयता ही अेक है कहते समय अुस कहने में ज़ोर कहाँ से आये? हमारे ऋषियों ने यह आविष्कार किया कि विविधता में अेकता अनुस्यूत (पिरोयी हुअी) होना अिस विश्व का रहस्य है और अुन्होंने यह आदेश दिया कि विभक्त में से अविभक्त को ही खोज निकालो तथा अुससे चिमटे रहो। लेकिन हमने तो जहाँ तक हो सका, अेकता को गौण बनाया और भेदों को बढ़ाते गये। सारा राष्ट्र, सारी संस्कृति और सनातन काल से चला आया हमारा धर्म छिन्न-भिन्न होने आया है फिर भी भेदों को बढ़ाने का अपना शौक हम नहीं छोड़ रहे हैं। यह तो मानो हमारा धर्मव्रत ही हो गया है कि थोड़ा भी भेद का तत्व दिखाअी दे तो तुरन्त अुस पर ज़ोर देकर अेकता का गला घोंटा जाय। धर्मभेद तथा जातिभेद मानो काफी नहीं हैं, अिसलिये अब हम प्रांत-भेद और भाषा-भेद को आगे बढ़ा रहे हैं।

प्राथमिक या आदिम स्थिति के समाज का यह स्वभाव ही होता है कि जिसकी जानकारी न हो, जिसका परिचय न हो अुसके बारे में अविश्वास, तिरस्कार और अनास्था रखी जाय। यह तो अेक राजनैतिक सिद्धान्त भी बन गया है कि 'हमारा पड़ौसी हमारा दुश्मन है; अुसकी अुस तरफ का अुसका पड़ौसी हमारे अिस पड़ौसी का दुश्मन होने के कारण हमारा दोस्त है।'

जब कांग्रेस ने राष्ट्रीय अेकता साधकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की कोशिश शुरू की तब भेदनिपुण अंग्रेज़ों के भड़काने से हो या अपने सनातन स्वभावदोष के कारण हो, हमने अेकता और स्वतन्त्रता से डर कर अपनी जाति के संकुचित हितों की रक्षा करा लेने के लिये दौड़धूप शुरू की। किसी को मत-स्वातन्त्र्य चाहिये तो किसी को पानस्वातन्त्र्य।

धर्म, रीतिरिवाज, सीमाअें, पहनावा, भाषा, साहित्य, लिपि—सब कुछ पहले सुरक्षित होने दीजिये। अुसी की फिक्र अुन पर सवार है। हमारे देश में अैसे लोग कुछ कम नहीं हैं जो अैसा पक्का अिरादा कर बैठे हैं कि अूपर बतायी हुअी सभी बातों की सुरक्षितता के बारे में विश्वास होने तक वे हमारे स्वराज्य के आन्दोलन का विरोध करते रहेंगे।

अंग्रेजी साहित्य की बारीकियों से परिचित हमारे शिक्षितों को बँगला या तेलुगु साहित्य की तनिक भी जानकारी नहीं होती। और अिस बात से न किसी को आश्चर्य होता है न बुरा ही लगता है। लगभग सभी हिन्दुओं को अैसा लगता होगा कि अुनके अुनके प्रान्तों तथा जातियों में प्रचलित रीतिरिवाज ही हिन्दू धर्म का सच्चा लक्षण है। तो फिर कअी मार्मिक टीकाकारों ने हमारा जो यह वर्णन किया है कि 'बड़े देश के छोटे लोग! अुदार धर्म के अनुदार प्रतिनिधि! विशाल संस्कृति के संकुचित अनुयायी!' अुसे हम कैसे झूठा कह सकते हैं?

अिसका अुपाय अेक ही है। हमें अलग अलग प्रांतों और जातियों में काफी प्रवास करना चाहिये। लोगों में हिल-मिल जाना चाहिये। आहार में सिर्फ शाकाहार और मांसाहार के भेद का पालन करके किसी के भी घर, किसी के भी साथ और किसी के भी हाथ का पका हुआ खाना खाने में हर्ज न होना चाहिये। अगर मैं शुद्ध शाकाहारी हूँ तो भी मेरे पास बैठकर अगर कोअी गोश्त खावे तो वह मुझसे बर्दाश्त किया जाना चाहिये; अितना ही नहीं बल्कि अुसके साथ बड़ी प्रसन्नता के साथ बातचीत करने की कला भी मुझमें होनी चाहिये। अितनी अुदारता तब तक नहीं आ सकती जब तक हम अपने दिल से अुच्चनीचता की भावना को दूर नहीं कर सकते। कोअी भी किसी जात या धर्म के व्यक्ति से शादी करे तो मुझे अैसा नहीं लगना चाहिये कि अुससे बड़ा घात हुआ है। रहन-सहन के छोटे बड़े भेदों को हज़म करने की शक्ति हममें आ ही जानी चाहिये। पति पत्नी या घरके दूसरे लोगों में से किसी पर भी कोअी ज़ुल्म ज़बरदस्ती न करे। हर अेक की स्वतन्त्रता की रक्षा सब को आदर

पालन करना चाहिये। बाह्य नियन्त्रण जहाँ तक हो सके, कम करने से ही समाज का नैतिक तेज बढ़ता है। आंतरिक प्रेरणा से ही जिन आदर्शों का पालन किया जाता है वे ही समाज के ऊँची सतह तक ले जाते हैं—अिस बात को पहचानकर सदाचार के बन्धन का पालन करने का प्रयत्न हर अेक को करना चाहिये।

हिन्दुस्तान का असली सवाल व्यापक अर्थ में सामाजिक है। हिन्दुस्तान की राजनैतिक कमजोरी अुसके सामाजिक दोषों के कारण ही पैदा हो गयी है। अितनी अेक बात अगर हमारे गले अुतरे तो हम अपने धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक सवाल बात की बात में हल कर सकेंगे। लेकिन सामाजिक प्रश्न के मानी महाराष्ट्र के मध्यवित्त श्रेणी के प्रश्न नहीं बल्कि हिन्दुस्तान में रहनेवाले सब प्रान्तों, सब धर्मों, सब जातियों, सब परिस्थितियों के छोटे-बड़े, नये-पुराने, गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित, पिछड़े हुअे और आगे बढ़े हुअे सभी आबालवृद्ध, स्त्री पुरुषों के जीवनों के सब प्रश्न हैं—अितना व्यापक अर्थ लिया जाना चाहिये।*

३१-१२-४६

---

* मराठी 'सामाजिक प्रश्न' की प्रस्तावना से।